मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली

संपादक
कृष्णदत्त पालीवाल

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-9

खण्ड-1

❑ रंग में भंग ❑ जयद्रथ-वध ❑ पद्य-प्रबन्ध ❑ भारत-भारती

खण्ड-2

❑ पत्रावली ❑ वैतालिक ❑ किसान ❑ पंचवटी ❑ हिन्दू

खण्ड-3

❑ स्वदेश-संगीत ❑ सैरन्ध्री ❑ वकसंहार ❑ शक्ति ❑ वन वैभव ❑ गुरुकुल

खण्ड-4

❑ विकट भट ❑ झंकार ❑ साकेत

खण्ड-5

❑ यशोधरा ❑ द्वापर

खण्ड-6

❑ सिद्धराज ❑ नहुष ❑ कुणाल-गीत ❑ अर्जन औरविसर्जन ❑ विश्व-वेदना
❑ काबा और कर्बला ❑ अजित

खण्ड-7

❑ हिडिम्बा ❑ प्रदक्षिणा ❑ युद्ध ❑ अंजलि और अर्घ्य ❑ पृथिवीपुत्र :
दिवोदास, जयिनी, पृथिवीपुत्र ❑ जय भारत

खण्ड-8

❑ राजा-प्रजा ❑ विष्णुप्रिया ❑ रत्नावली ❑ उच्छ्वास

खण्ड-9

❑ अनघ ❑ चन्द्रहास ❑ तिलोत्तमा ❑ निष्क्रिय प्रतिरोध ❑ विसर्ज्जन
❑ स्वप्न वासदत्ता ❑ प्रतिमा ❑ अभिषेक ❑ अविमारक

खण्ड-10

❑ मेघनाद-वध ❑ वीरांगना ❑ विरहिणी व्रजांगना

खण्ड-11

❑ पलासी का युद्ध ❑ वृत्र-संहार ❑ रुबाइयात उमर खय्याम

खण्ड-12

❑ भूमि-भाग ❑ शकुन्तला ❑ स्वस्ति और संकेत
❑ त्रिपथगा ❑ मुंशी अजमेरी

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-9

सम्पादक

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
फोन : 011-23273167, 23275710
फैक्स : 011-23275710
e-mail : vaniprakashan@gmail.com
website : www.vaniprakashan.com

वाणी प्रकाशन का लोगो
विख्यात चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसेन
की कूची से

ISBN : 978-81-8143-763-1

वितरक :

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
साहित्य सदन
184, तलैया झाँसी
संस्करण : 2008

आवरण : वाणी प्रकाशन
क्वालिटी ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110032
द्वारा मुद्रित

बारह खण्डों का मूल्य
मूल्य : 9000/-

MAITHILISHARAN GUPT GRANTHAWALI-9
Edited by : Dr. Krishandatt Paliwal

निवेदन

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के समग्र साहित्य को एकसूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी के सहृदय-समाज को अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। गुप्त जी लगभग साठ वर्ष तक साहित्य-साधना में निरन्तर समर्पित रहे। वे हिन्दी भाषियों के साथ अहिन्दी भाषियों के सर्वाधिक प्रिय रचनाकार हैं। आज का पाठक उनकी समग्र कृतियों को पढ़ने का अरमान रखता है। मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना पाठक के उसी अरमान को पूरा करने की ओर एक कदम है।

राष्ट्रकवि की गरिमा से दीप्त-प्रदीप्त मैथिलीशरण गुप्त का कृती व्यक्तित्व और उनकी असीम सर्जनात्मक क्षमता किसी भी सुमनस को मोहने और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। उनके सर्जन में हमारी परम्परा के पुरखे बोलते हैं। आधुनिक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन, नवजागरण, सत्याग्रह-युग और नेहरू-युग का विचार-मन्थन गुप्त जी की रचना-दृष्टि के उत्तमांश को सामने लाता है। यह रचना-दृष्टि अपनी व्यापकता और गहराई में समाज के आर-पार देखने की क्षमता रखती थी। इतिहास-पुराण, मिथक, प्रतीक, रूपक उनकी लेखनी का पारस स्पर्श पाकर अपनी जड़ता खो बैठा और साहित्य कालजयी या क्लासिक शक्ति धारण कर लेता है। सच बात तो यह है उनके वैष्णव संस्कारों, विचारों, अभिप्रायों से काल का डमरू ऐसे बजा है कि उसमें से प्रेरणा का नाद फूट रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त की वाचिक परम्परा से प्राप्त प्रतिभा ने हिन्दी के साथ भारतीय साहित्य के एक विशाल लोक-चित्त को प्रेरित एवं प्रभावित किया है। उन्होंने स्वाध्याय से संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, मराठी के साहित्य को रमकर समझा था। वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और अंग्रेजी न जानना उनकी देसी प्रतिभा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन देसी प्रतिभा की ही यह विजय है कि कवि की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर महात्मा गाँधी ने उन्हें 'मैथिली काव्य मान' ग्रन्थ भेंट करते हुए 'राष्ट्रकवि' की उपाधि प्रदान की।

गुप्त जी का कवि कण्ठ ब्रजभाषा में फूटा था। उन्होंने अपने काव्यारम्भ में 'मधुप' और 'रसिकेन्द्र' नाम से कुछ पद्य ब्रजभाषा में लिखे भी। लेकिन शीघ्र ही

वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा प्रभाव शक्ति के कारण खड़ी बोली में कविता करने लगे। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को उँगली पकड़कर पैदल चलना सिखाया और एक दिन इतना परिमार्जित कर दिया कि वह सर्जनात्मक शक्ति से दौड़ने लगी। खड़ी बोली स्वाधीनता आन्दोलन की भाषा रही है—विद्रोह की शक्ति रही है। इस भाषा में प्रान्त नहीं, पूरा देश खुलकर बोला है। यहाँ कहना होगा कि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी काव्य के निर्माता थे और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अविस्मरणीय है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण ने हमारी संस्कृति-सभ्यता के इतिहास और साहित्य में विश्वास का जो स्वर उत्पन्न किया था, उसकी अधिकाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त की सर्जनात्मकता में ही हुई। हिन्दी प्रदेशों के साथ भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का मैथिलीशरण गुप्त ने पचास वर्ष तक नेतृत्व किया। गुप्त जी ने अनुभव किया कि लोक-वेदना और लोक-चिन्ता को वाणी दिये बिना कवि-कर्म का दायित्व पूरा नहीं होता। फलतः वे अपने देश और काल की समस्याओं-चुनौतियों के अनुरूप काव्य-सृजन में पूरे मनोयोग से प्रवृत्त हो गये। उन्होंने हिन्दी कविता को रीतिवाद से मुक्त करते हुए देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद विरोध की दिशा में मोड़कर दम लिया। भारतेन्दु और श्रीधर पाठक के बीज-भाव मैथिलीशरण गुप्त के सर्जन में पल्लवित-पुष्पित हुए। आज भी उनकी स्मृति से प्रेरणा की सुगन्ध आती है।

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य-फलक अत्यन्त व्यापक है। भारतीय साहित्य के अतीत और वर्तमान दोनों पर उनकी दृष्टि रही है। रामायण-महाभारत काल के साथ उनका विशेष रागात्मक सम्बन्ध है। वैदिक युग और बौद्धकाल के कई कथानक उन्होंने उत्साहपूर्वक लिए हैं। राजपूतकाल के प्रति भी उनका आकर्षण कम नहीं है। इधर वर्तमान को तो उन्होंने अपनी युग चेतना और काव्य-संवेदना का केन्द्र बनाया ही है। वर्तमान युग के भी कई चरण उन्होंने देखे थे—बालजीवन उनका सांस्कृतिक नवजागरण काल में बीता, यौवन जागरण सुधार-आन्दोलनों के युग में, प्रौढ़ावस्था गाँधी जी के सत्याग्रह-युग में और जीवन का चौथा चरण स्वतन्त्र भारत के नेहरू-युग में। जीवन के सभी सांस्कृतिक-राजनीतिक पहलुओं का उनके काव्य में विस्तार से चित्रण है।

गुप्त जी गाँधी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। गाँधी युग की प्रायः समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ—अंग्रेजी शासन के अत्याचार और उनके विरुद्ध संघर्ष, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा-आन्दोलन, किसान-मजदूर आन्दोलन, जेल जीवन, स्वतन्त्रता का उल्लास, विभाजन की विभीषिका, गाँधी जी की हत्या, संसद की गतिविधि, महँगाई की समस्या, चीन का आक्रमण, राजभाषा का प्रश्न, दलित-समस्या, उपेक्षिताओं के उद्धार की समस्या, नारी अस्मिता के खौलते प्रश्न, अशिक्षा की समस्या, पाश्चात्य सम्पर्क के शुभ-अशुभ प्रभाव, पारिवारिक जीवन-विधान में होनेवाले परिवर्तन,

ग्राम्य-जीवन का चित्रण आदि। अद्‌भुत बात यह है कि उनमें प्रगति और परम्परा, आधुनिकता और समसामयिकता, इतिहास और संस्कृति, परिवर्तन और निरन्तरता दोनों का सन्तुलित योग है। युगबोध की दृष्टि से अपने समकालीन साहित्यकारों में वे प्रेमचन्द के समकक्ष खड़े हैं।

उनमें लोक-जीवन, लोक-संवेदना और लोक-चेतना के कारण शुद्ध आभिजात्यवादी तत्त्वों के प्रति आग्रह न था। यह कवि आरम्भ से अन्त तक लोक-मंगलमूलक काव्य-कला, नाट्यकला, अनुवाद-कला आदि की साधना करता रहा। कवि के अपने शब्दों में, 'अर्पित हो मेरा मनुज काय/बहुजन हिताय बहुजन हिताय'। अतः उनकी काव्य-साधना का उद्देश्य है—लोक-कल्याण। आज हम क्या हो गये हैं? इसी क्या का उत्तर देने के लिए उन्होंने समस्त राष्ट्र का आह्वान किया था। वर्तमान का संशोधन करने के लिए यह जानना भी आवश्यक था कि अतीत में हम कौन थे और भविष्य में क्या होंगे? इस प्रकार उनके विचार का केन्द्र है वर्तमान। वे अतीतोपजीवी रचनाकार नहीं हैं। गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं और न व्यापक अर्थों में उन्हें सौन्दर्य का कवि कहा जा सकता है। मूलतः वे मानव-रागों, मानव-सम्बन्धों के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, तुलसी, भारतेन्दु की परम्परा का रचनाकार कहा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त परम्परागत अर्थ में आस्तिक हैं—वैष्णव हैं। राम के रूप में ईश्वर के प्रति उनकी अविचल आस्था है। इस तरह उनका मानववाद वैष्णव मानववाद ही है। इस वैष्णव मानववाद में सभी को (हिन्दू, शैव, शाक्त, सिख, मुसलमान, ईसाई सभी) जगह है। वे मुहम्मद साहब पर 'काबा-कर्बला' लिखते हैं, सिख-गुरुओं पर 'गुरुकुल' तथा कार्ल मार्क्स की पत्नी 'जयिनी' पर कविता। कहना होगा कि उनके सृजन-चिन्तन में पश्चिमवाद का 'अदर' या 'अन्य' नहीं है। भारतीय लोक मानस का आस्तिक समाजवाद उनकी 'भारतीयता' है। मैथिलीशरण गुप्त जी की इन्हीं मानववादी प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनाई गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये बारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड—काव्य
2. दूसरा खण्ड—काव्य
3. तीसरा खण्ड—काव्य
4. चौथा खण्ड—काव्य
5. पाँचवाँ खण्ड—काव्य
6. छठवाँ खण्ड—काव्य
7. सातवाँ खण्ड—काव्य
8. आठवाँ खण्ड—काव्य

9. नवाँ खण्ड–मौलिक एवं अनूदित नाटक
10. दसवाँ खण्ड–बांग्ला अनुवाद
11. ग्यारहवाँ खण्ड–अनुवाद
12. बारहवाँ खण्ड–विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है। किन्तु इस बात का ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके। समस्त गुप्त परिवार के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। सभी के सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं हो पाता। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद। श्री अरुण माहेश्वरी और वाणी प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और लगन से इस विशाल योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम पाठकों को समर्पित करते हैं। गुप्त जी के रचना-कर्म के 'पाठ' या टेक्स्ट की बहुलार्थकता का इस कार्य से थोड़ा-सा भी विकास सम्भव हुआ तो अपने को कृतकार्य मानूँगा।

–कृष्णदत्त पालीवाल

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

प्रतीक्षा–प्रसन्नता में परिवर्तित

प्रकाशकीय

प्रातः स्मरणीय राष्ट्र कवि स्व. मैथिलीशरण गुप्त (दद्दा) की ग्रन्थावली राष्ट्र को समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इसे प्रकाशित कर व श्री सियारामशरण गुप्त (बापू) द्वारा स्थापित 'साहित्य सदन' ने अपना उत्तरदायित्व पूरा किया है।

इस ग्रन्थावली की प्रतीक्षा समस्त हिन्दी जगत को थी। वास्तव में यह ग्रन्थावली राष्ट्र कवि के स्वर्गवास के उपरान्त प्रथम पुण्य तिथि 12 दिसम्बर, 1965 को प्रकाशित हो जानी चाहिए थी। किन्तु गुप्त परिवार के आपसी मतभेद के कारण यह पुण्य कार्य समय पर न हो सका।

राष्ट्र कवि का जन्म 3 अगस्त, 1886 को चिरगाँव में हुआ और स्वर्गवास 12 दिसम्बर, 1964 को, इस प्रकार 79 वर्ष तक निरन्तर साहित्य साधना करते हुए हिन्दी साहित्य के प्रखर नक्षत्र माँ भारती के विशद् पुत्र, कालजयी कवि ने लगभग 60 पुस्तकों की रचना की, अन्तिम समय में भी राष्ट्रकवि की शैय्या पर कविता की निम्न पंक्तियाँ लिखी प्राप्त हुई–

प्राण न पागल हो तुम यों
पृथ्वी पर है वह प्रेम कहाँ
मोहमयी छलना भर है
भटको न अहो अब और यहाँ
ऊपर को निरखो अब तो,
बस मिलता है चिरमेल वहाँ
स्वर्ग वही, अपवर्ग वही
सुख सर्ग वही निज वर्ग जहाँ।

राष्ट्र कवि की महत्त्वपूर्ण ग्रन्थावली के प्रकाशन में विलम्ब हुआ है उसको स्पष्ट करना हमारे गुप्त परिवार की प्रतिष्ठा के लिए श्रेयस्कर नहीं है हम स्वयं भी

गुप्त परिवार के अंग हैं क्योंकि 'साहित्य सदन' की स्थापना स्वयं दद्दा ने की थी उनके प्रति हमारी श्रद्धा, आदर और भक्ति आज भी है और सदैव बनी रहेगी, उनके उत्तराधिकारी हमारे आदरणीय हैं उनके प्रति भी हमारी भावना श्रद्धा की है।

इस ग्रन्थावली में जो सामग्री संकलित की गई है वह प्रकाशित पुस्तकों की है जिनका कॉपीराइट विधिवत् (पूज्य दद्दा एवं उनके उत्तराधिकारी सहित परिवारियों द्वारा हस्ताक्षरित कारोबारी फर्म विघटन पत्र दिन. 27.03.1960 के अनुसार) 'साहित्य सदन' 184 तलैया-झाँसी के पास निर्विवाद रूप से सुरक्षित है जिसे न्यायालय ने भी स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में 'साहित्य सदन' झाँसी द्वारा इसका प्रकाशन विधि-सम्मत है इसमें दो राय नहीं।

ग्रन्थावली हिन्दी के शोधकर्त्ताओं, साहित्यकारों, एवं जिज्ञासु पाठकों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं संग्रहणीय है इसके माध्यम से राष्ट्रकवि की सभी प्रकाशित रचनाएँ उपलब्ध हो सकेंगी। ग्रन्थावली के सम्पादक डॉ. कृष्णदत्त पाली ने समस्त सामग्री को 12 खण्डों में (लगभग 5500 पृष्ठ) में विषयानुसार विभाजित कर अत्यन्त सुलभ और उपयोगी बना दिया है। हम यह अधिकारपूर्वक नहीं कहते कि ग्रन्थावली राष्ट्रकवि का पूर्ण रचना संसार है। निश्चय ही कुछ अप्रकाशित सामग्री, चित्र, पत्रादि परिवारियों, साहित्यकारों और स्नेही विद्वानों के पास होंगे। हमारा उनसे विनम्र अनुरोध है कि अप्रकाशित सामग्री साहित्य सदन को भेजकर इस महान कार्य में हमें अपना सहयोग देकर आभारी करें हम आगे भी उपलब्ध सामग्री को सम्पादित करा कर अतिशीघ्र प्रकाशित कर इस अभाव को पूरा कर देंगे। जिससे राष्ट्रकवि का समस्त रचना संसार सदैव उपलब्ध रहे।

अन्त में 'वाणी प्रकाशन' दिल्ली के संचालक श्री अरुण माहेश्वरी का सम्बन्ध हमारे लिये महत्वपूर्ण है उन्होंने इस साहित्यिक यज्ञ में इस ग्रन्थ की वितरक के रूप में कमान सँभाली है यह सहयोग अद्वितीय है सदैव स्मरणीय रहेगा।

हम उनका आभार मानते हैं और यह अपेक्षा करते हैं कि 'साहित्य सदन' एवं 'सेतु प्रकाशन' झाँसी द्वारा आगामी प्रकाशन योजना में भी उनका मूल्यवान सहयोग हमें मिलेगा। साथ ही जगदीश शर्मा (दिल्ली) एवं प्रमोद कुमार समाधिया (झाँसी) के मूल्यवान परामर्श और सहयोग के प्रति हम कृतज्ञ हैं।

सधन्यवाद।

दिनांक : 1 फरवरी, 2008

—प्रमोद कुमार गुप्त
—आशीष गुप्त
'साहित्य सदन'
184, तलैया-झाँसी
(उत्तर-प्रदेश)

अनुक्रमणिका

मैथिलीशरण गुप्त के नाटक

मैथिलीशरण गुप्त के अप्रकाशित नाटक

मैथिलीशरण गुप्त द्वारा भास रचित नाटकों का अनुवाद

मैथिलीशरण गुप्त के नाटक

- अनघ
- चन्द्रहास
- तिलोत्तमा

अनघ

न तन-सेवा, न मन-सेवा,
न जीवन और धन-सेवा,
मुझे है इष्ट जन-सेवा;
सदा सच्ची भुवन-सेवा।

अनघ

पात्र

पुरुष

मघ : भगवान् बुद्ध का एक साधनावतार
अमोघ : मघ के पिता
शोभन : मुखिया का लड़का
वाचक, सुव्रत, विशेष, विशाल, सुमुख : मघ के साथी
ग्राम-भोजक : मचलग्राम का शासक
सुर : एक उद्धत मतवाला
सूचक : मगध की रानी का गुप्तचर
राजा, सैनिक, साधक, मुखिया, चोर इत्यादि।

स्त्री

सुरभि : मालिन की पालित कन्या
रानी, मघ की माँ, मालिन और ग्राम-भोजक की स्त्री

स्थान : मचलग्राम और मगध देश की राजधानी।

श्रीगणेशाय नमः

अनघ

राम-कृष्ण ने जहाँ आप अवतार लिया है,
आ आकर बहु बार दूर भू-भार किया है।
वहाँ भला क्यों देव दयामय बुद्ध न आते,
जिनके शुद्ध चरित्र आज जातक हैं गाते।
पातक-नाशक चरित वे
हम सबके भव-भय हरें।
आओ, उनका अनुकरण,
अनुशीलन, अभिनय करें॥

अरण्य

मघ

(गान)

विषम विश्व का कोना है;
मेरा जहाँ बिछोना है।

पर मैं सो जाऊँ या जागूँ?
कैसे इसकी तन्द्रा त्यागूँ?
डट जाऊँ या हटकर भागूँ?

यह जगना या सोना है?

विषम विश्व का कोना है॥

बारम्बार ठगाते हैं हम,
पर क्या भूल भगाते हैं हम?
फिर फिर घात लगाते हैं हम;

कैसा जादू टोना है!
विषम विश्व का कोना है॥

इसके हित भी इसमें धँसना,
नहीं आप क्या उलटा फँसना?
है ऊपर ऊपर का हँसना?

भीतर केवल रोना है!
विषम विश्व का कोना है॥

रहे प्रवाह भले ही पैंना,
पर मुझको इसका क्या लेना?
किन्तु कहीं निकला कुछ देना?

तो क्या वह भी खोना है?
विषम विश्व का कोना है॥

वर्तमान ही जहाँ तहाँ है;
भावी का कुछ ध्यान कहाँ है?
देखा जाता यहीं यहाँ है—

मीठा है कि सलोना है!
विषम विश्व का कोना है॥

बदले अपने लाख रंग यह,
छोड़ेगा क्या सहज ढंग यह?
स्वयं स्वप्न है, स्वप्न-संग यह—

छूँछी छाँछ बिलोना है!
विषम विश्व का कोना है॥

पर क्या यह झूठी रटना है?
(ईति-भीति दैवी घटना है।)
उसका वैसा ही कटना है—

जिसका जैसा बोना है।
विषम विश्व का कोना है॥

तो क्या अब भी और डरूँ मैं?
रण में पीछे पैर धरूँ मैं?
बस, अपना कर्त्तव्य करूँ मैं,—

हुआ करे जो होना है।
विषम विश्व का कोना है॥

(इधर-उधर देखकर)

यह हो गयी है रात,
अब शान्ति या संघात?
यह एक काला वस्त्र,
इसमें छिपे सौ शस्त्र।
कोई करेगा त्राण,
कोई हरेगा प्राण।
निज कार्य अब प्रच्छन्न—
देखे प्रकृति अवसन्न।
कुछ सजग हैं, कुछ सुप्त;
सब तिमिर में हैं लुप्त।
जो थी वही है सृष्टि,
पर विफल-सी है दृष्टि।
अहि-रज्जु की है भ्रान्ति,
यह शान्ति है या क्रान्ति?
मानो किसी की राह,—
करके अनिल-मिष आह—
सज तारकों का थाल,

अब देखता है काल!
मैं आ गया किस ओर?
है प्रेत-वन इस ओर।
पर है यही तो स्थान
सबका शरण्य समान।
अरि-मित्र, राजा-रंक,
यह एक सबका अंक।
बाहर रहे विच्छेद,
पर है यहाँ क्या भेद?
शव-सा खड़ा वह कौन?
उन्मुख अचल, अति मौन!
यह साहसी भी दीन,
किस लोभ में है लीन?
बस, शून्य की ही ओर
हैं ताकते श्रम-चोर।
हैं भूमि पर सब रत्न,
पर चाहिए कुछ यत्न।

(पास जाकर)

देखो उधर हे शिष्ट,
बोलो, तुम्हें क्या इष्ट?

जन : भगवन्, प्रणाम, प्रणाम,
है सिद्ध मेरा काम।
मैं पा गया निज लक्ष,
दर्शन हुए प्रत्यक्ष।
मन की तुम्हें सब ज्ञात,
कैसे कहूँ मैं तात!

मघ : जिसको तुम्हें—कुछ सोच—
कहते स्वयं संकोच।
वह इष्ट है कि अनिष्ट,
सोचो तुम्हीं हे शिष्ट!

जन : मैं क्या करूँ यह चित्त
है चाहता बहु वित्त।
चाहूँ प्रभो जो वस्तु,
पाऊँ, कहो बस—अस्तु।

R
0 ८२
पाली-म

मघ : श्रम करो भद्र, यथार्थ;
हैं सुलभ सर्व पदार्थ।

जन : श्रम? देव, अब भी हाय!
मैं श्रम करूँ निरुपाय?

मघ : जब करो आप उपाय
हैं तभी देव सहाय।

जन : तो देव, जो आदेश,
मिट जाएँ मेरे क्लेश।

(पूजन करता है)

मघ : मानो न मुझको देव;
हूँ लोक-सेवक एव।

जन : प्रभु, यों न हो वर-पूर्ति,
यह है मनुज की मूर्ति।
ये वरद बाहु विशाल
रक्षक रहें चिरकाल।

(प्रस्थान)

मघ : कैसे इसे विश्वास—
दूँ मैं कि हूँ जन-दास?
देखूँ, गया किस ओर?

(चलकर)

झाड़ी इधर है घोर,
ऐं आर्तनाद कठोर!

[शीघ्रता से जाता है। चार चोर दिखाई देते हैं। वह जन एक ओर अचेत पड़ा है। सिर पर चोट लगी है, जिससे रुधिर बहता है। पास ही उसकी पूजा की थाली पड़ी है।]

तुम लोग हो क्या चोर?

एक चोर : हाँ, पर मिला क्या माल?
बस, यह रजत का थाल।

मघ : यह जन वही है हाय!
रुधिराक्त, मरणप्राय।
धनहेतु जन-संहार!
यह क्या विषम व्यापार?

दूसरा चोर : करता यही संसार,
पर हैं विभिन्न प्रकार।

जो अबल हैं वे भक्ष्य,
सबका उन्हीं पर लक्ष्य।
हम चार थे, यह एक;
है व्यर्थ करुणोद्रेक।

मघ : तुम क्रूर भी सज्ञान,
निज कर्म पर दो ध्यान।

पहला चोर : क्या कर सकेगा ज्ञान,
बस है स्वभाव प्रधान।

मघ : सोचो, प्रकृति भी पूर्ण
है बदल जाती तूर्ण।
पर यह प्रकृति का चित्र,
तो है विकृति क्या मित्र!
जो है विकृति का भाग,
क्या कठिन उसका त्याग?

तीसरा चोर : कुछ है तुम्हारे पास?

मघ : मत करो यह आयास।

चौथा चोर : क्यों?

मघ : यों—करो तुम वार,—
मैं मघ खड़ा तैयार।

चोर : हम चार को ललकार!
[घेरकर]
तो लो, सँभालो वार!

[चोर चारों ओर से वार करते हैं; परन्तु मघ कौशल से निकलकर बच जाता है। दो चोरों की लाठियाँ एक दूसरे के हाथ पर पड़कर छूट जाती हैं; और वे चोर कराहते हुए बैठ जाते हैं। इतने में मघ झपटकर शेष दोनों चोरों की लाठियाँ छीनकर फेंक देता है। साथ ही दोनों चोरों की गर्दन पकड़कर उन्हें भी नीचे गिरा देता है। फिर एक लाठी उठाकर और उसे उन सबके ऊपर तानकर कहता है,—यह सब बहुत शीघ्र होता है—]

मघ : अब तो हुआ विश्वास,
था व्यर्थ वह आयास?
जो उठा उसका मुण्ड—
—रह जाएगा बस रुण्ड!
तुम किन्तु हो गति-हीन,

मैं हूँ सबल, तुम दीन।
हैं अबल मेरे रक्ष्य,
मानो उन्हें तुम भक्ष्य!
तुम लोभ से हो अन्ध,
लो, यह कनक कटि-बन्ध!
जाओ, सभी उठ हाल,
छूना न कोई थाल।

पहला चोर : मणिबन्ध लें किस भाँति?

मघ : मैं दे रहा जिस भाँति।

चोर : पर क्या हमें अधिकार—
जो हम करें स्वीकार?
लें भीख किंवा दान,
तो है बड़ा अपमान।

मघ : इस लूट में है मान?

चोर : है, क्योंकि इसमें जान!
है वर्ग जिनका सैन्य,
अनुचित उन्हें है दैन्य।

मघ : आः! बन्धु, इतना बोध।
देगा तुम्हें पथ-शोध।
होगा अवश्य सुधार,
समझो इसे उपहार।
मानो न और प्रमाद,
यह आज की है याद।
"है वर्ग जिनका सैन्य,
अनुचित उन्हें है दैन्य"।
यह है उन्हीं की रीति
मेटें अधर्म्म, अनीति।
ठहरो, चलूँ मैं आप;
लेकर तुम्हारा पाप—।
यह जन हुआ म्रियमाण,
भरसक करूँ मैं त्राण।
अवसर नहीं अब और,
जल है कहीं इस ठौर?

चोर : होता यहाँ यदि नीर

तो कृषि न होती वीर!
हैं जीर्ण बस, वे स्तूप;

मघ : तो मैं खनूँगा कूप।
मेरा वही व्यायाम,
जिससे कि हो कुछ काम।
[मूर्च्छित जन को सावधानी से उठाकर मघ का प्रस्थान]

तीसरा चोर : टूटा हहा! यह हाथ!

चौथा चोर : मेरा उसी के साथ!

तीसरा : (पहले से)
अरि जा रहा है, मार;

चौथा : कर झपट पीछे वार।

पहला : पर मैं गया हूँ हार।

दूसरा : यह चिह्न है उपहार।

पहला : तो अब किया क्या जाय;

दूसरा : सोचें चलो सदुपाय।

चौपाल

[मुखिया और कुछ मनुष्य]

मुखिया : अजी, यह मघ है अच्छा सनकी,
जिसे तन की सुध है न बदन की।
गाँव भर के सुधार का सारा,
लिए बैठा है आप इजारा।
न करके उन्नति अपने घर की,
फिक्र करता है वह बाहर की।

एक : मरम्मत कभी कुओं-घाटों की,
सफाई कभी हाट-बाटों की,—
आप अपने हाथों करता है;
गन्दगी से भी कब डरता है!
डराता है फिर भी औरों को;
तनिक देखो इसके तौरों को।

दूसरा : बालकों को वह फुसलाता है,
कमल जल में घुस-घुस लाता है।

और कहता है लो, ऐसे हो,
सहन यह वृद्धों को कैसे हो?
साधुता सबमें ही आ जावे,
गृहस्थी कहाँ ठौर फिर पावे?

तीसरा : आ रहा था मैं अभी उधर से,
निकलकर एक बधू निज घर से,
फेंकने लगी राह में कूड़ा,
वहाँ था मानो कोई घूड़ा!
पड़ोसिन ने जो उसको रोका,
कहा तो उसने खाकर झोका—।
कि जीता है तेरा मघ जौलों
तुझे क्या इसकी चिन्ता तौलों?
इसी पर होने लगी लड़ाई,

चौथा : यही है उसकी बड़ी-बड़ाई।
इसी को यदि सुधार हम मानें,
कहो, किसको बिगाड़ फिर जानें?

मुखिया : अजी, वह समदर्शी बनता है,
उच्च हो नीचों में सनता है।
यही तो सदाचार है उसका,
जाति पर कहाँ प्यार है उसका?

पहला : जाति भी फिर क्यों उसको मानें?
करे जो कुछ वह जी में ठानें।

मुखिया : नहीं, यह कैसे हो सकता है?
न जानें वह क्या-क्या बकता है?
नित्य ही सन्ध्या को उपवन में,
सुरभि-परिपूरित शुद्ध पवन में,
उड़ाया करता है वह बातें;
कौन समझेगा उसकी घातें?
न रोकोगे विचार यदि ऐसे,
रहेगी मर्यादा फिर कैसे?

चौथा : किन्तु हैं मनुज मात्र सम जिसको,
द्विजों से शूद्र नहीं कम जिसको,
तुला जो आप तुच्छता पर है,
उसे क्या जाति-पाँति का डर है?

मुखिया : राज-भय तो उसको भी होगा,
जायगा जो न सहज ही भोगा।
भूल जावेंगे भाषण सारे,
ग्राम-भोजक हैं साथ हमारे।

तीसरा : किन्तु यह मेरी राय नहीं है,
क्योंकि यह उचित उपाय नहीं है!
मत स्वातन्त्र्य न छिने किसी का,
नाम है न्याय-विधान इसी का।
यहाँ शासन का हाथ नहीं है,
दमन में मेरा साथ नहीं है।
देखकर दीप किसी के द्वारे,
चमकते हैं यदि नेत्र हमारे;
इसे हम हटकर क्यों न सुझा दें;
किन्तु यह उचित नहीं कि बुझा दें।
गन्ध है भिन्न-भिन्न सुमनों का,
भाव है यों ही मनुज-मनों का।
सुहावेगा जो गन्ध न तुमको,
मिटा दोगे क्या उसके द्रुम को?

मुखिया : शास्त्र यह अपना तुम रहने दो;
मुझे भी तो अब कुछ कहने दो।
नियम कब कब कितने पलते हैं?
काम यों ही जग के चलते हैं।
मौन हो तेजोधन, क्यों? बोलो,
व्यवस्था सोचो, विधि-निधि, खोलो।

पहला : कैफियत उससे माँगी जावे—
और वह कर्मों का फल पावे।

चौथा : आ रहा लो, वह आप इधर है,
दुपहरी में चल पड़ा किधर है?
[मघ मार्ग से जाता हुआ प्रवेश करता है]

तीसरा : कहें हम चाहे जो कुछ, फिर भी,
मूर्ति है इसकी शान्त, रुचिर भी।
शिरोपरि चिकुर-जाल शोभन है,—
सुधा-मधु-चक्र लोक-लोभन है।
मुकुरता देखो तो इस मुख की—

पड़ी है छाया-सी पर-दुख की!
शुष्क आभा ही नहीं दृगों में,
सरसता इतनी कहाँ मृगों में?
प्रकृति में क्या ही भोलापन है?
आर्द्र उर में ज्यों ओलापन है।
गौर तनु-कान्ति, सौम्य, शुभरुचि है;
सहज ही दीख रहा यह शुचि है।
हाथ हैं लम्बे-लम्बे कैसे,
सुलभ हैं ऊँचे फल भी जैसे!
धीर-गति त्रिविध पवन तकता है,
ताप तलवे भी छू सकता है?

मुखिया : तभी तो जाना जाता वक है,
साधुता भी तो सीमा तक है।
अजी मघ सुनो, कहाँ जाते हो?
निकल तुम ऐसे में आते हो,
साहसी और सहिष्णु बड़े हो,
बद्ध-कटि देखो जहाँ खड़े हो।
किन्तु यह तप की दोपहरी है,
प्रकृति मानो गूँगी बहरी है।
जिधर देखो, झाँ झाँ, भाँ भाँ है,
सुनाई पड़ती बस साँ साँ है,
विचारो यह विश्राम-समय है;
धूप का भी न तुम्हें कुछ भय है?

मघ : तात, भय तो है छाया में भी;
व्याधियाँ हैं इस काया में भी।
और विश्राम? समय को कब है?
पवन भी बहता देखो जब है।

तीसरा : किन्तु तुम तो न समय, न पवन हो,
मृदुल मानव हो, जीवित जन हो।

मघ : स्वयं मैं नहीं जानता क्या हूँ?
मानता आत्मा की आज्ञा हूँ।
समय-भागी हूँ, नहीं समय हूँ,
नहीं मारुत, पर मारुत-मय हूँ।
नहीं मैं तत्व, तत्व मुझमें हैं,

कि उनके सभी सत्व मुझमें हैं,
हमीं छोटे हैं, हमीं बड़े हैं।
हमीं कोमल हैं, हमीं कड़े हैं,
कभी खोटे हैं, कभी खरे हैं,
अभी जीते हैं, अभी मरे हैं।
चाहता हूँ कि मनुष्य रहूँ मैं,
और अपने को वही कहूँ मैं।
बनूँ बस मनुष्यता का मानी,
यही हो मेरी एक निशानी।
प्रकृति है गीली मिट्टी ऐसी,
पका लो गढ़कर चाहे जैसी।
धूप से तरु भी तो जलते हैं,
पथिक ऐसे में भी चलते हैं।
न जावे प्यासी उनकी टोली,
इसी से पथ पर प्याऊ खोली।
देखने उसको ही जाता हूँ,
रोगियों से मिलता आता हूँ।
देर हो गयी, खिन्न माँ होगी,
किन्तु बच गया रात का रोगी।
बहुत मधु उसने पान किया था,
अर्थ दे आप अनर्थ लिया था।

मुखिया : किन्तु तुमने भी नशा पिया है,
अभी तक भोजन नहीं किया है!
क्षुधित माँ घर में क्षुब्ध खड़ी है,
और बाहर की तुम्हें पड़ी है।

मघ : तात! मैं अभी-अभी आता हूँ,
खिलाकर साथ उसे खाता हूँ।
आप सबका अनुशासन सुन लूँ,
सुमन-सम उसको मन में चुन लूँ।

मुखिया : यही कहना है हमको भाई,
कि तुमने अच्छी कीर्ति कमाई।
किन्तु नीचों को सिर न चढ़ाना,
न सामाजिक विद्रोह बढ़ाना!

मघ : जहाँ कुछ भी समाज का हित हो,

वहीं यह मेरा तनु अर्पित हो।
[नमस्कार करके प्रस्थान]
मुखिया : लक्ष्य अब इस पर रखना होगा,
नहीं तो हमें बिलखना होगा!

मघ का घर

द्वार पर मघ की माँ
कौन धूप की बात कहे,
लूह लपट की घात रहे;
जो निज श्वास निकलते हैं,
अंग उन्हीं से जलते हैं।
हा! फिर भी मघ बाहर है,
उसे न मेरा भी डर है!
खान-पान का ध्यान नहीं,
निज तनु तक का ज्ञान नहीं।
जिनके हित वह मरता है,
जिनकी सेवा करता है,
वे ही उस पर क्रोध करें!
विस्मय है कि विरोध करें!
ईश्वर को भी जो न डरे,
हितुओं की ही हँसी करे,
वह कृतघ्न संसार हरे!
कैसे उबरे और तरे?
किन्तु हाय! मेरा बच्चा,
है कितना सीधा-सच्चा।
सब पर प्रत्यय रखता है,
स्वयं प्रेम-रस चखता है।
व्यापे काल न भूल उसे;
कर्म रहे अनुकूल उसे।
दैव उसे देखे-भाले,
मैंने जना प्रकृति पाले।
जो जन आते-जाते हैं,
वे भी नहीं बताते हैं;

कि वह दिखाई दिया कहीं;
सेवक भी तो फिरा नहीं।
आह! आ गया, वह आया;
स्वेद अरुण मुख पर छाया।
वहाँ रजःकण रह न सके,
पर बालों के बह न सके।
मानो मधुप पराग-सने,
उस अम्बुज के रसिक बने—
जिसका कोष खुला रवि से,—
शोभित हिम-मौक्तिक छबि से!
श्रम सन्तप्त मूर्ति इसकी
(स्वयं सिद्धि शुचिता जिसकी)
सह्य नहीं मुझको ऐसी,
उष्ण हेम-मुद्रा जैसी!
अच्छा, आज समझ लूँगी,
अब न कहीं जाने दूँगी।
अनुनय-विनय व्यर्थ है सब,
भुला सकेगा मुझे न अब।

मघ : आह! क्षमा कर अम्ब, मुझे;
हुआ विशेष विलम्ब मुझे।
मेरे बिना न खाने का—
हठ क्यों कष्ट उठाने का?

माँ : कष्ट? अबोध बताऊँ क्या?
जी की बात जताऊँ क्या?
तू माँ नहीं कि जान सके,
माँ का मन पहचान सके।
हैं निश्चिन्त पिता तेरे,
सुनते नहीं वचन मेरे।
वे बन्धन-से तोड़ रहे,
तुझे तुझी पर छोड़ रहे।
क्या मैं भी न तुझे देखूँ?
भावी को सब कुछ लेखूँ?
होगी जब सन्तान तुझे
तब होगा कुछ ज्ञान तुझे।

अब तेरी न सुनूँगी मैं,
कन्या-कुसुम चुनूँगी मैं।
किसी सुशीला बाला से,
फूलों की-सी माला से।
तुझे बाँधकर रक्खूँगी;
तब जीवन-फल चक्खूँगी।
देखूँ फिर क्या करता है?
कितना कहाँ विचरता है?
किन झगड़ों में फँसता है?
हट, पागल तू हँसता है!
क्या मैं यों ही बकती हूँ?
तेरे मारे थकती हूँ।

मघ : देख कल्पना-मग्न तुझे,
अम्ब, आ गयी हँसी मुझे।
बन्धन बड़ा निराला है,
वह फूलों की माला है!
तुझे तोड़ना भी न पड़े,
स्वयं झड़े जो और सड़े!

माँ : बेटा, ऐसी बात नहीं;
तुझे स्नेह-गुण ज्ञात नहीं।
देखेगा तब जानेगा,
जानेगा तब मानेगा।
चुम्बक जहाँ देख पाता—
लोहा तक है खिंच आता।

मघ : पर तू मुझको पालेगी,
या बन्धन में डालेगी?

माँ : बन्धन? वे स्वाभाविक हैं;
भव-नौका के नाविक हैं।
लोक लोक-बन्धन खोता,
तो वह उच्छृंखल होता।
मेरा निश्चित मत है यह;
बस अब चुप रह, कुछ मत कह।
शुद्ध सरल विश्वासों पर,
छोड़ न तर्कों के खर-शर।

वाद वस्तुतः बाधक है,
कब इतना भी साधक है,—
कि तू अमुक जन का सुत है।
तर्क सदा संशय-युत है!
चल, अब स्वेद-सलिल सूखा,
आज रहेगा क्या भूखा?

मघ : भूखा ही रह जाऊँगा,
सचमुच आज न खाऊँगा।
तू क्यों भूखी रहती है?
हठ करके दुख सहती है।

माँ : सो तू भी हठ करता है?
मुझ पर भूखों मरता है?

मघ : क्या कहना है माँ, इसका?
आखिर बेटा हूँ किसका?
यदि तू भोजन कर लेती,
और मुझे भी रख देती,
तो क्या अभी न खाता मैं;
या न आज घर आता मैं?

माँ : क्या जाने कुछ ठीक नहीं,
पर यह बात अलीक नहीं।
जब तक खिला न लूँ तुझको,
भूख नहीं लगती मुझको।

मघ : अच्छा, एक युक्ति सुन तू,
जो मैं कहता हूँ गुन तू।
मोदकादि झोली में भर,
प्रति दिन मुझे दे दिया कर।
साथ उन्हें मैं रक्खूँगा;
जहाँ रहूँगा, चक्खूँगा।

माँ : चक्खेगा कि चखावेगा?
अब तू भुला न पावेगा।
पर यह तो कुछ बुरा नहीं,
खावे तू भी साथ कहीं।

मघ : नहीं जननि, मैं खाऊँगा;
और परम सुख पाऊँगा।

जो सहकारी हों मेरे,
वे भी पोष्य बनें तेरे।

माँ : अच्छा, चल अब कुछ खा-पी;

(चौंककर)

अरे, कौन है यह पापी?
जियो, मनुष्यो, जियो, जियो;
सुर बन जाओ, सुरा पियो!

मघ : हा! मतवाले हो होकर,
सारी सुधबुध खो खोकर,
मनुज दनुज-से फिरते हैं,
निज गौरव से गिरते हैं।
मातः! मान वचन मेरे,
पैरों पड़ता हूँ तेरे।
तू खा, मैं फिर खा लूँगा;
प्रथम धर्म निज पालूँगा।
उलटा हुआ ज्ञान जिसका
भार हमीं पर है उसका।
जाऊँ, उसे सँभालूँ मैं,
जन-सेवा-व्रत पालूँ मैं।
खींच रहा कर्त्तव्य मुझे,
माँ क्या हठ है उचित तुझे?

माँ : आह दीनता यह तेरी
विश्व-प्रियता की प्रेरी
करती है लाचार मुझे;
कैसे रोकूँ और तुझे?
तेरे भरे आँसुओं पर
वारूँ मैं मुक्ता भर-भर।
जा, जी में कुछ सोच न कर,
तू मेरा संकोच न कर;
दे सन्तोष सदय मन को,
किन्तु सँभाले रह तन को।

(नेपथ्य में)

जियो, मनुष्यो जियो, जियो,
सुर बन जाओ, सुरा पियो!

मघ : भाई, मनुष्यत्व देकर
क्या होगा कुछ भी लेकर?
अपना मनुष्यत्व खोना
है बस प्रेत मात्र होना!

(प्रस्थान)

(नेपथ्य में)

क्यों रे, मैं हूँ प्रेत? भला,
छुड़ा सकेगा तू न गला।
यदि न आज तुझको मारूँ।
तो सुर नाम न मैं धारूँ।

माँ : हा! क्या होने वाला है?
यह उद्धत मतवाला है।
चलूँ, न पापी गला धरे,
दैव भले का भला करे।

उद्यान

सुरभि : (गान)

उनको पाकर किस पुण्य कार्य ने
नये प्राण-से पाये?
आ पहुँचा समय, परन्तु समय के
साथी आज न आये!
यह सन्ध्यातप का सहज सुनहला
मुकुट बाँध वृक्षाली,
पथ देख रही है खड़ी सजाये
फल-फूलों की डाली।
अम्बर की लाली पकड़ रही है
धरती की हरियाली;
संवाद ले रहा पवन कि अब तक
कहाँ रहे वनमाली?
लो, मेरे आगे अन्धकार ने
अब ये पैर जमाये।
आ पहुँचा समय, परन्तु समय के
साथी आज न आये!

निकलो तो है निश्वास, वायु में
धीरे से मिल जाओ,
तुम उनके अंग न छुओ, ढंग से
चरण-धूलि ले आओ।
हे भाव-भृंग हत्कंज-कोष में
ही तुम रोओ-गाओ;
उनके गौरव की और न निज
लघुता की हँसी कराओ।
रक्खो मन में ही उन्हें कि जो हैं
मोद-रूप मन भाये।
आ पहुँचा समय, परन्तु समय के
साथी आज न आये!
जिसको वे चाहें प्राण, उसी में
मिलकर उनको चाहो;
अपने को इसी प्रकार जगत में
किसी प्रकार निबाहो।
तुम छोड़ जल्पना, मौन-कल्पना—
मानस में अवगाहो;
उनकी मधुरस्मृति मिली, इसी को
अपना भाग्य सराहो।
इतना समझाया तदपि हाय! तुम
नयन, नीर भर लाये।
आ पहुँचा समय, परन्तु समय के।
साथी आज न आये!

जाऊँ तो उनके यहाँ आप मैं जाऊँ,
उनकी माँ को फल-फूल भेंटकर आऊँ।
उनके दर्शन भी वहाँ कदाचित् पाऊँ,
उस शान्त रूप को देख अशान्ति मिटाऊँ।
चलती तो हूँ पर नेत्र, न लज्जा करना,
हो जावेगा अन्यथा आप ही मरना!
तुम बने जहाँ मुँह-चोर, पकड़ जाऊँगी;
निज मकड़-जाल में आप जकड़ जाऊँगी!

रख लेना मेरी लाज आज तुम अड़कर,
गड़ जाना कहीं न आप लाज में पड़कर।
विश्वास तुम्हारा नहीं, न जाऊँगी मैं;
मन के भेदी तुम, तुम्हें दबाऊँगी मैं।
संयम ही उनके उच्च हृदय का बल है;
पर-हित ही उनके प्रेम-विजय का फल है।
त्यागव्रत ही विश्वस्त वर्म है उनका;
निष्काम कर्म ही परम धर्म है उनका।
मैं तुच्छ, किन्तु आश्वास बड़ा है उनका,
सब सहने का अभ्यास पड़ा है उनका।
वे ऊँच-नीच का भेद नहीं कुछ रखते,
हैं मनुज मात्र को एक समान निरखते।
ओ तू मेरी आसक्ति, भक्ति हो उनकी,
इस तुच्छ देह में प्राणशक्ति हो उनकी।
सुन-सुनकर सायंकाल उन्हीं की बातें,
गुन-गुनकर बहुधा बिता चुकी मैं रातें।
मन, डिगा न मुझको मैं न वहाँ जाऊँगी;
चाहूँगी उनको जहाँ वहाँ पाऊँगी।
मैं नहीं टलूँगी, नहीं टलूँगी, सुन तू,
ले बैठ गयी हूँ, उठा, लाख सिर धुन तू!
उनका यह आसन आज पड़ा है सूना,
पर झलक रहा वह रूप दृष्टि में दूना!
इन फूलों के ही संग प्रेम का प्रेरा
उनके चरणों पर चढ़े सभी कुछ मेरा।

(फूल चढ़ाकर प्रणाम करना)

(मालिन का प्रवेश)

मालिन : ओ सुरभि, अनघ मघ आज नहीं आवेंगे,
उनके साथी भी समय नहीं पावेंगे।
आ जा, यदि उनके यहाँ तुझे चलना है,—
उनकी माँ पर यह ताल-वृन्त झलना है।
ले ले थोड़े फल-फूल, देर मत कर तू,
लौटेगी मेरे साथ रात तक घर तू।

सुरभि : **(आप ही आप)**
मैं नहीं टलूँगी, नहीं टलूँगी जा तू,
कै बार कहूँ, सिर हाय! न मेरा खा तू।

मालिन : बेटी, तू पागल हुई जान पड़ती है,
मैंने तुझसे क्या कहा कि जो लड़ती है?
तू बड़े ध्यान से ज्ञान सुना करती है,
मन-ही-मन कुछ दिन-रात गुना करती है।
तेरा माथा फिर गया अन्त में ऐसे,
हम लघु जन हैं, गुरु-भार सहेंगे कैसे?
हाथी का भार न बैल खींच सकता है।

सुरभि : (सँभल कर)
हाथी भी जोत न बो न सींच सकता है!
माँ, भूल गयी मैं, चूक हो गयी मुझसे,
धोखे में क्या कह गयी न जानें तुझसे।
हाथी हाथी का, बैल बैल का जैसे।
मानव ही मानव-कार्य करेंगे वैसे।

मालिन : तू क्यों ऐसी सुध-भूल रहा करती है?
क्या जानें क्या-क्या नहीं कहा करती है।
मैं माँ हूँ इससे सभी सहे लेती हूँ;
पर सास सहेगी नहीं कहे देती हूँ!

सुरभि : मैं ब्याह करूँ तब न सास आवेगी।

मालिन : जो नहीं करेगी ब्याह कहाँ जावेगी?

सुरभि : क्यों मुझे यहाँ क्या ठौर नहीं मनचाही?

मालिन : रक्खेगा युवती सुता कौन अनब्याही?
रहने दे यह सब मुझे नहीं भाता हैं;
दिन-दिन तेरा वैराग्य बढ़ा जाता है।
सचमुच भीतर का ध्यान जिन्हें धर लेगा,
बाहर का कैसे उन्हें दिखाई देगा?
जो हो, मुझको अवकाश नहीं, अब जाऊँ,
जगदीश करे मैं उन्हें कुशल से पाऊँ।

सुरभि : माँ, किन्हें? किसे क्या हुआ, बता मुझको तो,

मालिन : क्या कहूँ जीभ है, कान नहीं तुझको तो?
हो रहीं स्वामिनी आज बहुत ही अस्थिर,
आया है कोई देव सुना उनके सिर!

सुरभि : तू क्या बकती है? किन्तु हुआ कुछ निश्चय,
वे उपवन आये नहीं इसी से है भय।
माँ, मैं भी तेरे साथ अवश्य चलूँगी;

मालिन : तू तो कहती थी अभी कि मैं न टलूँगी!
सुरभि : झखमारी जो वह कहा न फिर सिर खा तू;
मैं सबसे पहले वहाँ चलूँगी, आ तू।
(प्रस्थान)

मालिन : (चकित भाव से)
क्या इस पर भी पड़ गयी प्रेत की छाया?
क्या जानूँ कैसा समय हाय! अब आया!
मैंने इसको है बड़े प्यार से पाला,
फिर भी यह है अति उच्च वंश की बाला।
निज कुल के सब संस्कार बने हैं इसमें,
गुण-गौरव ज्ञान निदान घने हैं इसमें।
मेरी गोदी में इसे अन्त में धर के,
इसकी माँ तो निश्चिन्त हो गयी, मर के।
दे गयी मुझे कुछ द्रव्य और वे गहनें,
मानो हम थीं दो सगी प्रेम की बहनें।
मैं भीं कैसे निश्चिन्त हो सकूँ इससे?
अपने जी की यह बात कहूँ अब किससे?
वे कहते हैं वर योग्य प्राप्त कैसे हो?
करना ही होगा प्राप्त किन्तु जैसे हो।
[प्रस्थान]

वटच्छाया

[कुछ नवयुवक]

शोभन : समझ नहीं पड़ता कि समाज
मघ पर खड्गपाणि क्यों आज?
वाचक : शोभन, यह है सीधी बात,—
मुखिया न हैं तुम्हारे तात?
सुव्रत : वाचक, अनुचित है यह ढंग,
सरल रहो सरलों के संग।
शोभन : सुव्रत, न करो व्यर्थ विवाद,
मुझको इन पर नहीं विषाद।
किया पिता ने कुछ प्रतिकूल

तो मैं मानूँगा वह भूल।
और करूँगा प्रायश्चित्त,
जुड़े आज हम इसी निमित्त।
वाचक, भाई, न हो अधीर,
है यह विषय तनिक गम्भीर।
इधर सभी प्राचीन समाज
है विरुद्ध-सा मघ से आज,
होने पर भी उधर अबाध
उसने किया कौन अपराध?
समझ नहीं पड़ता कुछ ठीक;
क्या वह छोड़ रहा है लीक?

वाचक : लीक पीटने से क्या लाभ?
अन्ध नहीं वह है अमिताभ।
हैं समाज के लोचन लुंज,
भावे क्यों कर ज्योतिः-पुंज?
मघ का सक्रिय शुभ संकल्प
बना यहाँ अपराध अनल्प।

विशेष : पर उसके हितकर उद्योग
देख नहीं सकते यदि लोग,
तो क्यों वह देता है प्राण,
करने को उन सबका त्राण?

वाचक : वाह, विशेष, तुम्हारी उक्ति।
दी तुमने क्या अच्छी युक्ति।
पर जब शैशव में सुख भोग
तुम्हें हुआ होगा कुछ रोग
तब तुमको माँ के उपचार
लगते होंगे विष से यार।
देख तुम्हारा रोदन-रोष,
सुन आँ आँ ऊँ ऊँ का घोष;
करती वह न तुम्हारा यत्न,
तो उस जननी के तुम रत्न,
जीते रहते आज न मित्र,
देने को यह युक्ति विचित्र!

विशेष : मैं शिशु था वह माँ थी आप,

मघ है क्या समाज का बाप?

सुव्रत : वह है सबका बन्धु उदार,
क्षुद्र नहीं उसका परिवार।
हममें-उसमें यही प्रभेद
मन में करो विशेष, न खेद।

विशेष : करते हैं जो लोग विरोध
क्या वे हैं शिशु-सदृश अबोध?

वाचक : पर उनमें भी ईर्ष्या, द्वेष,
अहम्मन्यता, स्वार्थ, विशेष।
पक्षपात—दुर्बलता, द्रोह,
दम्भ, कपट, मद-मत्सर-मोह।
मैं जो कहता हूँ सो स्पष्ट,
न हो किसी को इससे कष्ट।
न तो किसी पर चन्दन लेप
न यह किसी पर है आक्षेप।
कड़वी होकर भी सच बात
ओषधि ऐसी है विख्यात।
निज समाज पतनोन्मुख आज;
जैसा वह वैसे ही साज।

सुव्रत : देव और पशुओं के बीच
हम मानव हैं ऊँच कि नीच,
चंचल मन दोनों ही ओर
ले जाता है हमें झकोर।
मघ ऐसे जन ही स्थिर चित्त
होते हैं वसुधा के वित्त।
क्या देवों से भी चिरकाम्य
हो सकता है उनका साम्य?
नव वय में ही इतना बोध!
इतना त्याग विराग निरोध!!
स्वर्ग-मर्त्य का सामंजस्य
है उनका उद्योग-रहस्य।

शोभन : स्वर्ग-मर्त्य का सामंजस्य
है पीछे की बात वयस्य!
सुना है कि वह करके नाद

फैला रहा निरीश्वरवाद।
सुव्रत : मिथ्या हा! जड़ता-जंजाल
सुन लो, उस दिन सायंकाल
वहाँ उपस्थित था मैं आप
होता था जब यह आलाप।
उसने कहा—मान लो मित्र,
ईश्वर सही काल्पनिक चित्र।
पर सुकर्म तो हैं प्रत्यक्ष;
रक्खें हम उन पर ही लक्ष।
रहे भले ही वह अज्ञेय,
किन्तु ज्ञेय गुण तो है ध्येय।
करने लगे इसी पर लोग।
उस पर नास्तिकता-अभियोग।
वाचक : मानो ईश्वर से वे आप
कर आये हैं सभी मिलाप!
अपने ईश्वर के अनुकूल
कर्म नहीं करते जो भूल
वे आस्तिक, मघ नास्तिक हाय!
जो है सुकृतों का समुदाय।
विशेष : मान लिया मघ है आदर्श,
पर अछूत लोगों का स्पर्श?
वाचक : इसका भी निर्णय हो जाय,
नहीं अछूत मनुज क्या हाय!
अपमानित अवनत वे दीन
क्या पशुओं से भी हैं दीन
मरें भले ही वे बेहाल
तो भी उनकी न हो सँभाल?
सुव्रत : करें अशुचिता सब की दूर,
उनसे घृणा करे सो क्रूर।
जिनके बल पर खड़ा समाज,
रहती है शुचिता की लाज
उनका त्राण न करना, खेद!
है अपना ही मूलोच्छेद।
मघ का मनुज मात्र पर प्यार,

मनुज न है वह आप उदार,
करके किसी मनुज पर ग्लानि
कैसे करे मनुजता-हानि?

वाचक : शोभन, समझ रहे हैं आप—
निरपराध है वह निष्पाप।
फिर भी जहाँ अनेक सरोष
किसी एक पर रक्खें दोष,
तो न्यायी जन भी प्रत्यक्ष
ले न सकेगा उसका पक्ष,—
यदि उनमें साहस है अल्प,
मानेगा संकल्प-विकल्प।
ये समाज के ठेकेदार
देखें अपने ही आचार।
इन दिन के ऊँचों के बीच
हैं दस में नौ निशि के नीच!
ज्वारी मद्यप कामी चोर
देखें वे अपनी ही ओर।
यही बने हैं धर्म-स्तम्भ
हा! परमेश्वर इतना दम्भ!
करते हैं ऐसे ही लोग
मघ पर बहु मिथ्या अभियोग;
रखता है जो सबका मान,
जिसकी है विश्रुति यह बान—
चाहो मन से सबका क्षेम;
करो प्रहारक पर भी प्रेम।

(विशाल का प्रवेश)

विशाल : ठीक यही उसका सिद्धान्त,
लो इसका मुझसे दृष्टान्त।
आज एक मतवाला दुष्ट
पहुँचा मघ के घर हो रुष्ट।
था इसमें किसका षड्यन्त्र,
रहने दो यह विषय स्वतन्त्र।
अपने को सुर कह कर आप
बकने लगा अनाप शनाप।

करने उसकी शीघ्र सँभाल
घर से निकला मघ तत्काल।
बोला तुम सुर साधु चरित्र,
तो जन का गृह करो पवित्र।
लो आतिथ्य अर्चना और
ठहरो हे ठाकुर, इस ठौर।
इतने पर भी वह पाषण्ड,
जो था असुर-रूप उद्दण्ड
रक्त-नेत्र, करके हुंकार
उस पर करने चला प्रहार,—
झट मघ की माँ ने दे ओट,
ली अपने ऊपर वह चोट।
बेचारी गिर पड़ी धड़ाम;
निकला बस मुँह से हे राम!
वह भी अपने मघ के अर्थ,

सब : राम-राम! हा घोर अनर्थ!

शोभन : उस देवी का—नहीं, विशाल,
उस माँ का अब है क्या हाल?

विशाल : बुरा नहीं, खल था ज्यों अन्ध,
रिपटा वार, छिला है स्कन्ध।

सुव्रत : बड़ा सहायक है भगवान,
मघ ने फिर क्या किया निदान!

विशाल : जगी, देख माँ का यह हाल,
आँखों में द्रुत विद्युज्ज्वाल।
पर क्षण भर में ही वह धीर,
हुआ सघन-घन-सा गम्भीर!
पकड़ खेद से खल का हाथ
बोला यों करुणा के साथ—
"हा अभाग्य, हम दो जन हाल
करते तेरी जहाँ सँभाल
वहाँ अकेला अब मैं एक,
और सेव्य तुम दो सविवेक।"
यह कह माँ को उठा तुरन्त
और उसे भी वह बलवन्त,

भीतर चला मनुज सिरमौर,
तब तक मैं पहुँचा उस ठौर।
इसीलिए मुझको इस बेर
हुई पहुँचने में कुछ देर।
अब दोनों हैं स्वस्थ, परन्तु
आज मनुज-रूपी वह जन्तु,
यदि मघ करता नहीं सहाय
तो मर जाता मृतकप्राय।
जीता भी तो बिना विवाद
होता मरणाधिक उन्माद।

विशेष : पर है यह विस्मय की बात—
जिसने किया विषम आघात
बल रहते भी उसे न मार
किया उसी पर मघ ने प्यार!
अस्वाभाविक-सी अज्ञात
समझो इसे अलौकिक बात।

सुव्रत : मघ है आप अलौकिक व्यक्ति,
उसमें है वैसी ही शक्ति।

विशाल : मुझे बता दो अब सब लोग
निज निश्चय, अपना उद्योग।

शोभन : मैं निश्चय कर चुका सटीक,

सुव्रत : मैं भी,

वाचक : मैं भी,

विशेष : मैं भी

विशाल : ठीक;
तो अब है मेरी यह राय
यहाँ प्रकट कुछ किया न जाय।
चलो, चलें हम सब अविभक्त
और करें मघ पर ही व्यक्त।

मघ का घर

[मघ की माँ लेटी है। कन्धे पर पट्टी बँधी है; सुरभि पैर सहला

रही है। मघ हाथ में दूध का पात्र लेकर प्रवेश करता है]

मघ : माँ, अब तेरा जी कैसा है?

माँ : कष्ट नहीं अब कुछ ऐसा है।
सुरभि बड़ी अच्छी है बाला,
इसने मुझको खूब सँभाला।
आकर ओषधि मुझे खिलाई,
औंटी करके आप पिलाई।

मघ : तो मेरा भी गुण गा थोड़ा,
मैंने तुझे सुरभि पर छोड़ा।

सुरभि : देखो, माँ अब अधिक न बोलो,
दुर्बलता है, हिलो न डोलो।

माँ : बेटी, तेरी सब मानूँगी,
पर मघ से न मौन ठानूँगी।
बस अब पैर दाब मत मेरे;
थककर हाथ पसीजे तेरे!
मघ, मैं तेरे गुण क्या गाऊँ,
बस उनको सुनती ही जाऊँ।
तूने मुझे सुरभि पर छोड़ा,
इसका भार आप ले थोड़ा।
इसका ब्याह करूँगी मैं, सुन,
अच्छा पात्र कहीं से तू चुन।
(सुरभि की माँ की ओर देखती है)

मालिन : इस कुल का कल्याण सदा हो,
दूर विघ्न, बाधा, विपदा हो।
ऋद्धि, सिद्धि, धन, धान्य धरा हो,
आँगन सुत-सन्तान भरा हो।

मघ : सब आशीष प्रथम दे लोगी
तो काकी, पीछे क्या दोगी?

मालिन : जो पहले सो पीछे जानो,
तुमने कहा, हुआ वह मानो।

मघ : पर मैंने क्या कहा अभी है?

मालिन : भैया मुझको ज्ञात सभी है।
तुम अपना मत भी टालोगे,
पर माँ की आज्ञा पालोगे।

मघ : समझ गया मैं, सुरभि तुम्हारा
कहा किया करती है सारा।

माँ : दुर्लभ सुता सुरभि जैसी है,
देख लजीली भी कैसी है।
सुनकर अपनी यहाँ बड़ाई,
बैठी है यह किये कड़ाई।
अब वह तेरा सुर कैसा है?

मघ : फिर बन रहा मनुज-जैसा है।
माँ, तुझसे, जाने के पहले,
उसकी इच्छा है, कुछ कह ले।
किन्तु कहाँ साहस होता है,
मानो उसका मन रोता है।

माँ : मैंने उसको क्षमा किया है;
कह देना, आशीष दिया है।
जो अपनी सो सबकी आत्मा,
सबका भला करे परमात्मा।

मघ : माँ मेरी, बस अब मैं जाऊँ,
दूध गरम कर उसे पिलाऊँ।
मेरे सब विश्वास वहाँ हैं
मातृ-रूपिणी स्त्रियाँ जहाँ हैं।

सुरभि : दीजे, दूध गरम मैं कर दूँ;
थाली में कुछ फल-बल धर दूँ।

मालिन : यह सब मुझको कैसे भावे,
कौन साँप को दूध पिलावे;

मघ : नागपंचमी आज सही तो।

सुरभि : हैं आर्यों के भाव यही तो।

[मघ के हाथ से दूध लेने में सुरभि को कम्प होता है, और पात्र उसके हाथ से छूट जाता है; दूध फैल जाता है]

सुरभि : अरे!

मालिन : देह की सुध-बुध खोकर,
भक्ति-भाव से गद्गद होकर,
आखिर तूने दूध गिराया;
मन न हाथ की ओर फिराया।

मघ : काकी, रहो तुम्हारे डर से

दूध गिर गया कम्पित कर से।

माँ : हुआ, दूध का क्या टोटा है?
कुण्ड भरें यह तो लोटा है।
सौ गायें भैंसें हैं मेरे,
वत्स घूमते हैं घर घेरे।

सुरभि : दूध तुम्हारा ही रक्खा है,
तुमने तो मानो चक्खा है।

माँ : माँ का रोष निकाल न मुझ पर,
बेटी मेरी, जा जल्दी कर।

(सुरभि गयी)

[सुरभि की माँ भी जगह साफ करके हाथ धोने गयी। मघ के पिता अमोघ आये। मघ की माँ को उठते देखकर–]

अमोघ : रहो, रहो, निर्बल हो अब भी।

माँ : स्वस्थ, सचेत हुई हूँ तब भी।

अमोघ : तुझे पूछते हैं कुछ बालक,
शोभन है उनका संचालक!

मघ : देखूँ, पूछ रहे क्यों मुझको?

माँ : **(हाथ पकड़कर)**
पर जब मैं जाने दूँ तुझको!
वचन ब्याह का जब ले लूँगी,
तब तुझको मैं जाने दूँगी।
होती आज बहू यदि मेरी
तो सुविधा होती बहुतेरी।
सभी व्यवस्था कर देती वह,
मेरा भार उठा लेती वह।

अमोघ : मघ, यह ज्ञात हुआ है मुझको
है आपत्ति ब्याह पर तुझको।
केवल पढ़ा-लिखा कर थोड़ा
मैंने तुझे तुझी पर छोड़ा।
तुझे न मैं बाधा देता हूँ,
न कुछ काम तुझसे लेता हूँ।
है विश्वास कि तू न थकेगा,
अपना भार सँभाल सकेगा।
किन्तु ब्याह करने से डरना

है कुल से कृतघ्नता करना।
भाव भुवन ने जिसे दिये जो,
अनुभव जिसने जहाँ किये जो,
हो अस्तित्व उसी तक सबका
तो यह जग सो जावे कबका
प्राणी आत्मज के ही द्वारा
रखता है निज जीवन-धारा।
तेरी जो चेष्टा भाती है,
वह मनुष्यता की थाती है।
उसका रक्षक पोता मेरा,—
हो सकता है सुत ही तेरा।
जन उलटे फल भी चखते हैं,
पर आशा अच्छी रखते हैं।
माता, भगिनी, पत्नी, कन्या;
नारी ही नर-कुल-धन-धन्या।
पत्नी रूप प्रकृत नारी का,
मूलभूत इस फुलवारी का,
जब तेरे सम्मुख आवेगा
सहधर्मिणी उसे पावेगा।
उसकी मातृमूर्ति सम्मुख है,
तेरा सुख ही इसका सुख है।
कह अब जो तुझको कहना है?

मघ : मुझे यहाँ चुप ही रहना है।
है विवाह आदेश तुम्हारा
मैंने वह सिर से स्वीकारा।

माँ : मैंने तुझसे सब भर पाया।
(हाथ छोड़कर)
रहे क्षेम की तुझ पर छाया।

चबूतरा

[मघ और शोभनादि]

मघ : नूतन विशेष भाव, और मेरे धर्म का;

प्रश्न है तुम्हारा यह मित्रो, किस मर्म का?
क्या हमारा शास्त्र धर्म-सार-हीन हो गया,—
खोजने चले तुम विशेष भाव जो नया?
धर्म में भी इष्ट हमें नव्यता का मेल है,
मानो वह भौतिक पदार्थ है या खेल है!
उर्वर उदार उन कल्पना के क्षेत्रों में
चारों ओर नव्यता ही नाचती है नेत्रों में।
कोटि-कोटि रौरव हैं, कोटि-कोटि स्वर्ग हैं;
भीत और मुग्ध जिन्हें देख प्राणी-वर्ग हैं।
किन्तु जो नया है आज कल ही पुराना है;
धर्माधर्म का फिर कहो कहाँ ठिकाना है?
प्रति दिन एक नये धर्म पर दृष्टि हो
तो फिर नित्य नये ईश्वर की सृष्टि हो!
धर्म तो सनातन है, सिद्ध वह आप है,
पुण्य सदा पुण्य तथा पाप सदा पाप है।
विधियाँ बदलती हैं, मत हैं बदलते,
नये-नये लोकाचार लोक में हैं चलते।
किन्तु मूल धर्म सब काल, सब देशों में,
एक-सा ही पाओगे अनेक भिन्न वेशों में।
मेरा धर्म? वह क्या तुम्हारा नहीं भाइयो?
मेटना मनुष्यता न मेरी कहीं भाइयो!

शोभन : अपने गुणों से आप आज तुम नर से
हो चुके हो सौम्य मर्त्य लोक में अमर-से।

वाचक : पीछे पड़े मत्सरी तभी तो दैत्य-सम हैं!

मघ : दैत्य-कुल में भी श्लाघ्य संयम-नियम हैं!
किन्तु मित्रो, मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ,
रखता सभी पर समान श्रद्धा-भक्ति हूँ,
साधारण लोकधर्म मेरा ध्रुव धर्म है,
फल हो किसी के हाथ, मेरे हाथ कर्म है।

शोभन : साधारण व्यक्ति तुम? जाने दो, वही सही,
आये हम, याचना हमारी बस है यही—
अपना व्यक्तित्व तुम दो इस समष्टि को।

मघ : इष्ट है समष्टि आप आश्रयार्थ व्यष्टि को!
याचना नहीं है यह दान ही तुम्हारा है;

धन्य भाग्य मेरा है।

शोभन : तुम्हारा या हमारा है?
प्राप्त हुआ आज तुम जैसा जिन्हें नेता है,
देता है स्वयं जो किन्तु मानो आप लेता है।

मघ : तुम अपनाने मुझे मेरे घर आये हो,
प्रेम ऐसी वस्तु स्वयं मेरे लिए लाये हो।
मैं क्या प्रतिदान दूँ बताओ इसके लिए?
सौंपता हूँ आपको ही चाहो जिसके लिए।
किन्तु मेरी माँ का अनुरोध रख लीजिए,
कुछ जल-पान यहाँ आज सब कीजिए।

विशाल : देवता-प्रसाद भला कौन नहीं चाहेगा?
पाके उसे भाग्य नहीं अपना सराहेगा!

वाचक : आज जो पधारे यहाँ एक महासुर हैं
आतुर हमारे उन्हें देखने को उर हैं।

मघ : क्षमा करो मित्रो उसे, माँ ने भी क्षमा किया;
मन ने ही उसके धिक्कार उसे है दिया।
लज्जित को और भी लजाना अविचार है;
आप अनुताप बड़ा पाप-प्रतिकार है।
उसने किया जो वह आपे में न होने से;
होते आत्मघात भी हैं सुधबुध खोने से।
पापों से घृणा करो, प्रयत्न करो, पापी का;
व्यंग्य छोड़ संग दो सदैव अनुतापी का।

सुव्रत : जो जो करणीय हो बता दो हम लोगों को।
साधें यथासाध्य सब पावन प्रयोगों को।

मघ : मित्रो मैं बता चुका हूँ साधारण व्यक्ति हूँ,
रखता असाधारण सिद्धियाँ न शक्ति हूँ।
कामना भी मुझको नहीं है कुछ इनकी,
धन्य हैं वे लोकातीत साधना है जिनकी।
कोई यह चाहे कि मैं योगविद्या सीखूँगा;
देखूँगा सबको किसी को नहीं दीखूँगा।
किंवा यन्त्र-मन्त्र सीख सब कुछ पाऊँगा;
चाहूँगा जहाँ मैं पक्षितुल्य उड़ जाऊँगा।
होगी उसे नित्य मेरे निकट निराशा ही,
मेरे लिए यह सब है बस तमाशा ही।

जो कुछ है प्राप्त हमें वह भी अधिक है,
किन्तु उपयोग नहीं होता ठीक धिक है!
चाहे शव-साधन की चिन्ता और चाह है;
किन्तु हमें जीवितों की कुछ भी न आह है।
धन्य हैं वे सिद्ध जो मरों को जिला लेते हैं,
हम मरतों को ही सहारा कहाँ देते हैं?
आत्म-बलिदान करो तो है कुछ करना;
मृतक जिलाने से बड़ा है आप मरना!
स्वर्ग और मुक्ति दोनों मृत्यु-फल मिष्ट हैं;
तो सुख स्वतन्त्रता ही जीवन में इष्ट हैं।
मेरा अभिन्नात्मा, फिर कोई वह क्यों न हो,
आर्त्त परतन्त्र है तो मैं भी क्या नहीं, कहो?
मित्रो, परिसीमा यही मेरे गुरु-ज्ञान की,
धारणा है उसके उपाय के ही ध्यान की।
करने को प्रस्तुत हो, कार्य स्वयं जानोगे;
लाख भ्रान्तियाँ हों, अपने को पहचानोगे।
मनु ने कहे हैं कुछ लक्षण जो धर्म के,
मूल मन्त्र जानों उन्हें सबके सुकर्म के।
अपने कपाट खोल देखो, नये साज हैं,
अतिथि अकिंचनों के आप अधिराज हैं।

(गान)

अरे, बद्ध हो क्यों अपने में?
द्वार दया करके खोलो;
जिनसे तुम बचते हो उनको
कौन बचावेगा बोलो?

प्रतिवासी जब तक रोते हैं
तुम कैसे सो सकते हो?
अरे, हँसो तो मत जो उनके
साथ नहीं रो सकते हो।
कह कर नीच किसी को तुम क्या
आप ऊँच हो सकते हो?
प्राणिमात्र की एक गोत्रता
कैसे तुम खो सकते हो?

देह देह से, हृदय हृदय से,
आत्मा आत्मा से तोलो;
अरे, बद्ध हो क्यों अपने में?
द्वार दया करके खोलो।
जिन्हें घृणा करते हो वे ही
हैं इस योग्य कि प्यार करो;
अपने मनुष्यत्व का उनके
मिष से तुम उद्धार करो,
पापी का उपकार करो, हाँ,
पापों का प्रतिकार करो;
उठो, उठाओ, बढ़ो, बढ़ाओ;
तरो, तारकर पार करो।

सब साथी हो जाएँ तुम्हारे
तुम सबके साथी हो लो;
अरे, बद्ध हो क्यों अपने में?
द्वार दया करके खोलो।

आग्रह करके सदा सत्य का
जहाँ कहीं हो शोध करो;
डरो कभी न प्रकट करने में
जो अनुभव जो बोध करो।

उत्पीड़न अन्याय कहीं हो
दृढ़ता सहित विरोध करो;

किन्तु विरोधी पर भी अपने
करुणा करो, न क्रोध करो।
विष भी रस बन जाए अन्त में
उसमें इतना रस घोलो;
अरे, बद्ध हो क्यों अपने में?
द्वार दया करके खोलो।

आत्मा के न जागने तक ही

हैं ये भौतिक भय भारी;
उठती हैं अपने ही तम से
यम-विभीषिकाएँ सारी।

बाधक स्वयं बनेंगे साधक
यदि तुम हो दृढ़ व्रत-धारी;
सहनशीलता वह है जिससे
छके आप अत्याचारी।
नश्वर है तो प्राण, देह के
डर से तुम न डिगो-डोलो;
अरे, बद्ध हो क्यों अपने में?
द्वार दया करके खोलो।

ग्राम-भोजक का घर

[ग्राम-भोजक और उसकी भार्य्या]

भार्य्या : क्यों आज अधिक उदास हो?
भोजक : तुम जो बराबर पास हो!
भार्य्या : यह बात है! यह आह है!
रुकती तुम्हारी राह है?
भोजक : बस, बस रहो, बोलो न अब;
तलवार-सी तोलो न अब।
भार्य्या : यदि तुम किसी से कुछ कहो,
श्रवणार्थ भी प्रस्तुत रहो।
भोजक : मैं गाँव का शासक धनी,
मेरी तुम्हीं त्रासक बनी।
भार्य्या : देते स्वयं जो ताप हैं
वे भोगते भी आप हैं।
भोजक : मघ माणवक सिर चढ़ रहा,
दल नित्य उसका बढ़ रहा।
सबकी सहज ही पट रही,
पर आय मेरी घट रही।
वह राज-कर भी एक दिन

मिलना न हो जावे कठिन!
झगड़े बहुत होते नहीं,
हों तो निपटते हैं वहीं।
शासक रहा मैं नाम का,
कर्त्ता वही सब काम का।
उसको दबाना चाहिए,
कुछ सैन्य लाना चाहिए।
बस अब इसी उद्देश से
जाकर मिलूँ मगधेश से।

भार्य्या : पर मिल सकोगे किस तरह?

भोजक : देखूँ बनेगा जिस तरह।
उपहार देने के लिए
फिर भी अधिक कुछ चाहिए।
घर से न कुछ देना पड़े,
देखूँ कहीं से कुछ झड़े।

भार्य्या : पर लोग कहते हैं यहाँ
राजा निकलते ही कहाँ?
वे अधिकतर रनवास में
हैं मग्न हास-विलास में।

भोजक : ये नारियाँ—

भार्य्या : हाँ हाँ कहो,
श्रवणार्थ भी प्रस्तुत रहो!
पर नृप न रहते यदि वहाँ
पटती तुम्हारी तो कहाँ?

भोजक : सुर ने न उस दिन कुछ किया,
मुझको बड़ा धोखा दिया।
अब श्रम मुझे करना पड़ा,
तो दण्ड भी होगा कड़ा।
मघ राज-विद्रोही बने,
चाबे सही नाकों चने।
विष-दन्त सब झड़ जायेंगे,
लाले यहाँ पड़ जायेंगे।
कोई न साथी भी बचे,
जो जाल फिर अपना रचे।

भार्य्या : पर यह तुम्हारी भ्रान्ति है;
विद्रोह क्या, क्या क्रान्ति है?
वे सब स्वयं दुख झेलकर,
जी जान पर भी खेलकर,
करते सभी का हैं भला;
कोई गया उनसे छला?
कितने कदाचारी दनुज
वनकर सदाचारी मनुज,
सद्भाव भव में भर रहे,
गुण-गान उनके कर रहे।
वे दूसरों के दोष पर
उन पर न कुछ भी रोष कर
उपवास करते आप हैं;
सहते स्वयं अनुताप हैं।
सबमें अहिंसा-भाव है,
चारित्र्य का ही चाव है,
सुख-शान्ति का प्रस्ताव है,
पर-दुःख का ही घाव है।
जिसमें न कोई पाप हो,
हिंसा असत्य न ताप हो,
वह काम करने में कहीं
उनको घृणा होती नहीं।
संसार त्यागी भी नहीं
वे किन्तु रागी भी नहीं।
दें प्रेम-वश धरना कहीं
तो दोष इसमें हैं नहीं।
धन है उन्हें जन के लिए,
जन हैं नहीं धन के लिए।
तुम-सा न स्वार्थ, न मोह है,
तो क्या यही विद्रोह है?

भोजक : नृप-नीति कहते हैं किसे
जानो भला तुम क्या इसे?
जो दो जनों का मन्त्र है
वह भी वहाँ षड्यन्त्र है!

भार्य्या : तब तो कुचक्री हैं सभी,
जैसे कि हम दोनों अभी।
भोजक : हैं अंग हम तो राज्य के।
भार्य्या : तुम अग्नि हो उस आज्य के।
तब तो प्रजा की यह दशा!
भोजक : तुम हो बड़ी ही कर्कशा!
बस नारि-तुल्य रहो अहो!
भार्य्या : तुम भी मनुज बनकर रहो!
भोजक : देखो, न हो कलहातुरा!
भार्य्या : अन्याय से यह क्या बुरा?
भोजक : मैं त्याग दूँगा अब तुम्हें,
भार्य्या : मैं रोकती हूँ कब तुम्हें?
पर छूटती जाया कहाँ?
इस जीव से काया जहाँ।
कहकर कि लो जाओ मरो,
तुम घात भी मेरा करो।
मैं किन्तु वह नारी नहीं,—
मरकर चली जाऊँ कहीं!
मैं कर्कशा हूँ किसलिए?
तुम तो सदय हो, इसलिए।
वह लोक-पीड़न नित नया;
पहले मरी जिसमें दया,
वह शीत हिम, वह ग्रीष्म तप,
वह गालियों का भीष्म जप,
रह रह विभिन्नाघात वह,
मानो अयुत पवि-पात वह,
वह क्षुत्पिपासा की व्यथा,
वह काम लेने की प्रथा,
दुर्विध नरों का धन हरे,
अबला जनों का तन अरे,
जिह्वा न जल जाये कहीं!
धरती न टल जाये कहीं!
यह सब सहा जाता नहीं!
चुप भी रहा जाता नहीं।

चीत्कार दीनों का यहाँ
है गूँजता देखो जहाँ।
किस हेतु यह? तनु-तृप्ति-हित?
सोचो यही क्या है उचित?

भोजक : क्या चाहती हो तुम, रहो,
दोषी न दण्डित हों कहो?

भार्य्या : दो दोषियों को दण्ड तुम,
यम-तुल्य उग्र प्रचण्ड तुम।
पर दोष ये जिससे घटें,
कुछ पाप लोगों के कटें,
क्या और भी इसके लिए
कुछ यत्न तुमने हैं किये?
यह सब तुम्हें क्यों भायेगा?
वह लाभ जो घट जायेगा!
यदि दण्ड में भी हो क्षमा
तो रूठ जाये फिर रमा!

भोजक : ठहरो कि दासी आ रही,

भार्य्या : हाँ, लो, पियो, वह ला रही।
पर मधु नहीं, कुछ ध्यान है,
यह दीन-शोणित-पान है!

दासी : देगा न और कलाल अब।

भोजक : क्यों, क्या हुआ, कह हाल सब?

दासी : मघ ने उसे ऐसा सजा
व्यवसाय यह उसने तजा।
जो दूसरी दूकान है
वह भी न टूटे आन है।

भोजक : अब प्रिय इन्हें भी धर्म है!

भार्य्या : हाँ जो तुम्हारा कर्म है!

भोजक : मैं अब समय क्यों खो रहा?

भार्य्या : हाँ क्रव्य ठण्ढा हो रहा!

मधुवन

रानी : (गान)

कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।
हम सब तो हैं ब़स अहम्मन्य।

जीवन है कितना अल्प हाय!
उसमें भी तू उत्फुल्ल काय,
कर जाती है इतना उपाय
गुण गाता है अलि-सम्प्रदाय।
तुझ-सा उदार है कौन अन्य?
कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।

थोड़े में जीवन रस निचोड़,
हँसते-हँसते मधु-गन्ध जोड़,
उसके देने में मुँह न मोड़,
झड़ पड़ती है तू बन्ध तोड़,–

फल छोड़ अन्य-हित आत्म-जन्य।
कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।

(राजा का प्रवेश)

यह छवि भूषण-दूषण-विहीन
हे प्रिये, एक प्रतिमा नवीन!
मुख पर महत्व की सहज छाप,
पर तुम क्यों हो निरपेक्ष आप?

रानी : प्राणेश्वर का प्रणयोपहार
है जिसका अक्षय अलंकार,
स्वामी, फिर उसको क्या अभाव?
हो जिसका उसके चित्त चाव?

राजा : निज उपवन में चिर चैत्र मास,
सब ओर अतुल-आमोद-वास,
है कली कली में कुमुस-हास,
बनदेवि, तुम्हीं फिर क्यों उदास?

रानी : बस यही व्यतिक्रम-सा विशेष
मैं देख देखकर निर्निमेष
क्या जानूँ जड़ या क्षुब्ध नाथ,
हो हो उठती हूँ एक साथ।

मन में कैसे कैसे विचार
उठते हैं मेरे बार-बार!
यदि प्रकृति चाहती, अनायास
रख सकती थी चिर चैत्र वास।
जाते न रचे फिर अन्य मास,
होता न विश्व का यह विकास!
जैसे वसन्त में घन-घिराव
उपजाता है विपरीत भाव,
वैसे वर्षा में विरज व्योम,
जगमग तारे या सजग सोम।
जो अच्छा है समयानुसार,
असमय में बनता है विकार।

राजा : पर कर लेना कालाधिकार
क्या यह भी है जीवन-विकार?

रानी : यह तो है जीवन का महत्त्व,
है इसमें ही पुरुषत्व सत्व।
पर इस पौरुष का क्षेत्र एक—
उद्यान मात्र! करिए विवेक।

राजा : मत करो कठिन बनकर विचार,
यह किसकी पूजा का प्रकार?
होकर भी राज्यासनासीन
हूँ प्रिये, तुम्हारा मैं अधीन।

रानी : हे नाथ, तुम्हारा आनुकूल्य
मेरा गौरव-धन है अमूल्य।
मुझको उसका है गर्व मानि,
जिन स्वार्थ भाव पर किन्तु ग्लानि।
उन लाखों लोगों के समीप
दोषी-सी हूँ मैं हे महीप,
जिनका रंजन है राज-कर्म,
कर-रूप वृत्ति पाकर सधर्म।
इस कारण यह ऐश्वर्य सर्व
करता है उलटा गर्व खर्व।
मानो हम हैं इसके अपात्र,
यह है चोरी या लूट मात्र!

राज्ञी हूँ फिर भी हाय! नाथ,
निज की कौड़ी तक नहीं हाथ!
लज्जा देती है मनस्ताप,
सुनती-सी हूँ दूराभिशाप।
यह हरा-भरा मधुवन विशाल
मानो लाखों का रक्त लाल
पीकर भी भीतर शुष्क भूप,
है खड़ा झाड़-झंखाड़ रूप!
यह सुनकर यहाँ पङ्ग-गान
होता है मुझको आप भान
यह कोकिल-कुल की कलित कूक
पीड़ित हृदयों की न हो हूक!
मुझ पर प्रसून-मिष सभी ओर
हँसती है हरियाली कठोर!
या कलियों के मिष ये अनन्त
दिखलाते हैं द्रुम दीन-दन्त!
ठण्डी बयार बन रही आँस,—
हो दीनों की ज्यों सर्द साँस!

राजा : उठकर उर में मिथ्या विचार
पीड़ा देते हैं किस प्रकार?
होता है उनका क्या प्रवाह,
जाना यह मैंने आज आह!
हो किन्तु राज्य में असन्तोष
तो पूर्ण रहे क्या राज-कोष?

रानी : पर जिनके धन से महाराज,
है पूर्ण हमारा कोष आज
कैसे हैं वे सब प्रजा लोग?
करते हैं सुख या दुःख भोग!
क्या हैं उनके व्यवसाय, आय?
कैसे हैं जीवन के उपाय?
कैसे हैं तन, मन, धन, निकेत?
वन, हाट्-बाट, सर, कूप, खेत?
कर देते हैं वे किस प्रकार?
कैसे हैं उनके क्रियाचार?

इसका है कितना हमें ध्यान?
राजा : पूरा, पूरा है मुझे ज्ञान।
है भक्ति प्रजा में कि है क्रान्ति,
तुम स्वयं देख लो, मिटे भ्रान्ति।
जिस ओर कहो, ले चलूँ साथ।
रानी : इससे क्या होगा, प्राणनाथ?
राजा : तुम स्वयं सकोगी सब निहार,
घाते में वह यात्रा-विहार!
रानी : हम जहाँ जायेंगे वहाँ ख्यात,
जो होगा वह है मुझे ज्ञात।
नाटक-सा कुछ होगा विराट,
सुथरे होंगे सब घाट-वाट।
मंगल-घट होंगे द्वार-द्वार,
बहु वन्दनवार प्रसून हार।
गाकर छज्जों पर क्षेम गीत
होंगीं वधुएँ पुलकित प्रतीत।
नर भाँति-भाँति के वस्त्र धार,
हो पंक्ति-बद्ध जय-जय पुकार,
करके नत होकर नमस्कार,
देंगे निज-निज राजोपहार।
जिस ठौर रहेगा शिविर-वास
पुर-सा होगा उस ठौर भास।
दधि, दुग्ध घृतादिक के प्रवाह,—
ले ले जितनी हो जिसे चाह।
पर इतने से तो गुण-निधान,
होगा न परिस्थिति परिज्ञान।
चाहे न जलें चूल्हे महीप,
जन रख न सकेंगे बुझे दीप!
राजा : तो और कहो सो किया जाय?
जिससे न तुम्हें चिन्ता सताय।
चल रहा सहज शासन-विधान,
हैं सभी विभागों के प्रधान।
क्या कर सकता है एक व्यक्ति?
रानी : पर प्रजा-दत्त है राजशक्ति;

वह है अटूट।
राजा : यह ठीक, उक्ति,
पर कहाँ नहीं उसकी नियुक्ति?
रानी : पर प्रभो, उसी का दुरुपयोग
हो, तो फिर है वह राजरोग।
राजा : क्या हुई कहीं कुछ बुरी बात?
रानी : ईश्वर न करे ऐसा विघात।
फिर भी मन रहता है सशंक;
है अकर्मण्यता भी कलंक।
राजा : क्या करने से हो तुम्हें तोष?
रानी : है मेरा ही हे देव, दोष।
पृथ्वी के पति हैं प्रथम भूप,
पीछे जिसके हों प्रेम रूप।
पर पृथ्वी एवं प्रजा वर्ग
दोनों का धन, जीवन निसर्ग
मानो वंचित कर उन्हें नाथ,
मैं हर बैठी हूँ एक साथ!
लौटा दूँ तो कुछ मिटे क्षोभ,
पर कैसे छोड़ूँ यह सुलोभ?
राजा : हे प्रिये, न हो निर्दय, न दीन,
मैं एक तुम्हारे ही अधीन।
रानी : तो चलो, प्रभो, यह राज्य छोड़,
यह बाधक वैभव-जाल तोड़।
हम चलें वहीं, बस,—जहाँ नाथ,
कोई न तीसरा रहे साथ।
गिरि, गुहा-गेह, घन-विजन-कुंज,
कुछ कन्द-मूल-फल, फूल-पुंज,
निर्झर निपात हो, कुछ न और;
हम रहें चैन से उसी ठौर।
मैं तुमको, तुम मुझको विलोक
भूलें दोनों भव-रोग-शोक!
ये पुष्प-पुंज क्यों? हार-हेतु?
सो भी मेरे शृंगार-हेतु?
राजा : तुम चलो जहाँ मेरी उमंग।

मैं चल सकता हूँ संग-संग।
खींचा तुमने जो विजन-चित्र
वह तो है अति ही प्रिय, पवित्र।
फिर भी है क्या समयानुकूल,
जाओ इसको भामिनि! न भूल।

रानी : तो आज्ञा दो फिर मुझे आह!
इन चरणों की एकान्त राह।
मैं इस गौरव के साथ-साथ
देखूँ कि प्रजा-हित-निरत-नाथ।
सन्ताप सहूँ धर गृहस्तम्भ।
मिलकर न दे सकूँ उपालम्भ।
मेरी वीणा झंकारहीन,—
ज्यों राज चाप टंकारहीन!
पर वाणी में कुछ सद्विचार
हों तो कृतार्थ हूँ बार-बार।

राजा : उस जीवित वीणा का निनाद,
पर जाने दो, यह व्यर्थ वाद।
तुमने यथार्थ ही कहा आज,
देखूँगा मैं सब राज-काज।
करके अपना कर्त्तव्य-कर्म्म
पालूँगा सच्चा राजधर्म्म।
होगा न किसी का कहीं घात,
अब चलो चलें, हो गयी रात।

मुखिया और चोपाल

[मुखिया और उसका एक साथी]

मुखिया : मेरा सुत भी अन्त में
पड़ मघ के अघ दन्त में
निकल न जावे हाथ से,
फँसे न उसके साथ से।

साथी : केवल शोभन ही नहीं,
मेरा लोभन भी वहीं।

अब तो दल-सा हो गया,
फिरा कौन फिर जो गया?

मुखिया : अच्छा देखा जायगा,
वह इसका फल पायगा।
मुझको भी उसने छला,
घर न जला दूँ तो भला!
निकल जाय सब दम्भ वह,
ढहे ढोंग का खम्भ यह।

साथी : पर मेरी तो राय है
उसका व्यर्थ उपाय है।
नहीं चलेगा काम यह,
होगा अब बदनाम वह।
रचना तो वह रच रहा,
किन्तु स्वयं कब बच रहा।
ज्ञात नहीं कुछ भी उसे
जो उसके दल में घुसे
उनमें ऐसे भी मनुज
जो यथार्थ में हैं दनुज।
लम्पट, लुब्ध, लबार भी,
जाली, ज्वारी, जार भी।
भला सही मघ मान लो,
पर यह भी तो जान लो।
क्यों न जायगा वह छला
जो सबको समझे भला!
देखो जो यह आ रहा,
रेंक रहा या गा रहा।
खूब जानता हूँ इसे,
क्या है कर न सके जिसे?
कल के वंचक आज ये
सेवक बने समाज के!
जाऊँ देखूँ काम अब,
तुम भी लो विश्राम अब।

(सुमुख का प्रवेश)

सुमुख : **(गाने के ढंग पर)**

दूर रहें या पास हम
मन से सबके दास हम।

मुखिया : कहो सुमुख, क्या हाल है?
तुमने किया कमाल है!

सुमुख : कूप प्रेत वन में बना,
आप अनघ ने जो खना।
कल उसका जल-पान है,
उसका ही सामान हैं।
शोभन–

मुखिया : यह तो हो रहा,
कौन बीज दल बो रहा?

सुमुख : यही कि सब जन हों सुखी;
रहे न कोई भी दुखी।
दिया अनघ ने दान है
उनका जो उद्यान है।
जो अनाथ असहाय हैं
उनके वहाँ उपाय हैं।
पाते हैं भिक्षा सभी,
व्यवहारिक शिक्षा सभी।
वहाँ कई गृह बन गये,
और बन रहे हैं नये।
जुट जावें दस जन जहाँ
क्या है कि जो न हो वहाँ?
मिल यों ही हम लोग सब
सर बनायँगे एक अब।
महिमा है इस काम की,
सुविधा होगी ग्राम की।
जो हितकर उद्योग हैं
करते हम सब लोग हैं।
रुग्णों का उपचार भी
रोगों का प्रतिकार भी,
करते हैं हम शक्ति भर,
प्राणि मात्र पर भक्ति कर।
मेलों-ठेलों में हमीं,

उत्सव-खेलों में हमीं,
करते प्रेम-प्रचार हैं,
सेवा और सुधार हैं।
पहले के अपराध सब
होते नहीं अबाध अब।
सुरा-पान भी घट रहा,
कलह आप ही हट रहा।
प्रहरी-सम पाकर हमें
चोर बहुत अब हैं कमें।
बैलों पर ही अब जुआ
आकर आरोपित हुआ!
शोभन भी—

मुखिया : मालूम है,
आज तुम्हारी धूम है
पर न इसे भूलो कभी
पछताओगे तुम सभी।
द्रोही तुम अवनीश के,
और स्वयं उस ईश के!

सुमुख : यह क्या कहते आप हैं?
क्या हम करते पाप हैं?
शोभन भी—

मुखिया : पहले सुनो,
और उसे मन में गुनो।
पाते जो जन कष्ट हैं,
पतित और जो भ्रष्ट हैं,
प्रश्रय देते हो उन्हें;
अपना लेते हो उन्हें।
करते हो तुम रुष्ट यों,
होगा ईश्वर तुष्ट क्यों?
सुना तनिक झगड़ा कहीं,
तुम झट जा कूदे वहीं।
माना, जीवन्मुक्त हो,
पर क्या राज-नियुक्त हो?
नृप का काम विचार है;

तुमको क्या अधिकार है?
लाभ दण्ड के द्रव्य का,
शुल्क सुरा या क्रव्य का,
दिन पर दिन है घट रहा।
अधिक जाय अब क्या कहा?
यों ही कहीं न एक दिन
भू-कर मिलना हो कठिन।
जन जड़ होकर तन रहे,
मन के राजा बन रहे।
भय न किसी को कुछ रहा,
इसीलिए मैंने कहा—
विद्रोही तुम ईश के,
और स्वयं अवनीश के।
ईश्वर की चिन्ता नहीं,
वह तो मरने पर कहीं
स्वर्ग-नरक पहुँचायेगा;
वह तब देखा जायेगा।
पर जीते जी भूप का,
इन्द्र-अग्नि-यम-रूप का,
दण्ड मिलेगा जब तुम्हें
जान पड़ेगा तब तुम्हें!
मैं शुभचिन्तक हूँ, तभी,
कहता हूँ तुमसे अभी।

सुमुख : क्या करना होगा मुझे?
या मरना होगा मुझे?
शोभन—

मुखिया : वह बच जायेगा,
पुरस्कार भी पायेगा।
पर ये सब बातें कहीं
तुम उससे कहना नहीं।
अब कुछ ऐसी युक्ति हो,
कि तुम्हारी भी मुक्ति हो।

सुमुख : बड़ी कृपा है आप की;
शोभन—

मुखिया : शान्ति कुछ पाप की?
उसकी सीधी गैल है,
धन तो तन का मैल है!
तुम यों ही अघ-मुक्त हो,
हुए अभी दल-भुक्त हो।
लोकप्रियता के लिए,
न कि सक्रियता के लिए,
बहुत तुम्हीं से हैं घुसे।

सुमुख : शोभन—

मुखिया : रहने दो उसे।
चाहो तो तैयार हो;
तुम इस या उस पार हो।

सुमुख : जो कुछ कहिए मैं करूँ,
किन्तु न जीते जी मरूँ।
शोभन तो—

मुखिया : बस चुप रहो;
जो कुछ मैं पूछूँ कहो।
टले सहज में यह विपद,
मिले राज्य में उच्च पद।

सुमुख : तभी न शोभन—

मुखिया : फिर वहीं!
वह तुम-सा आतुर नहीं।
पूछ उसे देखो न तुम;
अपना-सा लेखो न तुम।
कुछ न कहेगा वह कभी,
नहीं समझते तुम अभी।
मानी है वह एक ही,
उसका गुण है टेक ही।
तुमने उससे कुछ कहा
और न उसने यह सहा
कि तुम उसी के सम बनो,
अथवा कुछ ही कम बनो।
तो दल-भेदी सिद्ध कर,
कोटि वचन शर-विद्ध कर,

तुमको वही ठगायगा,
दल से दूर भगायगा।
रहो न तुम भी मौन फिर,
किन्तु सुनेगा कौन फिर?
वह सबका विश्वस्त है;
मघ का दक्षिण हस्त है।
तब न कहीं के तुम रहे,
बीच धार में ही बहे।
दल का दल की घात कुछ
कहे, तभी है बात कुछ।
सुनो, पास के क्षेत्र हों
और दूर के नेत्र हों।

सुमुख : पर शोभन—

मुखिया : तुम मूढ़ हो;
अनहित पर आरूढ़ हो।

सुमुख : लीजे पकड़ा कान अब,
छोड़ा मैंने ध्यान सब।
कैसे छूटेगी विपद?
और मिलेगा उच्च पद?
शोभन—जाने दो इसे,
कहिए कि मैं करूँ जिसे।

मुखिया : काम नहीं यह कुछ विकट,
जाना होगा नृप-निकट।
वहाँ खड़े रहना तनें;
निज दल के साक्षी बनें।
जहाँ साक्ष्य देकर हटे,
अधिकारी बनकर डटे!

सुमुख : क्या कहना होगा भला?
रुद्ध न हो जावे गला?
शोभन—मैं भूला अरे,
अब भूलूँ तो माँ मरे!

मुखिया : बतला देगा वह सभी
तुम्हें ग्राम-भोजक तभी।

अभी मिला दूँ मैं, चलो,
यह न हो कि फिर तुम छलो?

सुमुख : शपथ मुझे है आपकी,
और सगे निज बाप की,
पर शोभन–जिह्वा गले,
अब भूलूँ तो मुँह जले।

उद्यान का एक भाग

[सुरभि धीरे-धीरे गाती है]

(गीत)

प्रेम करता है तो कर त्याग,
नहीं तो है वह कोरा राग।

प्रकट कर चित्त, न अपनी चाह,
भरम खो दे न मरम की आह।
सिन्धु-सम सह तू अन्तर्दाह,
और रह धीर, गभीर, अथाह।

बुझे तुझमें ही तेरी आग;
प्रेम करता है तो कर त्याग।

(सहसा मघ का प्रवेश)

मघ : सुरभि, यह गीत कैसा है?

(सुरभि चौंकती है)

सुरभि : कहूँ क्या मैं कि ऐसा है?
सुना था याद हो आया।

मघ : इसी से क्या इसे गाया?
श्रवण कर और गाऊँ मैं,
इसे थोड़ा बढ़ाऊँ मैं।

(गान)

सिद्धि की आशाओं को जीत
जन्म, तू साधन में ही बीत।

गगन-सा आप यहाँ तक रीत
कि सब हो तुझमें भरा प्रतीत!

और सब में हो तेरा भाग!
प्रेम करता है तो कर त्याग।

सुरभि : यही है रीति कहने की,
यही है रीति रहने की।
नहीं यह साधना सबकी,
तदपि आराधना सबकी।

मघ : सुरभि, अब यह बता मुझको
कि क्या कुछ दुःख है तुझको?

सुरभि : मुझे? क्या दुख मुझे? प्रभुवर,
तुम्हारी है कृपा जिस पर।
तुम्हारे भाव चिन्तन कर
सुखी है कौन मुझ-सा पर?

मघ : बड़ाई क्या करूँ तेरी?
सहायक तू बड़ी मेरी।
कि मैं जो भार लेता हूँ।
तुझे ही सौंप देता हूँ।
जहाँ सेवा अपेक्षित है
वहाँ झट तू उपस्थित है।
सनाथाश्रम यहाँ मेरा
बना है वस्तुतः तेरा
नहीं तू काम से थकती,
विजन-सा है तदपि तकती।
तुझे कुछ सोच निश्चय है;
कि कुछ संकोच निश्चय है।
करूँ वर-खोज मैं, पहले,
कथन जो हो तुझे कह ले।
न तू यों लाज से लच जा,
बचे जिस युक्ति से बच जा।

सुरभि : वृथा मेरे लिए श्रम है,
मुझे अच्छा यही श्रम है।

कुमारी ही रहूँगी मैं,
तदपि कैसे कहूँगी मैं?—
यही भय था बड़ा मुझको,
तदपि कहना पड़ा मुझको।
कहा, हलकी हुई अब मैं;
कहो जो सो करूँ सब मैं।

मघ : किया यह उग्र निश्चय क्यों?
करेगी तू न परिणय क्यों?

सुरभि : क्षमा हो धृष्टता मेरी,
तुम्हारी हूँ चरण-चेरी।
तुम्हीं कह दो कि किस भय से
विमुख तुम आप परिणय से?

मघ : करूँगा मैं न जो कुछ कह,
करेगी क्या न तू भी वह?

सुरभि : नहीं निज शक्ति है मुझमें,
तुम्हारी भक्ति है मुझमें।

मघ : विमुख हूँ ब्याह से कब मैं?
करूँगा देखना जब मैं।

सुरभि : करोगे जानती हूँ यह,—
पिता का जानकर आग्रह;
सुना सब आप मैंने है।
किया यदि पाप मैंने है,
मुझे दो दण्ड कितना ही,
बता दो किन्तु इतना ही—
स्त्रियाँ क्या हेय हैं ऐसी
समझते हो कि तुम जैसी?

मघ : सुरभि, अन्याय मत कर तू;
न रख यह दोष मुझ पर तू।
स्त्रियाँ हैं देवियाँ मेरी;
न भोग्या हैं, न वे चेरी।
नहीं माँ ध्येय क्या मुझको?
कि तू ही हेय क्या मुझको?
न तन-सेवा, न मन-सेवा,
न जीवन और धन-सेवा,

मुझे है इष्ट जन-सेवा,
सदा सच्ची भुवन-सेवा,
न होगी पूर्ण वह तब तक।
न हो सहधर्मिणी जब तक।
करूँगा ब्याह मैं इससे,
बनूँ सच्चा गृही जिससे।
चुनेगी तू स्वयं कन्या—
कि जैसी आप तू धन्या।
कहीं यह इष्ट हो तुझको
कि तू मन से वरे मुझको।
सहज तो कार्य्य अपना यह,—

सुरभि : अरे फिर आर्य्य, सपना यह!

मघ : न सपना है, न विस्मय है,
वृथा संशय वृथा भय है।
समझ ध्रुव सत्य तू इसको,
करूँ साक्षी कहे जिसको?

सुरभि : तरणि तुम हो नभोगामी,
धरणि की धूलि मैं स्वामी!
तुम्हारी सहचरी जो हो
बड़ी बड़भागिनी सो हो।
रहूँ बस अनुचरी-सम मैं,
न मानूँगी यही कम मैं।
न छोड़ूँगी चरण ये दो,—
करे कोई वरण ये दो।
न छोड़ूँगी, न छोड़ूँगी!
इन्हीं पर जन्म जोड़ूँगी!

मघ : उठो भद्रे, न कातर हो,
वरा मैंने तुम्हें वर हो।
मुझी-सा तोष तुम पाओ,
करें मिल लोक-हित आओ।

(नेपथ्य में)

मरा रे हाय! मैं जीता!
मरे से हूँ गया-बीता।
शरण किसके कहाँ जाऊँ?

किसी को देख भी पाऊँ?

मघ : (चौंककर) अरे, यह कौन
पीड़ित है?

सुरभि : स्वयं ही प्राप्त पर हित है!

मघ : चलो इसको सँभालें हम,

सुरभि : यही व्रत नित्य पालें हम।

(जाकर और देखकर)

मघ : अरे, यह पान्थ है कोई
कि जिसने दृष्टि है खोई!

सुरभि : नहीं आँसू बहाता यह
रुधिर से है नहाता यह!

मघ : हुआ क्या आँख में इसको?

पथिक : पुकारूँ हाय! अब किसको?

मघ : पथिक, ठहरो, न घबराओ,
स्वगृह समझो यहाँ आओ।
रहो, मैं आप आता हूँ;
तुम्हें निज-संग लाता हूँ।
कहो, तुमको हुआ यह क्या?

पथिक : बताऊँ मैं कथा वह क्या!
यहाँ का ग्राम-शासक है
कि हिंसा का उपासक है!
अभी वह अश्व पर चढ़कर
कहीं था जा रहा बढ़कर।
मिला मैं सामने ज्यों ही
हुआ बस उग्र यम त्यों ही।
बँधा यह नेत्र था मेरा,—
जिसे है शोध ने घेरा।
न था मैं हाय! कुछ काना,
तदपि उसने वही माना!
गया मुझको सताकर वह,—
शगुन बिगड़ा बता कर वह।
उसी ने—हाय! बेदरदी—
कशा से यह दशा कर दी!
''तुझे जीता न छोड़ूँगा;

खुली भी आँख फोड़ूँगा।
अदिन थे आज से तेरे,
पड़ा तू सामने मेरे।''
कटी है भौंह, कटि टूटी,
कदाचित आँख भी फूटी!

सुरभि : हरे, अन्याय ये ऐसे
कहो तो, सह्य हो कैसे?

मघ : सुरभि आक्षेप रहने दो;
न अब यह रक्त बहने दो।
करो उपचार, जल लाओ,
इन्हें ही ले चलें आओ।

सुरभि : पथिक, मुझको बहन समझो,
न अपनी स्थिति गहन समझो।
(आँचल से रक्त पोंछकर आँख देखती है)
कुशल की दैव ने तब भी,
बची है तारिका अब भी।
चलो, मेरा सहारा लो;
अपेक्षित साज सारा लो।

पथिक : रहो कोई, सुखी तुम हो।
कि जो पर-दुख-दुखी तुम हो।
[दोनों, दोनों ओर से सहारा देकर पथिक को उद्यान के भीतर एक घर की ओर ले जाते हैं]

एकान्त

मघ : (गान)
मन, अपने को आप सँभालो,
कौन कहाँ क्या करता है तुम
इसे न देखो भालो।

कोई क्रोध-विरोध करे तो
उधर दृष्टि मत डालो,
जो पथ शोध लिया है तुमने
बस उसका व्रत पालो।

ढले न कोई तुम पर, सब पर
तुम अपने को ढालो,

कायर हो, कर्त्तव्य कठिन यदि
किसी युक्ति से टालो।

मेरा प्रयत्न पूरा
चाहे रहे अधूरा
पर मैं उसे करूँगा;
सब विघ्न-भय तरूँगा।
फल हो न हाथ मेरे,
कर्त्तव्य साथ मेरे।
वैफल्य का वृथा भय,
है कर्म्म-बीज अक्षय।
मेरे अनेक संगी
यदि हैं अनेक रंगी
तो भी न मैं टलूँगा,
निज मार्ग पर चलूँगा।
कोई मुझे न माने,
जो हूँ वही न जाने,
तो भी विरत न हूँगा;
सब शान्ति से सहूँगा।
जो हूँ वही रहूँगा,
यह अन्त में कहूँगा—
मैंने स्वधर्म्म पाला,
फिर और क्या कसाला;
(शोभन का प्रवेश)
शोभन, वयस्य, आओ,
क्या वृत्त है, बताओ।

शोभन : मैं और क्या बताऊँ
यदि आज मृत्यु पाऊँ
तो लाज से बचूँ मैं!
किस ब्याज से बचूँ मैं?

मघ : यह क्या, व्यथित न हो यों;

तुम व्यग्र हो कहो क्यों?

शोभन : गायें गभीर! सारी
चोरी गयीं तुम्हारी।
हमने उन्हें चुराया,
अति दूर है दुराया।

मघ : आक्षेप क्यों कहो फिर?
क्यों तुम अधीर अस्थिर?
छोड़ो विषाद भारी,
क्या वे नहीं तुम्हारी?

शोभन : पितृ-लभ्य पुत्र पावे,
यह सिद्ध सत्य भावे,
तो और क्या कहूँ मैं,
तुम दण्ड दो, सहूँ मैं।

मघ : दूँगा, अवश्य दूँगा,
कुछ दण्ड-रूप लूँगा।

(आलिंगन करके)

अन्याय आप पर तुम,
आक्षेप बाप पर तुम,
देखो, कभी न करना;
निर्द्वन्द्व हो विचरना।

(शोभन का रोदन)

भाई, सहिष्णु हो तुम,
बस आत्म-जिष्णु हो तुम।

शोभन : पर लोग क्या कहेंगे;
क्यों मौन वे रहेंगे?

मघ : अपवाद से डरोगे
तो काम क्या करोगे?

शोभन : अन्याय किन्तु ऐसे
देखूँ समक्ष कैसे?

मघ : कुछ भी उन्हें न लेखो,
निज लक्ष्य मात्र देखो।
राजर्षि एक इन थे,
तप कर रहे कठिन थे।
आई उन्हें डिगाने

रम्भा उसी ठिकाने!
वे काम से रीझे,
पर क्रोध मान खीझे।
तो भी डिगे सही वे,
थे अर्द्ध निग्रही वे।
सब ओर दृढ़ रहो तुम,
जो हो उसे सहो तुम।

शोभन : सब सह्य मैं सहूँगा,
कुछ भी नहीं कहूँगा।
पर तुम तनिक विरत हो,
मन मात्र से निरत हो;
बस फिर विपक्ष आवे,
जी भर मुझे सतावे!

मघ : शोभन, कृतज्ञ हूँ मैं?
पर धर्म त्याग दूँ मैं?
तुमसे यही कहूँ मैं
तो क्या सही कहूँ मैं?
हम-तुम जुदे नहीं हैं,
जुग हैं, जहाँ कहीं हैं।

शोभन : निन्दा नहीं अकेली,
फूली, विरोध-बेली।
फल गुप्त फल रहे हैं,
षड्यन्त्र चल रहे हैं?

मघ : हम आप खायँ मीठे,
फिर कौन खाय सीठे?
अब यह विषय रहे बस,
जो जो कहे, कहे बस।

शोभन : चिन्ता तुम्हें न भय की,
अपने किसी विषय की।
मैं भी पता लगा लूँ,
सन्देह सब भगा लूँ।
तब और कुछ करूँगा;
धीरज अभी धरूँगा।

मघ : गायें गयीं जहाँ हैं

सानन्द तो वहाँ हैं?

शोभन : मैं आप देख आऊँ
फिर और सब बताऊँ।
रहना सजग सुमुख से,

मघ : जाओ, वयस्य सुख से।

(शोभन जाता है)

जिस तात का तनय यह
चाहे करे अनय वह
है वन्दनीय फिर भी,
अभिनन्दनीय फिर भी।
बाहर गये पिता हैं,
माँ धेनु-चिन्तिता हैं।
यह सब कहीं सुनेंगी
तो शीश वे धुनेंगी।
दीखे न क्यों अँधेरा,
वश क्या परन्तु मेरा?
जो आप कर रहा मैं
क्या पाप कर रहा मैं?
सन्तोष यह करें वे
तो धैर्य ही धरें वे।
पर अब विवाह करना
है दुःख में उतरना।
क्या ठीक है कि कब क्या?
यों ही रहूँ न तब क्या?
पर क्या सुरभि कहेगी?
कैसे कहाँ रहेगी?
जाऊँ, उसे मनाऊँ,
अपनी दशा जनाऊँ।

(सुमुख आता है)

सुमुख : बैठो अहो! यहाँ तुम!
झटपट चलो वहाँ तुम।
घर जल रहा तुम्हारा,
वह दूर धूम-धारा!
माँ व्यग्र हो रही हैं,

निरुपाय हो रही हैं।
जन यत्न कर रहे हैं,
भर नीर झर रहे हैं।
पर हानि क्या रुकी है?
भरपूर हो चुकी है।
अनुमान है न लेखा,
मुझसे गया न देखा।
आया तुम्हें बुलाने,
तुम हो यहाँ भुलाने!

मघ : घर क्या स्वयं जलूँगा
फिर भी न मैं टलूँगा।
जब एक दिन मरूँगा
तब क्यों कभी डरूँगा?

(प्रस्थान)

सुमुख : यह आत्म-तेज कैसा?
देखा-सुना न ऐसा!

मेंड़

[कुछ लोग]

पहला : यह कैसा अन्याय!
दूसरा : पर है कौन उपाय?
तीसरा : त्यागो बस यह राज्य।
चौथा : सचमुच है यह त्याज्य।
पाँचवाँ : पर अपना घर-बार?
कृषि एवं व्यापार?
पहला : सब हैं अपने बाद,
रक्खो इसको याद।
दूसरा : जन्मभूमि यह हाय!
तीसरा : तो भोगो अन्याय!
दूसरा : करें न कुछ प्रतिकार?
चौथा : क्या तुम हो तैयार?
तीसरा : लूँगा मघ का मार्ग।

पहला : वही अनघ का मार्ग।
दूसरा : हूँ मैं भी सन्नद्ध।
पाँचवाँ : होगे तुम भी बद्ध!
पहला : इसकी क्या परवाह?
दूसरा : क्या साहस है वाह!
तीसरा : साहस की क्या बात?
कौन सहे उत्पात?
पाँचवाँ : सचमुच मघ निर्दोष,
किन्तु दैव का रोष।
चोरी, आग प्रचण्ड,
अब कारागृह-दण्ड!
पहला : किन्तु धन्य वह वीर,
हुआ न तनिक अधीर।
चौथा : सैनिक हैं सब बीस;
पाँचवाँ : जँचते हैं चालीस!
चौथा : पहने हैं क्या वस्त्र,
पाँचवाँ : लिए सभी हैं शस्त्र।
चौथा : हैं कैसे विकराल,
पाँचवाँ : जैसे हों सब काल!
चौथा : अश्वारूढ़ अशेष,
पाँचवाँ : सब के सब सम-वेश।
चौथा : टापों का वह नाद,
पाँचवाँ : भय-भेरी का वाद।
चौथा : उड़ी गाँव की धूल!
पाँचवाँ : बहे यथा वातूल।
चौथा : लगा ग्रहण-सा झंप
पाँचवाँ : अब भी है हृत्कम्प!
पहला : पर मघ को है धन्य,
यह सब समझ अगण्य,
दल-युत वह द्युतिवन्त,
बन्दी बना तुरन्त।
तीसरा : अचल पूर्व-सा ठीक,
सौम्य शान्त निर्भीक।
दूसरा : धृत जन थे तैंतीस।

चौथा : किन्तु रहे अब तीस।
पाँचवाँ : छूट गये हैं तीन।
पहला : सुमुख आदि अति हीन।
दूसरा : छूटे कैसे हाल?
चौथा : दे-लेकर कुछ माल।
दूसरा : अटल रहे सब अन्य।
पहला : पिया उन्हीं ने स्तन्य।
तीसरा : शोभन का क्या हाल?
पाँचवाँ : वह है उसका लाल
जिसका इसमें योग,
मिले और भी लोग।
चौथा : शोभन तो है गुप्त,
कहीं मौज से सुप्त।
तीसरा : किन्तु छिपा क्या सोच?
दूसरा : कुछ लज्जा, संकोच।
पहला : अब फिर अत्याचार
होंगे उसी प्रकार।
तीसरा : मघ ने मानो आप
मेटे थे सब पाप।
चौथा : पर है कौन उपाय?
पाँचवाँ : नृपति करे सो न्याय।
पहला : न्याय यही यदि हाय!
तो क्या है अन्याय?
चौथा : पर नृप को क्या ज्ञात,
क्या है सच्ची बात।
दूसरा : चलो कहें कुछ लोग।
पाँचवाँ : देगा कौन सुयोग?
चौथा : अधिकारी ये दुष्ट
होंगे उलटे रुष्ट।
पहला : तो फिर किसका मोह?
ठानेंगे विद्रोह?
पाँचवाँ : भाई, धीरे बोल,
यों ही मुँह मत खोल।

चौथा : रहे अभी यह बात,
दूसरा : होने दो अब रात।
होगा तभी विचार,
सोचेंगे प्रतिकार।
चौथा : रहो न अब एकत्र
पाँचवाँ : संकट हैं सर्वत्र।

दग्ध-गृह

[मघ की माँ और सुरभि]

माँ : चोरी, फिर गृह-दाह साथ ही यह हुआ!
मघ से ऐसा कौन दोष दुस्सह हुआ?
क्या उसके निष्काम कर्म का फल यही?
मैं अभागिनी हाय! आज भी जी रही!
सुरभि : माँ, पत्थर का हृदय करो कातर न हो;
जो कुछ दे भगवान, धैर्य-पूर्वक सहो।
जब हों कर्म्म सकाम, फलाफल हैं तभी;
डिगते हैं क्या धीर मृत्यु से भी कभी?
साधन-पथ है कठिन विघ्नमय श्रेय है;
पर पा सकता कभी उसे क्या प्रेय है?
फिर भी कोई विश्व विधाता है कहीं
तो ऐसा अन्याय देख सकता नहीं।
रह न सकेगा किये बिना प्रतिकार वह;
मुझको है विश्वास अटल इस बार यह।
यह मेरा विश्वास कहीं बेठीक है
तो फिर सारा शास्त्र-समूह अलीक है!
माँ, तुमको भी नहीं यही विश्वास क्या?
निष्फल होंगे अयुत आर्त निश्वास क्या?
माँ : भोजक के घर एक बार जाऊँ कहीं
तो क्या उसको वहाँ देख पाऊँ नहीं?
सुरभि : जाने दूँगी किन्तु न मैं तुमको वहाँ;
जाने में अपमान समझती हूँ जहाँ।

माँ : बेटी, क्या सम्मान पुत्र से है बड़ा?
सुरभि : हाँ! माँ, यह भी आज मुझे कहना पड़ा।
छोड़ो निज सम्मान भले ही तुम अभी,
पर उनका अपमान न होने दो कभी।
माँ : तो बेटी, क्या करूँ और जाऊँ कहाँ?
सुरभि : हैं उनके प्रिय कर्म और आश्रम जहाँ।
माँ : वहीं चलूँगी, यहाँ शेष ही क्या रहा?
सुरभि : माँ, तुमने ही नहीं विषम संकट सहा,
माताएँ बहु यहाँ और भी रो रहीं;
सम-दुःखिनी अनेक तुम्हारी हो रहीं।
माँ : यही सोच तो मुझे और भी खल रहा,
सुरभि : पर यदि तुम हो विकल उन्हें क्या बल रहा?
माँ : तो अब मघ से मिलूँ न मैं जाकर वहाँ?
आने देगा कौन उसे बेटी, यहाँ!
विस्मय है बस यही कि बन्दी-वेश में,
लाये क्यों वे उन्हें न दग्ध-निवेश में?
सुरभि : जिसमें उनको देख और तुम भी जलो!
और हँसें वे—अरे, देख लो यह चलो!
(आगे मुखिया और पीछे बन्दी मघ दीख पड़ते हैं)
मुखिया : मघ की माँ सन्देह तुम्हें मुझ पर रहे,
जो कहना हो जिसे क्यों न मुझसे कहे,
पर मैं मघ को यहाँ, जिस तरह बन पड़ा,
लाया; मिल लो और करो अब जी कड़ा।
खेद है कि सब और यत्न निष्फल गये,
कर्कश बन्धन छुड़ा सका मघ के न ये!
सुरभि : प्रमुख महाशय बड़ी कृपा है आपकी;
सुध रखते हैं आप दीन-सन्ताप की!
मघ : पद-रज दो माँ, हाथ बँधे हैं दास के;
डिगा न पावें त्रास दूर के, पास के।
तुम मेरी माँ और तुम्हारा जात मैं;
कहूँ सदा के लिए और क्या बात मैं।
माँ : मैं भी सुनना नहीं चाहती अन्य कुछ—
सुरभि : इससे बढ़कर नहीं दूसरा धन्य कुछ।
माँ : जाओ बेटा, दण्ड मिले सो तुम सहो,

अपने व्रत पर अटल अचल यों ही रहो।
औरों के ही लिए जगत में तुम जिये,
और मरे तो उन्हीं अभागों के लिए!
पुरस्कार की जगह दण्ड तुमको मिला,
क्या विस्मय फिर कि जो हृदय मेरा हिला?
तुम्हें न हो, पर मुझे इसी का खेद है,
कौन जानता मौन भाग्य का भेद है!
गहने होते जहाँ, वहाँ बन्धन कड़े!
फिर भी तुम ढीले न पड़े, अविचल खड़े!!
मेरी कोख कृतार्थ हुई जनकर तुम्हें,
अब हो कोई पाप-पतित हनकर तुम्हें।
नहीं मुझे ही पुत्रशोक सहना पड़ा;
बहुतों को है इसी भाँति रहना पड़ा!
मुझको तो है गर्व तुम्हारे कर्म पर,
मेरा सुत बलिदान हुआ है धर्म्म पर।
माना, दारुण शोक सहूँगी वत्स, मैं,
पर गौरव के साथ रहूँगी वत्स मैं।
सबको है यह ज्ञात कि तुम निर्दोष हो;
मेरे लुटते हुए सुकृत के कोष हो!

(सिर झुकाकर रोना)

मुखिया : दोषादोष विचार भूप का कार्य्य है।
सुरभि : पर उसमें भी न्याय-बुद्धि अनिवार्य्य है।
मुखिया : राजा जो कुछ करे वही तो नीति है।
सुरभि : और प्रजा जो करे वही अनरीति है?
मुखिया : सुरभि, राज्य की नीति जिसे भावे नहीं,
राज्य छोड़ वह दूर चला जावे कहीं।
अथवा यदि वह वहीं जानकर भी रहे
तो जो कुछ आ पड़े धैर्य-पूर्वक सहे।
सुरभि : प्रमुख महाशय जाय प्रजा ही क्यों कहीं?
ऐसा नृप ही जाय राज्य से क्यों नहीं?
स्वयं प्रजा के सदाचार जाने न जो,
अथवा उसके धर्म-कर्म माने न जो।
मुखिया : तुम लड़की हो अभी, करो बातें न ये।
सुरभि : होने दीजे आप वृद्ध घातें न ये।

मघ : लौट न आवें पूज्य पिता जब तक यहाँ,
तुम पर माँ का भार सुरभि तब तक यहाँ।
कह देना तुम यही प्रणति युत तात से—
टला तुम्हारा सुत न किसी भी घात से।
उसने ऐसा किया नहीं कुछ भी कहीं
जो कि तुम्हारे पुत्र-योग्य होता नहीं।

सुरभि : कह दूँगी; फिर उन्हें इन्हें भी क्लेश क्या?
बतला दो अब कि है मुझे आदेश क्या?

मघ : तुमसे मैं क्या कहूँ—सदैव सुखी रहो।

सुरभि : यह तो है अभिशाप, अहो ऐसा न हो!
जो सब कुछ कर रहे तुच्छ सुख के लिए,
सुख का यह आशीष उन्हीं को चाहिए।
इष्ट मुझे है यही—सहूँ शत दाह मैं,
चैन न पाऊँ, करूँ न फिर भी आह मैं।
विश्व-वेदना विकल करे मुझको सदा,
रक्खे सजग सजीव आर्त्ति या आपदा!
मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो,
जीवन ज्वलित कृशानु-समान पुनीत हो!
मनुष्यत्व से हमें गिरादे जो कभी
ऐसे सुख को लात मारती हूँ अभी!

मुखिया : क्या पागल हो गयी अहो यह बालिका?

मघ : सुरभि शान्त हो, तुम मेरी व्रत-पालिका।

कारागार

[ग्राम-भोजक की स्त्री]

स्त्री : निविड़ तम छाया है सब ओर,
श्वान ही करते हैं अब शोर।
दीखती है ऊपर से शान्ति,
किन्तु भीतर है कैसी क्रान्ति!
भरा है भय-विषाद से ग्राम;
किसे है अब भी वह विश्राम?
रो रहे हैं कितने परिवार?

शान्त है फिर भी कारागार!
बद्ध जन सबके सब निर्दोष,
तदपि है उन्हें न भय या रोष।
नहीं मघ की माँ आज अधीर—
रो रही मातृभूमि भर नीर!
इधर था भोज और आमोद,
कहीं रोदन हा! कहीं विनोद!
उड़ा है मद्य-मांस भरपूर;
पड़े सब बेसुध मद में चूर।
जानती नहीं इसे मैं आप
पुण्य करती हूँ या यह पाप?
किन्तु यदि फल होगा दुर्द्धर्ष
उसे भोगूँगी स्वयं सहर्ष।

(कारा-कपाट खोलकर)

यही है वह योगी अवधूत,—
पूत जननी का एक सपूत।
बद्ध भी यह मानो स्वच्छन्द
पा रहा है सन्तोषानन्द
इधर देखो, हे बन्दी वीर!
शान्त क्यों हो तुम पंजर-कीर!
काल सिर पर हो रहा प्रतीत,
तदपि तुम नहीं तनिक भी भीत!

मघ : सत्य स्वाभाविक है जो काल
देवि क्यों समझूँ उसे कराल?
मेटता है वह तीनों ताप,
यहाँ इस समय कौन हैं आप?

स्त्री : कौन हूँ, करो तुम्हीं अनुमान?

मघ : आप माँ हैं, मैं हूँ सन्तान!

स्त्री : तुम्हारी माँ होना क्या खेल?
हृदय पर झेल रही जो शेल।
ग्राम भोजक की गृहिणी मात्र
मुझे समझो तुम सौम्य, सुपात्र।
तदपि अब तक थी निस्सन्तान,
दिया तुमने मुझको वह दान।

तुम्हारे सहचर-गण संयुक्त
तुम्हें करने आयी हूँ मुक्त।
उठो झट, करो यहाँ न विलम्ब,

मघ : फलेगा इसका फल क्या अम्ब!

स्त्री : मधुर मृदु हो वह या कटु क्रूर,
उसे भोगूँगी मैं भरपूर।

मघ : किन्तु अनुचित है ऐसा मोह,
आप जो करें स्वामि-विद्रोह।

स्त्री : सह्य है मुझे नरक-सन्ताप,
कटे उनका अपना कुछ पाप।

मघ : हमीं हों यदि पापी पाषण्ड
न पावें तो क्यों सचमुच दण्ड?

स्त्री : मनुज अपनी मति के अनुसार
किया करता है सभी विचार।
तुम्हारे सदय हृदय की शुद्धि
कह रही मुझसे मेरी बुद्धि।

मघ : आप अपना निश्चित मत सोच
भले ही कहें बिना संकोच।
आपको नहीं किन्तु अधिकार
कि खोलें मेरा कारा-द्वार।

स्त्री : कहूँ सो करूँ नहीं मैं सिद्ध,
मानती हूँ मैं इसे निषिद्ध।

मघ : किन्तु यह है चोरी का काम।

स्त्री : तदपि यदि अच्छा हो परिणाम?

मघ : लिया मैंने परिणाम विचार,—
पुनर्बन्धन—फिर कारागार।
न हूँगा मैं छिपने को मुक्त;
रहूँगा व्रत में ही उद्युक्त।
और फिर धृत हूँगा तत्काल;
छूटने से क्या होगा हाल?

स्त्री : विपुल है वसुधा का विस्तार,
चले जाओ अन्यत्र उदार!
जहाँ पर करे न राज्य निरोध,
न ठाने कोई वैर-विरोध।

वहाँ जाकर पालो निज धर्म्म,
करो लोकोपकार—मय कर्म्म।

मघ : मौत टालूँ अपनी इस भाँति?
किन्तु माँ भागूँ मैं किस भाँति?
अपेक्षा है मेरी इस ठौर,
कहो, फिर जाऊँ मैं किस ठौर?
फेर लूँ जन्मभूमि से नेत्र?
जहाँ है मेरा कर्म्म क्षेत्र।
लगाकर मैं विदेश पर कान
करूँ अनसुना स्वदेशाह्वान?

स्त्री : तुम्हें भी है क्या देश-विदेश?

मघ : आपका है यह न्याय-निदेश!
किन्तु है मेरा देश विपन्न,
विकृत बहु दोषों से आच्छन्न।
इसी से उस पर इतना लक्ष्य,
रुग्ण जन ही हैं पहले रक्ष्य,
नहीं कर सकता यद्यपि त्राण,
किन्तु दे सकता हूँ मैं प्राण।
न होगा निष्फल यह बलिदान;
क्षमा करिए इतना अभिमान।

स्त्री : तुम्हारी बातें सुनकर खीझ
और होती है मुझको रीझ।

मघ : पुत्र हूँ मैं प्रिय किन्तु अवाध्य!

स्त्री : नहीं सचमुच तुम मेरे साध्य।
चलूँ तब मैं अब निपट निराश,
हार बन जाय तुम्हारा पाश।

(मघ मस्तक झुकाता है)

मगध-राजधानी

[अमोघ]

अमोघ : दुःख भी सुख-सा भ्रमण का भोग्य है;
नित्य नव अनुभव, नया आरोग्य है।

देख लीं मघ-योग्य कन्याएँ कई,
रीतियाँ जानी अनेक नई-नई।
और मैंने तीर्थ-सेवन भी किया,
जो बना सो दान श्रद्धा से दिया।
किन्तु फिर भी गेह-चिन्ता है मुझे,
प्राण अब भी हैं विशेष बुझे-बुझे!
ब्याह कर मघ का उसे गृह-भार दूँ
और वाणप्रस्थ का व्रत धार लूँ।
किन्तु अब जब आ गया इस ठौर मैं
घूम लूँ यह राजधानी और मैं।
राज-दर्शन तो भला होंगे कहाँ?
कुछ अपेक्षा भी नहीं उनकी यहाँ।
राज्य में छाया महा मद-मोह है,
कुछ कहो तो बस वही विद्रोह है!

(एक जन से)

सुजन, सुनिए मैं प्रवासी हूँ यहाँ;
योग्य पथिकागार में खोजूँ कहाँ?

जन : सौम्य, सज्जन, वह यहाँ से पास है,
नाम उसका विदित नित्य-निवास है।
श्रीमती राज्ञी हमारी पालिनी
हैं दया की मूर्ति सब गुणशालिनी।
वह उन्हीं की ओर से निर्मित हुआ,
आप ऐसों का अपरिमित हित हुआ।
और क्या उसका पता दूँ आपको,
आइए, मैं ही बता दूँ आपको।

अमोघ : क्या उधर ही आपका गन्तव्य है!

जन : राजपथ पर ही बना वह भव्य है।
मैं वहीं से न्याय-मन्दिर जा रहा,
अब नृपागम का समय भी आ रहा।

अमोघ : देखते हैं राज-काज नरेश क्या?
आह! मेरी बात का उद्देश्य क्या?
राज-काज न भूप देखेंगे भला
तो उसे क्या देखने मैं हूँ चला?

जन : अति चतुर हैं आप, पर यह बात है—

भूप के मन में हुआ प्रतिघात है।
दृष्टि अब सब ओर वे देने लगे;
लोक-रंजन में सुरुचि लेने लगे।
आज तो विद्रोहियों का न्याय है,
दर्शकों का जुड़ रहा समुदाय है।
तीस जन बन्दी युवक लाये गये
जो कि राजद्रोह-रत पाये गये।
पर मिटा विस्मय नहीं मेरा अभी,
भद्र-जन से दीखते हैं वे सभी।

अमोघ : भद्र-जन बन जायँ विद्रोही जहाँ
गूढ़ कारण कुछ-न-कुछ होगा वहाँ।
क्रान्तिकारी ये कहाँ बाँधे गये?

जन : दूर मचलग्राम में धाँधे गये?

अमोघ : हाय! मचलग्राम मेरा ग्राम है।

जन : मुख्य जन का नाम—
(सोचकर)
हाँ, मघ नाम है।

अमोघ : हा! (मूर्च्छा)

जन : अरे, यह जन गिरा क्यों व्यस्त हो?
हे पथिक, आश्वस्त हो, आश्वस्त हो!

अमोघ : दण्ड्य हूँ हे भद्र! मैं, पकड़ो मुझे;
हूँ उसी मघ का पिता, जकड़ो मुझे।
किन्तु मघ पर यह अनृत आरोप है?
कुछ नहीं, यह क्रूर विधि का कोप है!

जन : सत्य है यह तो सुजन, धीरज धरो,
शीघ्र आओ, अब न देर यहाँ करो।

न्याय-सभा

[न्यायासन पर मगधराज, बन्दी मघ आदिक, ग्राम-भोजक, मुखिया और दर्शक जन-समूह]

मगधराज : द्रोही, तुम पर गये मस्त हाथी जो हूले
तुम्हें मारना कहो सभी वे कैसे भूले!

क्या तुम कोई मन्त्र जानते हो, बतलाओ?
मारण के भी विविध यत्न हैं, भूल न जाओ।

मघ : देव, काल-गति भला कहीं परतन्त्र रही है?
हमें किसी से द्रोह नहीं, वह मन्त्र यही है।

मगधराज : द्रोह नहीं? बस करो न बातें भूली-भूली;
देता हूँ मैं तुम्हें दण्ड की सीमा शूली।

(भैरवी रूपिणी सुरभि का प्रवेश)

सुरभि : महाराज धिक्कार तुम्हें धिक्कार तुम्हें है!
न्यायासन का नहीं तनिक अधिकार तुम्हें है!!

(सैनिकों द्वारा सुरभि का घेरा जाना)

(सैनिकों से)

कुत्तो, मुझको चीड़-फाड़ डालो तुम चाहे
किन्तु, तुम्हारे निन्द्य नृपति को कौन सराहे?

(शीघ्रता से रानी का प्रवेश)

रानी : हट जाओ हे शूर, न छेड़ो इस बाला को;
शान्त करो, भगवान शाप की इस ज्वाला को!

(सैनिक हट जाते हैं)

भद्रे न हो अधीर, न्याय का समय अभी है।
अवगत मुझको हुआ अभी वृत्तान्त सभी है।
तू ही है वह शुभा सुरभि सबके मन भाई?
आँधी-सी जो यहाँ दूर से दौड़ी आई।
क्षतच्छिन्न हो गये सुकोमल पद-तल तेरे,
पहुँची सूचक-संग तदपि तू यहाँ सबेरे?
टूटा वह, आ रही यहाँ थी तू जिस रथ में,
साहस टूटा किन्तु न फिर भी तेरा पथ में।

सुरभि : आप कौन हैं? आप कदाचित् नृप की रानी,
कहती है सब प्रजा जिन्हें निज-भूप-भुलानी।
आप सुन्दरी, सती, गुणवती हों कितनी ही,
पर कृतार्थता नारि-जाति की क्या इतनी ही?

रानी : मुझको दे अभिशाप किन्तु भद्रे, सुन तब भी,
महाराज की भूल सँभल सकती है अब भी।

राजा : क्या प्रमाण है कि ये सभी निर्दोष मनुज हैं?

सुरभि : क्या प्रमाण है कि ये सभी दुर्दोष दनुज हैं?

राजा : मैं प्रमाण हूँ आप, कहूँ यदि तो फिर बोलो?

सुरभि : तो तुम साक्षी मात्र, न्याय का दण्ड न तोलो!
दूँगी मैं भी साक्ष्य कि हैं निर्दोष सभी ये;
करते कोई नहीं किसी का अहित कभी ये।
उलटा सबका भला चाहते हैं, करते हैं;
पर-हितार्थ ये नहीं मृत्यु से भी डरते हैं।
केवल मैं ही नहीं, साक्ष्य देंगे सुर सारे;
बोल उठेंगे एक साथ रवि, शशि, ग्रह, तारे।
महाराज, यह बात न भूले कोई भू पर—
कि है और भी एक शक्ति हम सबके ऊपर।
[यथा-क्रम मघादिक और ग्राम-भोजक एवं मुखिया आदि की ओर आँखों से निर्देश करते-करते]
सच्चे-झूठे, भले-बुरे, न्यायी-अन्यायी,
होंगे उसके निकट स्वकर्मों के सब दायी।

रानी : **(राजा के प्रति)**
छले गये हैं प्रभो, आप क्षण धीरज धरिए,
भोजकजी, अब रंग भूमि में आप उतरिये।
कहिए, क्या अपराध किया है इन लोगों ने?
देखा वह अपराध साथ ही किन लोगों ने?

भोजक : देवि, इन्होंने दिये गृहस्थों के घर धरने,
जिसमें जो ये कहें लगें वे सो सब करने।
अपराधी अब दण्ड नहीं पाने पाते हैं,
उन सबको ये बड़े प्रेम से अपनाते हैं।
स्वेच्छाचारी साम्यभाव पर ये मरते हैं,
शान्ति भंग कर आप शान्ति का दम भरते हैं!
कर मिलना भी कठिन हो रहा इनके मारे,
फिरते हैं स्वच्छन्द चोर, डाकू, हत्यारे!
साक्षी मुखिया सुमुख आदि हैं इनके दल के।

रानी : कहो सुमुख, जो तुम्हें ज्ञात हो, किन्तु सँभल के!

सुमुख : **(सिर खुजलाता हुआ)**
देवि, क्षमा हो भूल गया जो याद किया था;
क्यों मुखिया ने मुझे हाय! यह भार दिया था?
शोभन को तो छिपा दिया है कहाँ न जाने,
ठीक कहा है, कभी कुटिल की बात न माने।

सुरभि : सिद्ध हो गया है कि अनृत अभियोग सभी यह।

आँखें हों तो चलो दिखा दूँ और अभी यह—
किये इन्होंने पुण्यकार्य हैं कैसे कैसे,
समझेंगे क्या उन्हें स्वार्थ पर ऐसे ऐसे?
दान किया उद्यान, अनाथागार बनाये,
कितने कूप तड़ाग सँभाले, खने खनाये;
मरते-मरते अयुत अभागे जीव बचाये;
फिर भी इन पर जाल गये थे आज रचाये!
गायें हर ली गयीं और घर भी जलवाया;
यह मिथ्या अभियोग अन्त में है चलवाया।
अब भी कितने दीन दुखी इनसे जीते हैं,
जो मद्यप थे, भक्ति सुधा वे अब पीते हैं।
चोर महाजन हुए, निठल्ले बने सुकर्म्मी,
जो थे ज्वारी धूर्त, बने हैं सच्चे धर्म्मी।
पृथ्वी पर यह सत्य स्वयं ही सिद्ध न होगा।
तो फिर कोई कर्म कदापि निषिद्ध न होगा।

(राजा के अंगरक्षक के रूप में पहले दृश्य वाले चार चोर सामने आते हैं)

एक चोर : महाराज, अपराध क्षमा हो, हम हैं चेरे;
हम चारों ही किन्तु, चोर हैं और लुटेरे।
मघ के वे उपकार भूल सकते हम कब हैं,
जिससे प्रभु के आज अंग-रक्षक हम सब हैं।
अहो अनघ मघ, याद करो, कटि बन्ध तुम्हारा,
बना आज यह पूज्य हृदय का हार हमारा।
हम चारों ने उसे बराबर लेकर पहना,
सोने का यह नहीं, जागने का है गहना।
जिस दिन हम पर दया दृष्टि तुमने दिखलाई
उस दिन से अति घृणा हमें अपने पर आई।
हम अवसर को खोज रहे थे, मिला अचानक;
मृगया में बन गया एक दिन यों ही बानक।

राजा : क्या तुम सब थे चोर, जिन्होंने मुझे उबारा!
जब मुझ पर उस बार सिंह ने छापा मारा।

मघ : इसी भाँति हे बन्धुविपद निज नृप की टालो,
मरने को हैं सभी, धर्म्म मरकर भी पालो।

(पहले दृश्य वाले साधक का प्रवेश)

साधक : मघ ने जिसका त्राण किया था इन चोरों से,
पड़कर अपने आप विपद में सब ओरों से;
महाराज, मैं वही अकर्म्मा कुण्ठित जन हूँ;
किन्तु शीघ्र ही कमा चुका मैं इतना धन हूँ–
दूँ मैं मघ की तौल आप माँगें यदि मोती,
मैं क्या था यदि कृपा न इनकी मुझ पर होती।

मघ : सुखी हुआ मैं सुजन, समुन्नति देख तुम्हारी;
उद्यम हैं तो सुलभ सम्पदाएँ हैं सारी।

(मघ पर प्रहार करने वाले सुर का प्रवेश)

सुर : देवि, आपके अतिथि साधुओं का सेवक मैं,
हूँ यथार्थ में किन्तु हंस-रूपी खल बक मैं।
मैंने मघ का व्यर्थ एक दिन प्राण लिया था,
मघ ने मेरा किन्तु कृपा कर त्राण किया था।
हो सकता क्या कभी उऋण इनसे मैं पापी?
मुझ-सा कोई और न था उस समय सुरापी।

सुरभि : किसने तुमसे कहा था कि तुम इनको मारो?

मघ : प्रतिहिंसा-वश सुरभि, हाय! सौजन्य न हारो,
सुर ने जो कुछ किया सुरा के वश में होकर;
साहस कैसा किया तुम्हीं ने सुध-बुध खोकर?

सुरभि : महाराज, विद्रोह यही है, शूली दीजे!

(शोभन का प्रवेश)

शोभन : मुझको भी सम्मिलित दण्ड में इनके कीजे।
जब ये पकड़े गये, न था उस समय वहाँ मैं;
अनुगामी हूँ, इसी हेतु आ गया यहाँ मैं।

मघ : शोभन, तुम आ गये, कहो कैसी हैं गायें?
आः जाने दो, इधर खड़े हो मेरे दायें।

सुरभि : महाराज, विद्रोह यही है, शूली दीजे!
अभियोक्ता हैं आप, आप ही निर्णय कीजे।

मघ : सुरभि, शान्त हो कहाँ गयी वह क्षमा तुम्हारी?
क्या जीवन, क्या मरण, तुम्हें है भय क्यों भारी?

मुखिया : यह शोभन हो गया आज सचमुच उन्मादी।

रानी : चुप रह पामर, क्रूर, कुटिल, खल, मिथ्यावादी!

मघ : देवि, पिता हैं प्रमुख महाशय इन शोभन के।

रानी : कोई हों पर कृत्य क्षम्य क्या ऐसे जन के?

अच्छा, ठहरो, कहाँ गुप्तचर सूचक मेरा?

(सूचक का प्रवेश)

सूचक : प्रस्तुत है यह दास राज-चरणों का चेरा।

मघ : ऐं, यह तो है वही आँख फूटी थी जिसकी!

सुरभि : पहुँची जो मैं यहाँ दया सो है बस इसकी।
भोजक फिर तो चतुर ग्राम-भोजक ही ठहरा,
कोई निकल न सके, गाँव पर बैठा पहरा!

मघ : मेरा अनुचित पक्षपात यह करे न, भय है।

रानी : भद्र, तुम्हारा व्यर्थ सभी ऐसा संशय है।
विवरण लिखकर मुझे दिया है उसने जैसा;
जाने दो वह रहे अभी वैसा का वैसा।
जो कुछ यह हो चुका उसी से सिद्ध हुआ सब,
केवल निज अभियोग उपस्थित कर सूचक, अब।

सूचक : नहीं आप ही प्रभो ग्राम-भोजक है पापी,
महा सुरापी, लुब्ध, अकारण पर-सन्तापी।
देवी ने आदेश दिया था मुझे कि जाऊँ
देखूँ मैं जो बात जहाँ सो यहाँ बताऊँ।
इस नृशंस ने मुझे अकारण इतना मारा
मर जाता मैं कहीं सुरभि देती न सहारा।
इसने तो थी हाय! आँख ही मेरी फोड़ी,
किन्तु इन्होंने वही नयी-सी करके जोड़ी।
व्रण मिट गया, परन्तु चिह्न रह गया सदा को,
देव, और क्यों कहूँ हाय! मैं उस विपदा को!

राजा : बस रहने दो, दिया गया मुझको भी धोखा;
किन्तु अन्त में खुला सत्य का आप झरोखा।

सूचक : देव, राजविद्रोह दूर है वह भय-दायक,
उलटे हैं ये सभी राज-कर्त्तव्य सहायक।

रानी : स्वयं सिद्ध हो चुका आज यह कि मघ अनघ हैं।

जनता : निश्चय मघ हैं अनघ, अनघ पहले, फिर मघ हैं।

राजा : क्षमा करो हे भद्र, तुम्हें अति कष्ट हुआ है,
पर मेरा भ्रम आज यहाँ सुस्पष्ट हुआ है।

(मघ का बन्धन खोलना)

मघ : देव, परम सौभाग्य आज इस जन सेवी का;
दर्शन मुझको मिला इसी मिष इस देवी का।

इनके रहते हुए राज्य में किसको भय हो?
प्रजा-पालिनी दयामयी देवी की जय हो।

जनता : जय हो!

(मघ के पिता का प्रवेश)

अमोघ : जय हो!

मघ : आह पिता! तुम यहाँ कहाँ से?

अमोघ : ले आया हे वत्स, मुझे संयोग जहाँ से।

(राजा की ओर)

एक मात्र है पुत्र यही मेरा हे स्वामी!

राजा : होंगे शत-शत अमृत-पुत्र इसके अनुगामी।

रानी : और तुम्हारी पुत्र-वधू यह सुरभि हुई है।

(सुरभि का हाथ मघ के हाथ में देते हुए)

जो थी अमृता लता वही अब छुई मुई है!
मघ, अपनी त्रुटि-पूर्ति इसे समझो सुख पाओ।

मघ : जो आज्ञा, हे सुरभि, देव को शीश झुकाओ।

सुरभि : महाराज, आक्षेप क्षमा करिए वे मेरे।

राजा : भद्रे, सब सौभाग्य रहें तेरे चिर चेरे।

(मघ से)

प्रकृत दोषियों को न दण्ड दूँगा मैं, तुम दो।

मघ : उन्हें क्षमा-फल स्वयं आप हे कल्पद्रुम दो!

राजा : मेरे प्रतिनिधि-रूप रहो तुम निज प्रदेश में;
पाओ यों साफल्य सहज निज सदुद्देश में।

रानी : कहो अनघ मघ, करूँ और क्या इष्ट तुम्हारा?

मघ : बस माँ, अक्षय रहे तुम्हारी करुणा-धारा!

चन्द्रहास

चन्द्रहास

पात्र

पुरुष

धृष्टबुद्धि : कुन्तलपुर राज्य का मन्त्री
गालव : कुन्तलपुर के राजपुरोहित एक मुनि
चन्द्रहास : नाटक का नायक
विरोचन, विमर्दन : धृष्टबुद्धि के विशेष सेवक
कुलिन्दक : चन्दनावती का राजा
विचक्षण : कुलिन्दक का मन्त्री
मदन : धृष्टबुद्धि का पुत्र
सुलक्षण : विचक्षण का पुत्र
माधव : विदूषक
कौन्तलप : कुन्तलपुर का राजा
कुछ ब्राह्मण और सेवक

स्त्रियाँ

नियति : भाग्यदेवता
सुगामिनी : धृष्टबुद्धि की स्त्री
विषया : धृष्टबुद्धि की पुत्री
विजया : कुन्तलपुर के सेनापति की पुत्री
मल्लिका, सुशीला, सरला : विषया और विजया की सखियाँ
विलासिनी : मदन की स्त्री

श्रीगणेशाय नमः

चन्द्रहास

प्रस्तावना

नान्दी

[सवैया]

दान करे गुणगान गिरा
पर-निन्दक निष्फल काम रहें।
दक्षिण देव गणेश रहें
बहु विघ्न न क्यों फिर वाम रहें॥
माँ कमला अनुकूल रहे।
धन-धान्य-भरे सद धाम रहें।
भक्षक का भय है न हमें
बस रक्षक राघव राम रहें॥

सूत्रधार : हर्ष का विषय है कि आज की सभा में हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वान् और सहृदय सज्जन उपस्थित हैं। इसलिए मेरा उत्साह भी बढ़ रहा है। मैं चाहता हूँ कि आज कोई नया ही नाटक खेला जाए! क्योंकि—

(भुजंगी)

सदा एक ही दृश्य भाता नहीं,
पुराना नये रंग लाता नहीं।
दृगों के लिए चाहिए नव्यता,
तथा नव्यता के लिए भव्यता॥

तो यह अच्छा होगा कि मैं इस विषय में अपनी प्रियतमा से परामर्श कर लूँ।

(नटी का प्रवेश)

नटी : यह दासी स्वयं ही सेवा में उपस्थित होती है। कहिए, क्या आज्ञा है।

सूत्रधार : अहा! प्रिये, तुम स्मरण करते ही आ गयीं। यह तो सफलता के लिए मुझे बड़ा अच्छा शकुन हुआ, किन्तु तुम कुछ चिन्तित-सी दिखाई देती हो।

नटी : हृदयेश्वर यदि हृदय की बात जान लें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? हमारी पड़ोसिन सुखदेवी का इकलौता बच्चा आज खेलता हुआ न जाने कहाँ चला गया। उसी बेचारे अनाथ का स्मरण करके मेरा मन कुछ चिन्तित-सा हो रहा है।

सूत्रधार : मैं अभी उसकी खोज कराता हूँ। चिन्ता की कोई बात नहीं। देखो—

(शार्दूलविक्रीडित)

है जो एक अनाथ नाथ उसके त्रैलोक्य के नाथ हैं,
कोई हो कि न हो परन्तु हरि तो सर्वत्र ही साथ हैं।
होता है उलटा सु-लाभ जन का कोई करे जो क्षति,
साक्षी है वह धृष्टबुद्धि इसका श्रीचन्द्रहास प्रति॥

[प्रस्थान]

प्रथमांक

प्रथम दृश्य

[कुन्तलपुर]

[धृष्टबुद्धि अपने द्वार पर खड़ा है।]

धृष्टबुद्धि : स्त्रियों के व्रत और पर्वों के मारे मैं तो हैरान हो गया। नित्य दान, नित्य ब्राह्मण-भोजन, कुछ ठिकाना है! और जब तक द्विज देवता भोजन करके दक्षिणा न ले लें तब तक न खाना न पीना। मुझसे तो यह सब बखेड़ा नहीं होता। पर स्त्रियों के आगे एक भी नहीं चलती। उन्हें तनिक में ही मंगल की भावना और तनिक में ही अमंगल की आशंका होने लगती है। आज का तो कहना ही क्या? इस राज्य के पुरोहित महात्मा गालव आकर गृह पवित्र करने वाले हैं, पर वे अभी तक नहीं आये। मुझे इतना अवकाश कहाँ कि खड़ा-खड़ा राह देखा करूँ। उधर ब्राह्मणों को चिन्ता ही क्या? जीते रहें उनके यजमान। वे कमाने वाले हैं ऐसी दशा में खाने की क्या जल्दी!

(नेपथ्य में)

: वाह! तुम तो बड़े अच्छे लड़के हो।

धृष्टबुद्धि : (चौंककर) जान पड़ता है अब महाराज को अवकाश मिला है।
(कुछ ब्राह्मणों के साथ चन्द्रहास का हाथ पकड़े हुए गालव मुनि का प्रवेश)

धृष्टबुद्धि : महाराज! प्रणाम। आज तो बड़ा विलम्ब हुआ।

गालव : स्वस्तिरस्तु। मन्त्रिवर! निस्सन्देह हमें कुछ विलम्ब हो गया। यह बालक बड़ा सुलक्षण है। मार्ग में बालकों के साथ यह खेल रहा था। हम लोग कौतूहलवश थोड़ी देर वहीं ठहर गये थे।

धृष्टबुद्धि : क्यों न हो, महात्मा लोग स्वभाव से ही सरल और उदार होते हैं।

गालव : यह बालक ही ऐसा है कि इसे देखकर विशेष देखने की इच्छा होती है—

(वसन्ततिलक)

सौन्दर्य का विमल हो जिसमें विकास,
होता विशेष उसमें प्रभु का प्रकाश।
निष्पंक बालक मुखों पर श्रीनिवास,
प्रायः सदैव रखते निज चन्द्रहास॥

चन्द्रहास : चन्दहाच तो मेला नाम है।

गालव : (हँसकर) हाँ, तुम्हारी ही तो बातें कर रहे हैं।

धृष्टबुद्धि : बालक को अपने नाम का धोखा हो गया। निस्सन्देह यह भोला-भाला बच्चा बड़ा सुन्दर है।

गालव : मन्त्रिवर! तुम तो जानते ही होगे कि यह किस भाग्यशाली का कुलभूषण है?

धृष्टबुद्धि : (गर्व से) महाराज! मुझे राज-काज से इतना अवकाश कहाँ? कुन्तलपुर की गलियों में न जाने ऐसे कितने अनाथ लड़के मारे-मारे फिरते हैं।

गालव : (विरक्ति से) ऐसा न कहो—

(उपजाति)

अनाथ कोई जग में नहीं है,
त्रैलोक्य का नाथ सभी कहीं है;
क्या ठीक है जो यह मार्गचारी—
बने तुम्हारा विषयाधिकारी॥

सब ब्राह्मण : (हाथ उठाकर) ऐसा ही हो।

धृष्टबुद्धि : (विस्मय और खेदपूर्वक) महाराज! यह अच्छा आशीर्वाद दिया आपने!

गालव : भगवान् की इच्छा। भाग्य की बात।

धृष्टबुद्धि : **(स्वगत)** मानो भगवान् और भाग्य सब कुछ इन्हीं के हाथ में है। कुछ परवा नहीं। देखा जायगा।

गालव : मन्त्रिवर! क्या सोचते हो?

धृष्टबुद्धि : महाराज मैं यह सोचता हूँ कि मेरी सम्पत्ति का अधिकारी तो मेरा पुत्र मदन है।

गालव : भावी प्रबल है, किन्तु मदन के लिए कोई चिन्ता की बात नहीं।

(नेपथ्य में)

(चन्द्रहास, चन्द्रहास, ओ चन्द्रहास! कहाँ गया?)

चन्द्रहास : **(चौंककर गालव से)** मुझे बालक बुलाते हैं।

गालव : अच्छा **(धृष्टबुद्धि से)** मन्त्रिवर! चन्द्रहास के लिए थोड़ी-सी मिठाई मँगाओ।

धृष्टबुद्धि : बहुत अच्छा। **(जाता है)**

गालव : **(ब्राह्मणों से)** देखो, चन्द्रहास की बाल चेष्टाएँ कैसी मनोहारिणी हैं—

(वसन्ततिलक)

है देखता स्थिर कभी यह निर्निमेष,
होता कभी चकित चंचल-सा विशेष।
मानो खिला रुचिर-मंजु-मुखारविन्द—
पीते कभी मधु कभी उड़ते मिलिन्द॥

सब : निस्सन्देह यही बात है।

गालव : **(चन्द्रहास से)** अच्छा, चन्द्रहास! हम तुम्हें एक ऐसा मन्त्र बतलाते हैं कि तुम जो खेल खेलोगे उसी में तुम्हारी जीत हुआ करेगी। बोलो—हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे।

चन्द्रहास : हले लाम, हले लाम, लाम लाम, हले हले। **(सब हँसते हैं)**

एक ब्राह्मण : निस्सन्देह यह ऐसा मन्त्र है कि इसे जानने वाला कहीं हार नहीं सकता।

चन्द्रहास : तो मैं इसे न भूलूँगा। **(फिर पढ़ता है)**

गालव : देखो, चन्द्रहास की मेधाशक्ति कैसी प्रबल है।

ब्राह्मण : निस्सन्देह जैसा रूप वैसा ही गुण। जैसी श्री वैसी ही धी।

(धृष्टबुद्धि का प्रवेश)

धृष्टबुद्धि : **(स्वगत)** आः मेरी ही मिठाई से मेरे भावी शत्रु का मुँह मीठा होगा। **(प्रकट)**
महाराज! यह है मिठाई। **(देता है)**

गालव : (लेकर चन्द्रहास को देते हुए) लो, इसे तुम खाना और अपने साथियों को खिलाना। उस मन्त्र को कभी न भूलना। समझ गये?

चन्द्रहास : समज गया। परनाम।

गालव : जीते रहो। जीते रहो। (चन्द्रहास जाता है)

धृष्टबुद्धि : महाराज! अब भीतर चलकर गृह पवित्र कीजिए। आज तो सचमुच बड़ी देर हुई!

गालव : चलो।

(पटाक्षेप)

द्वितीय दृश्य

[कुन्तलपुर, धृष्टबुद्धि का एक कमरा]

[धृष्टबुद्धि का प्रवेश]

धृष्टबुद्धि : हाँ तो चन्द्रहास मेरी सम्पत्ति–अतुल सम्पत्ति–का अधिकारी होगा? और मेरी सन्तान? फिर उसके लिए क्या है? परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस जन्म में तो मैं ऐसा होने न दूँगा। हाँ, चन्द्रहास मरकर फिर मेरे घर उत्पन्न हो तो मैं नहीं कह सकता। ब्राह्मणों ने बिना कुछ सोचे बिचारे ही वैसा कह दिया है, किन्तु मैं उनके वचन पलट दूँगा–असत्य कर दूँगा। मैं उन्हें दिखला दूँगा कि मेरी सम्पत्ति का अधिकारी वास्तव में मेरा पुत्र मदन ही है। मैंने अपने विश्वासी और विशेष कार्य करने वाले दो मनुष्यों को आज्ञा दे दी है कि दूर, किसी वन में ले जाकर चन्द्रहास को मार डालो। वह तुच्छ बालक जीता भी रहता तो भी मेरा क्या बिगाड़ सकता था? पर सन्देह के अंकुर को उखाड़ डालना ही अच्छा होता है, क्योंकि आज जो अंकुर है वही एक दिन पुष्ट जड़वाला विशाल वृक्ष हो सकता है अथवा आग का एक कण भी योग पाकर धधक उठता है। माना कि वह लड़का पृथ्वी पर सौन्दर्य का एक आदर्श था, पर क्या इससे मैं उसे अपनी सम्पत्ति का अधिकारी बन जाने देता! अच्छा, अब इस चिन्ता को छोड़ूँ। (टहलता है)

(नियति का प्रवेश[1])

नियति : (वसन्ततिलक)

---

1. नियति का प्रवेश सर्वत्र अदृश्य भाव से है। उसे केवल दर्शक देख सकेंगे।

जो पुष्प से मृदु तथा पवि से कठोर,
मैं हूँ वही नियति सुन्दर और घोर!
है कौन जो कर सके गति का निरोध?
मेरा विरोध बस है अपना विरोध॥
मेरे अधीन समझो यह सृष्टि सारी,
मैं रंक को नृप करूँ नृप को भिखारी।
जेता पराजित, पराजित भी विजेता—
होता, जहाँ बस मुझे वह जान लेता॥
जो रामचन्द्र निज पैत्रिक राज्य पाते—
मेरा प्रभाव! वह भी वन ओर जाते।
है भिक्षुता जिन युधिष्ठिर को जिलाती
सौ कौरवों पर उन्हें जय मैं दिलाती!

है कौन भक्षक भला जब रक्षिणी मैं?
हैं कौन रक्षक बनूँ जब भक्षिणी मैं?
मेरे करस्थ रहता वह काल भी है,
मेरी कथा कलित और कराल भी है!
संसार की यह सभी सुख दुःखशीला—
मैं ही सदैव करती उदयास्त-लीला।
मैं ही यथेष्ट सब हूँ रचती-रचाती,
त्रैलोक्य को अँगुलियों पर हूँ नचाती॥

उद्योगि जीव! पहले मुझको मनालो,
जो कार्य हो फिर उसे सुख से बनालो।
है ज्यों सदा उचित उद्यम साध्य दैव,
त्यों दैव साध्य सब उद्यम हैं सदैव॥

श्री चन्द्रहास यह जो अब है भिखारी—
था राजपुत्र यह सर्व सुखाधिकारी।
राजा सुधार्म्मिक पिता इसका भला था,
मैंने परन्तु रण में उसको छला था।

जो हो, प्रसन्न इससे अब मैं हुई हूँ?
निर्मोह नित्य किससे, कब, मैं हुई हूँ?

रे धृष्टबुद्धि! बल है सब व्यर्थ तेरा,
श्री चन्द्रहास पर है अब हाथ मेरा॥

(प्रस्थान)

धृष्टबुद्धि : **(चौंककर)** अरे, मेरी आँखों के आगे यह बिजली-सी क्या चमक गयी और मेरे कान क्यों गूँजने लगे? **(इधर-उधर देखकर)** यहाँ तो कुछ नहीं दिखायी देता। मुझे कुछ भ्रम तो नहीं हो गया? नहीं, भ्रम कैसा? मेरा शरीर अब अवसन्न सा हो रहा है। ओफ! सिर घूमने लगा! यह वायु का विकार तो नहीं है? किन्तु वायु में तो कोई परिवर्तन जान नहीं पड़ता। मालूम होता है, मैं खड़ा न रह सकूँगा! **(द्वार की ओर)**
अरे कोई है? शीघ्र ही वैद्यराज को बुला लाओ। **(लटपटाता हुआ जाता है)**

(पटाक्षेप)

तृतीय दृश्य

[एक गहन कानन]

[चन्द्रहास को लिये हुए विमर्दन और विरोचन का प्रवेश]

विमर्दन : बस, यहीं। **(पत्तों की खड़खड़ाहट)**

विरोचन : अरे यह क्या?

विमर्दन : **(इधर-उधर देखकर)** है तो कुछ नहीं, पर जरा और आगे बढ़ चलो। **(चलते हैं)**

विरोचन : मुझे ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई हमारे साथ-साथ चल रहा हो।

विमर्दन : पैरों की आहट-सी तो मुझे भी मालूम होती है। अच्छा, ठहरो, सुनें। **(दोनों कान लगाकर सुनते हैं)**

विरोचन : कुछ नहीं है।

विमर्दन : हाँ, भ्रम ही था। इस विजन वन में कौन आने लगा?

विरोचन : और दैव के सिवा हमारा आना कोई जानता भी तो नहीं।

(फिर चलते हैं)

विमर्दन : **(चौंककर)** अरे, फिर आहट!

विरोचन : तूने ठीक कहा। मुझे भी मालूम होती है। इस घोर वन में दैव के सिवा और कौन है। क्या वही हमारा पीछा कर रहा? **(पत्तों की खड़खड़ाहट)**

विमर्दन : (चौंककर) अरे यह क्या? कोई पक्षी तो नहीं उड़ा! (देखकर) नहीं, पक्षी तो नहीं है।

विरोचन : हवा भी नहीं चलती। कुछ समझ में नहीं आता।

विमर्दन : मेरा हृदय धड़कता है। स्वामी की आज्ञा से कितने ही काम किये पर ऐसा कभी नहीं हुआ!

विरोचन : पर ऐसा भयंकर काम कभी नहीं किया। शायद यह घातकों से भी न होता।

विमर्दन : घातकों के योग्य न समझ कर ही तो हमें सौंपा गया है, परन्तु इस सुन्दर बालक को मरवा कर मन्त्रीजी को क्या मिलेगा?

विरोचन : हाय! धिक्कार है इस नीच कर्म को जिसमें एक अनाथ बालक की हत्या करनी पड़े।

विमर्दन : इस कठोर आज्ञा का कोई कारण भी तो नहीं जान पड़ता अथवा–

(इन्द्रवंशा)

यों ही, बड़ा हेतु हुए बिना कहीं–
होते बड़े लोग कठोर यों नहीं।
वे हेतु भी यों रहते सुगुप्त हैं–
ज्यों अद्रि अम्भोनिधि में प्रलुप्त हैं।

विरोचन : कुछ भी हो, पर मुझसे तो यह काम न होगा।

विमर्दन : मेरी भी यही दशा है। किन्तु–

विरोचन : किन्तु क्या? तू ही बता, यह बालक किस अपराध की सीमा के भीतर आ सकता है? फिर भला कौन ऐसा निर्दय होगा जो इस सुकुमार शरीर पर प्रहार कर सके।

विमर्दन : ठीक है–

(उपजाति)

बड़े बड़े लोचन लोल जैसे–
प्रफुल्ल हैं गोल कपोल वैसे।
सौन्दर्य्य ऐसा न हुआ, न होना,
सजीव कोई यह है खिलौना॥

विरोचन : क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे इस सर्वगुण-सम्पन्न बालक का वध न करना पड़े?

विमर्दन : भाई, हम पराधीन हैं। स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही हमारा धर्म्म है।

विरोचन : धिक्कार है इस पराधीनता को और धिक्कार है ऐसे धर्म्म को।

विमर्दन : अरे, ऐसा कहना अनुचित है। क्योंकि–

(द्रुतविलम्बित)

इस धरा पर जो कुछ धर्म्म है,
वह कभी न बुरा न अकर्म्म है।
अधम हो सकते हम आप हैं,
अखिल कर्म्म परन्तु अपाप हैं॥

विरोचन : पर किसी निरपराध को मारना भी हमारा धर्म है?

विमर्दन : नहीं, मैंने कब कहा है कि किसी निरपराध को मारना हमारा धर्म्म है? हमें तो स्वामी की आज्ञा का पालन करना है और यही हमारा धर्म्म है।

विरोचन : सिर नहीं कपाल। बात तो वही रही।

विमर्दन : वही कैसे रही? इस बच्चे को हम अपने लिए मारते हैं या स्वामी की आज्ञा से उनके लिए?

विरोचन : अच्छा, यही सही। पर क्या स्वामी की उचित और अनुचित सभी आज्ञाएँ माननी चाहिए?

विमर्दन : भाई, बात तो कुछ ऐसी ही है, क्योंकि सेवक-धर्म बड़ा कठिन होता है। देखो—

(वसन्ततिलक)

था कालनेमि रजनीचर नीच तो भी—
क्या स्वामि-कार्य्य-हित आप मरा न सो भी?

विरोचन : **(बीच में)**

है सर्वथा अहह! सेवक जन्म भार,
होता कभी न उसमें कुछ स्वाधिकार!

परन्तु कुछ भी क्यों न हो, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि यह काम मुझसे न होगा।

विमर्दन : बड़ी उलझन है। मेरा भी हाथ नहीं उठता और दूसरा कोई उपाय भी नहीं सूझता।

(द्रुतविलम्बित)

इधर तो करुणा पकड़े खड़ी,
उधर धार्म्मिकता जकड़े खड़ी।
यह प्रसंग पड़ा अति घोर है;
कठिनता समझो सब ओर है॥

हाय! यह बालक इतना सुन्दर होकर भाग्यहीन क्यों हुआ? **(चन्द्रहास)** बच्चे! यदि हम तुझे यहाँ मार डालें तो?

चन्द्रहास : तुम क्या मुजे मालने को लाये हो? अब हलिमन्दिल कितनी दूल है?

विरोचन : (विमर्दन से) सुना, कैसा सरस और कोमल कलकण्ठ है?

विमर्दन : सुना है—

(मालिनी)

विमल वदन मानों है नया फूल फूला,
रदन हिम कणों से देख के चित्त भूला।
सुनकर यह वाणी तोतली और मीठी—
मृदु-मधु-मधुता भी हो गयी आज सीठी॥

परन्तु—

विरोचन : परन्तु क्या?

विमर्दन : क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता—

(द्रुतविलम्बित)

यह सुकण्ठ अभी कट जायेगा,
मधुर हास्य सभी हट जायेगा।
सरल भाव कहीं बह जायँगे,
रुधिर-मांस पड़े रह जायँगे!

विरोचन : हाय! इस बात की तो याद आते ही मेरा मन न जाने कैसा हो जाता है। (ऊपर की ओर देखकर)

(शिखरिणी)

बिना फूला ही जो यह सुमन था शुष्क करना,
न था पृथ्वी में जो सरस इसका गन्ध भरना।
विधे! तो क्यों ऐसा रुचिर इसको निर्मित किया।
लिया क्या तूने हा! श्रम विफल सारा कर दिया॥

विमर्दन : मैं भी यही कहता हूँ—

(द्रुतविलम्बित)

कुसुम में कटु कीट-विकास है,
कर रहा रस में विष वास है।
विपुल विघ्न भरे शुभ काम हैं,
विधि-विधान विलक्षण वाम हैं!

विरोचन : जो हो, पर क्या तू इसे मार ही डालेगा?

विमर्दन : कौन ऐसा होगा जो मोती को चूर्ण करना चाहे? पर स्वामी ने आज्ञा जो दी है।

विरोचन : अच्छा, यह करो कि इस बच्चे को यहीं वन में छोड़ चलो। रात में कोई हिंस्र पशु आकर इसे खा जायगा। इससे हमें अपने हाथ से मारना भी न पड़ेगा और स्वामी का काम भी हो जायगा।

विमर्दन : (सोचकर) यद्यपि यह स्वामी की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन करना नहीं कहा जा सकता, पर इस बच्चे पर चित्त में सहज ही ममता उत्पन्न होने से तेरी बात भी नहीं टाली जाती। मेरा मन तो इसे मरने के लिए छोड़ जाने में भी दुःखित होता है। पर लाचारी है। इससे यही सही। किन्तु—

विरोचन : तूने फिर किन्तु परन्तु लगाया!

विमर्दन : अरे भाई, सुन तो—

(उपेन्द्रवज्रा)

बड़ा कि छोटा कुछ कार्य्य कीजे,
परन्तु पूर्वा पर सोच लीजे।
विना विचारे यदि काम होगा—
कभी न अच्छा परिणाम होगा॥

विरोचन : अच्छा, मुझसे भूल हुई। जो कहना हो, कह।

विमर्दन : यदि यह बालक किसी प्रकार बच गया तो?

विरोचन : यह आशंका निर्मूल है। यदि इस लड़के का जीवन ही होता तो यह मन्त्री की कोपदृष्टि में ही क्यों पड़ता? इस विकट वन में न जाने कौन जन्तु इसे खा जायेगा। देखता नहीं, कैसा विजन और गहन कानन है—

(शार्दूलविक्रीडित)

चारों ओर कठोर कण्टकमयी है घोर झाड़ी खड़ी,
है ऐसी घनता कि रात दिन की है एकता-सी बड़ी।
आयी है जन-शून्यता, कपि तथा लंगूर ही हैं कहीं,
क्या लोकालय की तथा प्रलय की है मध्य सीमा यहीं?

और भी—

(भुजंगप्रयात)

कहीं जन्तु जो हिंस्र हैं बोलते हैं,
कहीं स्यार, मार्जार ही डोलते हैं।
जहाँ वायु में भी भरी भीति जानों,
मिला चाहती है अभी मौत मानों!

विमर्दन : एक असुविधा और भी है।

विरोचन : वह भी सुनूँ?

विमर्दन : इसको मारने का प्रमाण-स्वरूप इसका कोई अंग भी तो स्वामी को दिखाना है।

विरोचन : यह तो बड़ी विपद है। भाई, तू ही इसका कोई उपाय सोच। मेरी

बुद्धि तो काम नहीं देती!

विमर्दन : **(चन्द्रहास को ऊपर से नीचे तक देखकर)** इस बच्चे के बाएँ पैर में छह अँगुलियाँ हैं। इनमें से यह छठी अँगुली काट ली जाय तो कैसा?

विरोचन : **(प्रसन्न होकर)** वाह भाई तूने अच्छी तरकीब सोची। मानो हम लोग चिकित्सक बनकर इस अधिक मांस को काट लेंगे। जान पड़ता है, विधाता ने हमारे सुभीते के लिए ही इसे बनाया था।

विमर्दन : तो अब विलम्ब न करना चाहिए।

विरोचन : ठीक है। चलो, उस ओर घनी लताएँ हैं। इससे वहाँ कुंज-सा बन गया है। वहीं चलकर काम पूरा करें।

विमर्दन : अहा! कैसी सुगन्धि आयी।

विरोचन : **(मुस्कराकर)** यह सुगन्धि नहीं, दैव की प्रसन्नता का पुरस्कार है!

विमर्दन : कुछ भी हो पर सुगन्धि तो अपूर्व है।

विरोचन : निस्सन्देह।

(चन्द्रहास से) देखो, वह हरि-मन्दिर है। वहीं तुमको भगवान् मिलेंगे।

(झुरमुट की ओर बतलाता है)

चन्द्रहास : तो चलो—

हले लाम हले लाम लाम लाम हले हले।

(पटाक्षेप)

चतुर्थ दृश्य

[स्थान—चन्दनावती का राजप्रासाद]

[कुलिन्दक का प्रवेश]

कुलिन्दक : **(गान)**

न तेरी दया का प्रभो! पार है,
खुला सर्वदा दान का द्वार है।
मिलेगा वही जो जिसे चाहिए,
भरा भूतियों से सु-भण्डार है।
न संकोच देते हुए है तुझे,
अहा! कौन ऐसा महोदार है।
बढ़ा हाथ यों ही रहे सर्वदा,
न तेरे बिना और आधार है॥

(विचक्षण का प्रवेश)

विचक्षण : (स्वगत) आज तो महाराज प्रेम से गद्गद हो रहे हैं। अचानक ऐसे आनन्द का क्या कारण है।

(आगे बढ़कर)

महाराज की जय हो॥

कुलिन्दक : आओ, मन्त्रिवर! आओ। आज मैंने तुम्हें सबेरे ही बुला लिया है। बैठो।

विचक्षण : जो आज्ञा। (बैठता है)

कुलिन्दक : भगवान् की दया से आज मेरे सब अभीष्ट सिद्ध हो गये।

विचक्षण : महाराज इसी योग्य हैं।

कुलिन्दक : देखो, भगवान् ने हमें सब कुछ दिया था, पर पुत्र से अब तक राजभवन सूना ही था।

विचक्षण : इसमें क्या सन्देह है–

(मन्दाक्रान्ता)

श्रेष्ठों के भी सुख-सदन में पूर्व योगानुसार,
पाई जाती कुछ त्रुटि कभी सर्वथा दुर्निवार।

परन्तु–

उद्योगों से तदपि उसको अन्त में वे मिटाते,
सत्कर्मों से सब सुख यहीं हैं महाप्राण पाते॥

कुलिन्दक : जो हो, हम तो ईश्वरेच्छा समझ कर इस विषय में सन्तुष्ट थे परन्तु महारानी विशेष चिन्तित रहा करती थीं।

विचक्षण : उनके लिए चिन्ता की बात ही थी। क्योंकि–

(आख्यानकी)

गोदी भरी हो कुल नारियों की,
(स्वभाव से ही सुकुमारिकों की।)
कृतार्थता वे तब मानती हैं,
अभाव भी और न जानती हैं॥

कुलिन्दक : परन्तु महारानी भी यह जानती थीं कि जो कुछ होता है भगवान् का ही किया होता है। इसलिए वे दिन-रात उन्हीं की आराधना में लगी रहती थीं, सो तो तुम जानते ही हो।

विचक्षण : बहुत अच्छी तरह से–

(उपजाति)

हुआ व्रतों से कृश गौर गात्र,
है दीखता केवल रूप मात्र,

वे साधना की प्रतिमूर्ति-सी हैं,
आराधना की अति पूर्ति-सी हैं!

कुलिन्दक : अन्त में भगवान् की दया हुई।

विचक्षण : क्यों न हो—

(द्रुतविलम्बित)

यदि दयामय ही न दया करें,
न जन के मन के दुख को हरें।
फिर रहें 'करुणाकर' वे कहाँ?
स्मरण कौन करे उनका यहाँ?

कुलिन्दक : परन्तु भगवान् ने जिस प्रकार दया की है उसका स्मरण करके मेरा चित्त गद्‌गद हो उठता है। मुझे विश्वास है कि सब बातें सुनकर तुम्हारी भी ऐसी ही दशा होगी।

विचक्षण : जब महाराज कहते हैं तब निस्सन्देह ऐसा ही होगा। मैं ध्यान से सुनता हूँ।

कुलिन्दक : अच्छा, सुनो। परसों रात को भगवान् की आराधना करके ज्यों ही महारानी सोईं त्यों ही उन्हें एक स्वप्न दिखायी दिया।

विचक्षण : हाँ।

कुलिन्दक : उन्होंने देखा कि स्वयं भगवान् उन्हें साकार रूप में दर्शन दे रहे हैं और वे मेरे साथ उनकी पूजा कर रही हैं।

विचक्षण : धन्य है।

कुलिन्दक : अन्त में भगवान् मुझे एक गहन वन में ले गये। वहाँ एक दिव्य बालक को दिखाकर उन्होंने मुझसे कहा—यह असाधारण बालक तुम्हें औरस पुत्र से भी अधिक सुखी करेगा।

विचक्षण : अहा! बड़ी विचित्र बातें हैं।

कुलिन्दक : हाँ, वह स्वप्न देखकर जब महारानी जागीं तब प्रभात हो रहा था। वही प्रभात हमारे लिए सु-प्रभात हुआ। वह पवित्र प्रभात हमारे भाग्योदय का प्रभात था—दयामय की दया के प्रकाश का प्रभात था।

विचक्षण : इस अपूर्व वृत्तान्त को सुनकर मुझे रोमांच हो रहा है और आगे क्या हुआ, यह जानने के लिए मेरा कौतूहल बढ़ रहा है।

कुलिन्दक : सबेरे महारानी ने मुझे सब हाल सुनाया, पर स्वप्न की बात समझ कर मैंने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

विचक्षण : यह स्वाभाविक ही है।

कुलिन्दक : दैवयोग से कल ही मैं आखेट करता हुआ एक बड़े वन में जा

पहुँचा। वह वन कुन्तलपुर की सीमा पर था और ठीक वैसा ही था जैसा महारानी ने स्वप्न में देखा था। अब तो मेरे हृदय में वे सब बातें बिजली की तरह दौड़ गयीं।

विचक्षण : भगवान् की बड़ी विचित्र महिमा है।

कुलिन्दक : फिर मैं उस गहन वन में वैसा स्थान खोजने लगा जैसे स्थान में महारानी ने वह बालक देखा था। अन्त में वह प्राकृतिक कुंज भी मिल गया।

विचक्षण : फिर, फिर?

कुलिन्दक : मैंने देखा कि—

(इन्द्रवंशा)

सद्योवियोगी निज वृन्त संग से,
छाया हुआ सौरभ रूप, रंग से।
स्वर्गीय पुष्पोपम एक बाल था,
रोता न था, गुंजित भृंगजाल था!

विचक्षण : (गद्गद होकर) महाराज, मैं क्या कहूँ; ऐसी अपूर्व और अद्भुत बात मैंने कभी नहीं सुनी। आप धन्य हैं।

(वसन्ततिलक)

है आपके सदृश कौन कृती यथार्थ—
यों स्वप्न भी फलित हो जिनके हितार्थ!
जो स्वप्न सुप्ति तक ही बस दृष्टि आता—
जागो जहाँ फिर कहाँ वह राज्य जाता!

कुलिन्दक : हुआ। अब यह बताओ, चन्द्रहास को अपना पुत्र मानकर रखने में कोई बाहरी बाधा तो नहीं?

विचक्षण : भला भगवान् के दान की कौन उपेक्षा करेगा? परन्तु सांसारिक दृष्टि से एक अज्ञात-कुलशील बालक को पुत्र बनाकर रखना अवश्य ही आक्षेप की बात है। मेरी राय में तो अभी इस बात को न उठाना ही अच्छा होगा। कुमार का लालन-पालन होने दीजिए, फिर सब हो जायेगा। अभी कुमार के पाने की बात भी इस तरह न फैलनी चाहिए जिससे लोगों को शंका करने का अवसर मिले। यह राज्य कुन्तलपुर के अधीन है। वहाँ के प्रधानमन्त्री धृष्टबुद्धि को महाराज जानते ही हैं। यदि उसे इन सब बातों का पता लग गया कि कुमार इस तरह वन में पड़े हुए पाये गये हैं तो वह बीस बखेड़े खड़े कर सकता है। मैं तो समझता हूँ कि कुमार का नाम भी बदल दिया जाय तो अच्छा।

कुलिन्दक : तुम्हारी राय ठीक है। मैं भी यही उचित समझता हूँ। तो चन्द्रहास का नाम अब से भगवद्दत्त हो!

विचक्षण : ठीक है, यह नाम सार्थक भी है।

कुलिन्दक : किन्तु उसे देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि यह बालक राजपुत्र नहीं है। कहने से क्या, आओ, मैं तुम्हें दिखा दूँ।

विचक्षण : जो आज्ञा।

द्वितीयांक

प्रथम दृश्य

[कुन्तलपुर, धृष्टबुद्धि का घर]

[धृष्टबुद्धि और सुगामिनी]

सुगामिनी : देखो, बेटी विवाह के योग्य हो गयी है। पर तुमने अभी तक वर का निश्चय नहीं किया! थोड़े दिन और यही दशा रही तो लोक-निन्दा होने लगेगी।

धृष्टबुद्धि : मुझे इस बात का ध्यान है। पर क्या करूँ, इधर काम के मारे अवकाश ही नहीं मिला। तुम चिन्ता न करो, तुम्हें लोक-निन्दा न सुननी पड़ेगी।

सुगामिनी : न तुम्हें काम-काज से अवकाश मिलेगा, न मेरी बेटी का विवाह हो सकेगा। मेरे भाग्य में तो लोक-निन्दा ही लिखी जान पड़ती है। न जाने तुम्हें कैसे नींद आती है!

धृष्टबुद्धि : मैं क्या करूँ, इधर महाराज ने भी राज-काज देखना प्रायः छोड़ दिया है। वे वृद्ध भी हैं और पुत्र के न होने से कुछ उदासीन भी रहते हैं। ऐसी दशा में सब भार मुझी पर आ पड़ा है।

सुगामिनी : जिससे बेटी के लिए वर की खोज भी नहीं कर सकते क्यों?

धृष्टबुद्धि : अच्छा, अब मैं शीघ्र ही इस विषय में उद्योग करूँगा। तुम देखोगी कि किसी राजकुमार के साथ, थोड़े ही दिनों में, विषया का विवाह होगा।

सुगामिनी : यह तो मैं ब्राह्मणों से पहले ही सुन चुकी हूँ कि विषया किसी बड़े ही सुलक्षण राजकुमार को ब्याही जायगी।

धृष्टबुद्धि : (स्वगत) ब्राह्मणों के कहने से तो नहीं, पर मेरे प्रताप से अवश्य ऐसा होगा। ब्राह्मणों की कही हुई कौन-कौन सी बात सच होती है। एक बार उन्होंने चन्द्रहास नामक एक अनाथ बालक के विषय

में मुझसे कहा था कि यह तुम्हारी सम्पत्ति का अधिकारी होगा, परन्तु अब तक उसका दूसरा जन्म हो चुका होगा।

सुगामिनी : तो क्या सोच रहे हो?

धृष्टबुद्धि : यही कि ब्राह्मणों ने विषया के भाग्य में ऐसा अच्छा वर बतलाया है फिर भी तुम उसके विषय में इतनी चिन्ता करती हो।

सुगामिनी : चिन्ता न करूँ तो क्या करूँ? क्या भाग्य में लिखी हुई वस्तु के लिए उद्योग न करना चाहिए?

(एक ओर मदन का प्रवेश)

मदन : विषया, ओ विषया?

(नेपथ्य में)

भैया, मैं आयी।

धृष्टबुद्धि : राजसभा से मदन आ गया।

(विषया का प्रवेश)

विषया : भैया, क्या है!

मदन : अब पिताजी की तबियत कैसी है?

विषया : अच्छी है। तुम्हारे जाने के थोड़ी देर पीछे वे प्रकृतिस्थ हो गये थे पर माँ ने आग्रह करके उन्हें बाहर नहीं जाने दिया।

धृष्टबुद्धि : मदन! अब मैं अच्छा हूँ। तुम मेरे पास आओ।

विषया : तुम्हें पिता जी बुलाते हैं। तब तक मैं भोजन का आयोजन करती हूँ। **(जाती है)**

मदन : (घूमकर) आया पिता जी।

(जाकर और प्रणाम करके बैठता है)

धृष्टबुद्धि : अचानक मेरी तबियत बिगड़ जाने का हाल महाराज से कह दिया था?

मदन : हाँ, वे आपके लिए चिन्ता करते थे। उनकी आज्ञा से आपका काम आज मैंने ही किया।

धृष्टबुद्धि : अच्छा, कोई नयी बात हो तो सुनाओ।

मदन : एक बात है। वह यह कि हमारे राज्य के अधीन चन्दनावती के राजा कुलिन्दक ने अपने किसी सगोत्रीय नवयुवक को गोद लेकर युवराज बनाया है। उसी के उपलक्ष्य में चन्दनावती से राजोपहार आया है। कुलिन्दक ने आपके लिए अलग उपहार भेजा है।

धृष्टबुद्धि : गोद लेने के विषय में कुलिन्दक ने मुझसे कहा था। किन्तु मैंने उस लड़के को नहीं देखा। उसका नाम क्या है?

मदन : भगवद्दत, किन्तु उसे कहते चन्द्रहास हैं।

धृष्टबुद्धि : (चौंककर) क्या चन्द्रहास?

मदन : हाँ, चन्दनावती से जो लोग आये हैं उनसे यही मालूम हुआ है।

धृष्टबुद्धि : (स्वगत) इस बात ने तो मेरे मन में शंका उत्पन्न कर दी।

सुगामिनी : चन्द्रहास के रूप-गुण की बातें कैसी सुनी जाती हैं?

मदन : उपहार लेकर जो अधिकारी वहाँ से आया है, उसका तो यही कहना है कि–

(मालिनी)

परिचय उनका मैं दूँ भला ठीक कैसे?
गुण गण मनुजों में दीखते हैं न वैसे।
सुर वर उन जैसे श्रेष्ठ हों तो भले ही,
अतुल अवनि में हैं आप से आप वे ही॥

धृष्टबुद्धि : (स्वगत) अवश्य दाल में कुछ काला है।

सुगामिनी : क्यों न हो, कभी-कभी देवता भी मनुष्य रूप में पृथ्वी पर लीला किया करते हैं। (धृष्टबुद्धि से)
सुनते हो, हमारी विषया के लिए यह पात्र कैसा है?

धृष्टबुद्धि : (स्वगत) यद्यपि एक नाम के अनेक मनुष्य हुआ करते हैं, पर क्या ठीक है जो मुझे धोखा दिया गया हो। अच्छा, देख लूँगा।

सुगामिनी : चुप क्यों हो रहे?

धृष्टबुद्धि : क्या कहूँ?

सुगामिनी : जान पड़ता है, तुमने मेरी बात सुनी ही नहीं।

धृष्टबुद्धि : तुमने क्या कहा?

सुगामिनी : चिन्ता के मारे तुम्हें अवकाश हो तो सुनो!

धृष्टबुद्धि : स्त्रियों की बुद्धि! तुम अपने ही समान सबको निश्चिन्त समझती हो–

(आर्य्या)

स्त्री-चिन्ता की सीमा,
बहुत हुई द्वार-देहली तक है।
अगणित चिन्ताओं से,
पुरुषों का घूर्णमान मस्तक है!

सुगामिनी : इसीलिए पुरुषों को घर की चिन्ता न करनी चाहिए।

धृष्टबुद्धि : अच्छा, मैं सुनता हूँ। क्या कहती हो, कहो?

सुगामिनी : यही कहती हूँ कि विषया के योग्य चन्द्रहास कैसा पात्र है?

धृष्टबुद्धि : (स्वगत) विषया के योग्य तो नहीं, विष के योग्य अवश्य है। (प्रकट) देखा जायगा। अपने की तो सभी बड़ाई करते हैं। बिना

देखे निश्चय नहीं किया जा सकता।

सुगामिनी : यही तो मैं कहती हूँ। पर विलम्ब न करना चाहिए। क्योंकि अच्छे वर के लिए सभी उद्योगी रहते हैं!

धृष्टबुद्धि : (स्वगत) मुझे चन्द्रहास को देखना ही है। इसका भी मन रख लूँ। (प्रकट) अच्छी बात है, तुम कहती हो तो राज्य निरीक्षण करने के बहाने जाकर मैं उसे देख आऊँगा।

सुगामिनी : यदि किसी बहाने उसे यहीं बुला लेते तो मैं भी देख लेती।

धृष्टबुद्धि : मैं देखकर जैसा उचित समझूँगा, करूँगा।

द्वितीय दृश्य

[चन्दनावती का राजभवन]

[चन्द्रहास और सुलक्षण]

चन्द्रहास : सखे सुलक्षण! मेरे युवराज बनाये जाने पर तुम मुझे जो बार-बार बधाई देते हो इससे बड़ा संकोच होता है। मुझे अपने पद का निर्वाह सहज नहीं जान पड़ता। कारण, राजकुल के कर्त्तव्य बड़े ही कठिन हैं। (नेपथ्य में)
यदि वे कर्त्तव्य कठिन हैं तो उनका भार मुझे देकर निश्चिन्त हो जाइए।

सुलक्षण : (चौंककर) अरे, माधव आ गया।

(माधव का प्रवेश)

माधव : जय हो! कहिए क्या हो रहा है?

सुलक्षण : आप काहे का भार लेने चले थे?

माधव : जिन कर्त्तव्यों की कठिनता के विषय में कुमार कह रहे थे।

सुलक्षण : कुमार तो कह रहे थे कि आज दोपहरी में सिंह का शिकार खेलने चलेंगे।

चन्द्रहास : (मुस्कराकर) ठीक है।

माधव : अरे बाप रे! इसका भार तो मैं न ले सकूँगा। मैंने तो समझा था कुमार अपने पद के विषय में कह रहे हैं।

चन्द्रहास : अच्छा, तुझे अपने पद पर प्रतिष्ठित करके फिर मैं क्या करूँगा?

माधव : बस, दायित्व के भार से हलके होकर आनन्द से घर घर अलख जगाने के सिवा और क्या है! पर नहीं, आप मेरी ओर से स्वच्छन्दतापूर्वक सिंहों का शिकार करते रहिएगा।

सुलक्षण : वाह! युवराज तो आप बनना चाहते हैं पर सिंहों के शिकार से डरते हैं! कभी युद्ध का काम पड़ा तो क्या होगा।

माधव : अजी, मैं डरता थोड़े हूँ? पर कौन जीव-हिंसा करे? राजाओं का यह काम नहीं।

चन्द्रहास : भला, राजाओं के काम भी बतला दे।

माधव : आनन्दोपभोग करना। दण्ड-विधान करना। नये नये नियमों की कल्पना करना और–

सुलक्षण : और क्या?

माधव : कहने से क्या, यदि कुमार मुझे अपने अधिकार दे दें तो, सच कहता हूँ, विश्वास कीजिए, एक ही साल में इतना धन इकट्ठा करूँ कि राज-कोष में रखने के लिए जगह न रहे! अकेले कर-विभाग से ही इतनी आय हो कि–

सुलक्षण : एक ही वर्ष में प्रजा की सफाई हो जाय। क्यों?

माधव : प्रजा की सफाई नहीं हो सकती। वह सैकड़ों तरह से कमाती खाती है! और कुछ भी हो, मैं तो राज-सुख ही भोगूँगा।

सुलक्षण : तब तो तू खूब शासन करेगा।

चन्द्रहास : भाई, लोग जानते हैं कि राज-सुख कोई बड़ा भारी सुख है, पर यथार्थ में ऐसा नहीं। राजकुल असंख्य दायित्व भारों से दबा हुआ है। मैं तो यही कहूँगा कि–

(उपजाति)

सारी प्रजा का प्रहरी स्वरूप,
है भारवाही बस भृत्य भूप।
उसे नहीं योग विराम का ही,
है राज्यभोगी वह नाम का ही॥

सुलक्षण : अहा! कैसी उदार धारणा है!

माधव : यह बात है तब तो प्रजा के नाते आप मेरे भी–
(सिर खुजलाता हुआ) समझिए कि–

चन्द्रहास : **(मुस्कराकर)** हाँ, हाँ, बोल, क्या करना होगा?

माधव : अच्छा, देखें आप ही बताइए, मेरे मन में क्या है?

चन्द्रहास : मैं तो समझता हूँ कि तेरी पीठ सहराती है और मुझे उसी पर दो चार घूँसे लगाने पड़ेंगे!

माधव : खूब समझे, पर कहने में थोड़ी-सी भूल हो गयी। पेट की जगह पीठ और लड्डुओं की जगह आप घूँसे कह गये, पर इन बातों को रहने दीजिए। मैं अभी जाकर महाराज से कहता हूँ कि अपना

घर सँभालिए। कुमार प्रजा से पूछ पूछकर चलना चाहते हैं।

चन्द्रहास : तो इसमें बुराई ही क्या है—

(भुजंगी)

प्रजा के लिए ही नृपोद्योग है,
इसी के लिए राज्य का योग है।
प्रजाश्रेय ही सर्वदा ध्येय है,
इसी से प्रजा-सम्मति ज्ञेय है॥

सुलक्षण : मैं तो यह जानता हूँ कि—

(भुजंगी)

धराधीश जो धर्म्म को जानते—
प्रजा के लिए आप को मानते।
उन्हें पूछना क्या प्रजा से रहा?
करेंगे स्वयं वे उसी का कहा॥

माधव : आप दोनों एक ही पाठशाला के पढ़े हुए हैं न! (देखकर) अरे कौन जो चोर की तरह ताक-झाँक कर रहा है?

(एक सेवक का प्रवेश)

सेवक : महाराज, मैं हूँ मंगल।

माधव : मंगल है तो चला आ और शनि हो तो लौट जा। **(सब हँसते हैं)**

चन्द्रहास : मंगल! क्या है?

मंगल : कुमार की जय हो। कुन्तलपुर के मन्त्री महोदय हमारे राज्य का निरीक्षण करने के लिए आने वाले हैं। अभी समाचार आया है। इसलिए महाराज ने आज्ञा दी है कि स्वागत की तैयारी की जाय।

माधव : लीजिए, मंगल शनि का समाचार ले ही आया! आप वन में शिकार के लिए जाना चाहते थे, पर अब कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। एक भालू यहीं आ रहा है। तैयार रहिए। तब तक मैं भी उदरदेव की उपासना करूँ। यह आफत टल जाय तो फिर बैठेंगे।

तृतीय दृश्य

[चन्दनावती का राजप्रासाद]

धृष्टबुद्धि : **(आप ही आप)** निस्सन्देह यह वही है। यद्यपि अब यह बड़ा हो गया है, पर मुझसे नहीं छिप सकता। वर्तमान चन्द्रहास उसी बालक

चन्द्रहास का विकास है। तो क्या ब्राह्मणों की बात सच होगी? कभी नहीं। ऐसा हो ही नहीं सकता। उस बार चन्द्रहास बच गया तो क्या हुआ? इस बार उसे कोई नहीं बचा सकता। चन्द्रहास नाम से मुझे घृणा है। मैं इसे मिटाकर ही रहूँगा। अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए मैं क्या नहीं कर सकता?

(कुलिन्दक का प्रवेश)

कुलिन्दक : (स्वगत) देखूँ इस एकान्त की भेंट में मन्त्री क्या कहता है?

धृष्टबुद्धि : (देखकर स्वगत) कुलिन्दक आ गया। इसका यह पुत्र सुख अब पूरा हो चुका, यहीं तक था, पर अपना काम निकालने के लिए मैं इसके साथ नम्रता का ही व्यवहार करूँगा।

(आगे बढ़कर)

आइए, नरनाथ! आइए। मैंने आपको बहुत कष्ट दिया। बैठिए।
(दोनों बैठते हैं)

कुलिन्दक : कष्ट की क्या बात है? आज बहुत दिनों में आपसे मिलकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ है, किन्तु आपके आतिथ्य में मेरी ओर से अनेक त्रुटियाँ हुई होंगी, इसका मुझे खेद है। आशा है, मेरे हार्दिक भावों को जानकर आप उनकी ओर ध्यान न देंगे। क्योंकि—

(वसन्ततिलक)

हैं मानते अतिथि को निज पूज्य आर्य्य,
होते नहीं त्रुटि-विहीन परन्तु कार्य्य।
सद्भाव है सब अभाव तथापि धोता,
प्रमोपहार सब साधन सिद्ध होता॥

धृष्टबुद्धि : यह आप क्या कहते हैं। भला आपकी ओर से त्रुटि हो सकती है? और मैं तो जैसा महाराज कौन्तलप का हितचिन्तक हूँ वैसा ही आपका। आप जैसे अधिकारी तो हमारे राज्य के गौरव हैं।

कुलिन्दक : यह आपका अनुग्रह है। कहिए, महाराज तो कुशलपूर्वक हैं।

धृष्टबुद्धि : शरीर से तो कुशलपूर्वक ही हैं किन्तु—

कुलिन्दक : निस्सन्देह यह बड़ी ही शोचनीय बात है कि इतने बड़े राज्य के अधीश्वर होकर भी महाराज संसार में एकाकी हैं! मैं भी जैसा आया था वैसा ही जा रहा हूँ। किसी प्रकार इस वृद्ध वयस में पिण्ड-प्राप्ति की व्यवस्था कर ली है।

धृष्टबुद्धि : आपने यह बहुत अच्छा किया। संसार में जो अपना हो जाय वही अपना है। कुमार को देखकर मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ। यह आपका सौभाग्य है कि आपको ऐसा गुणवान् पुत्र प्राप्त हुआ।

कुलिन्दक : सब भगवान्! की कृपा का फल है—

(शिखरिणी)

करे जो चाहे सो वह, कुछ उसे दुष्कर नहीं;
वही कर्त्ता भी है अखिल कृतियों का सब कहीं।
सदा लीलाकारी स्ववश विभु विख्यात वह है,
करेगा कैसे, क्या, कब, वह किसे ज्ञात यह है॥

परन्तु साथ ही यह भी है—

करेगा जो कर्त्ता अनुचित न होगा वह कभी,
उसी में से होंगे प्रकटित हमारे शुभ सभी।
पिता से पुत्रों का अनहित कभी सम्भव नहीं,
विचारे वे वैसा भ्रमवश उसे यद्यपि कहीं॥

धृष्टबुद्धि : निस्सन्देह यही सोचकर महाराज कौन्तलप भी सन्तोष किये हैं।

कुलिन्दक : क्यों न हो, वे सब जानते हैं। इस विषय में कुछ उद्योग भी किया गया है?

धृष्टबुद्धि : हाँ, विचार हो रहा है।

कुलिन्दक : बड़ी अच्छी बात है। मैंने सुना है, आयुष्मान् मदन पर भी वे पुत्र की भाँति स्नेह करते हैं

धृष्टबुद्धि : उनका अनुग्रह है। हम लोग तो उन्हीं के हैं, और जब जो कुछ होगा आप ही लोगों की सम्मति से होगा।

कुलिन्दक : मैं कोई दूसरा थोड़े ही हूँ? आशा है, मेरी तरह चन्द्रहास भी उनका शुभैषी रहेगा।

धृष्टबुद्धि : **(स्वगत)** जीता रहेगा तब न?
(प्रकट) इसका कहना ही क्या। इसका तो मुझे पूर्ण विश्वास है। मेरी इच्छा है कि दो चार दिन यहाँ ठहरकर आपके सत्संग का लाभ उठाऊँ और फिर आपके शासन की श्रेष्ठता का वृत्तान्त विशेष रूप से महाराज को जाकर सुनाऊँ।

कुलिन्दक : यह भी आपका अनुग्रह है। मुझे भी आपके सत्संग का अवसर मिलेगा। क्योंकि—

(इन्द्रवंशा)

सत्संग संसार-समुद्र-सेतु है,
सत्संग ही मोद-विनोद हेतु है।
सत्संग-सा लाभ न और अन्य है,
पाता उसे जो वह धन्य-धन्य है॥

धृष्टबुद्धि : मेरे लिए भी यही बात है। परन्तु—

कुलिन्दक : परन्तु क्या? यहाँ भी आपका घर है।

धृष्टबुद्धि : सो तो है ही। किन्तु एक ऐसा आवश्यक कार्य आ पड़ा है जिसकी सूचना मुझे शीघ्र ही महाराज को देनी चाहिए।

कुलिन्दक : क्या पत्र भेजने से काम नहीं चल सकता?

धृष्टबुद्धि : **(सोचकर)** चल सकता है, किन्तु वह पत्र उसी के हाथ भेजा जा सकता है जिस पर पूरा विश्वास किया जा सके।

कुलिन्दक : तो जिसे आप इस योग्य समझें उसी के हाथ भिजवा दिया जाय।

धृष्टबुद्धि : जिन्हें मैं इस योग्य समझता हूँ उन्हें कष्ट देने को जी नहीं चाहता।

कुलिन्दक : यदि हम लोगों में से कोई जा सकता हो तो संकोच करना व्यर्थ है। महाराज कौन्तलप का काम हमारा ही काम है।

धृष्टबुद्धि : ठीक है। पर थोड़ी-सी बात के लिए कुमार को कैसे कष्ट दूँ?

कुलिन्दक : यह कष्ट है कि चन्द्रहास के लिए आनन्द की बात है। आप उस पर ऐसा विश्वास रखते हैं इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

धृष्टबुद्धि : आपकी इस कृपा के लिए धन्यवाद।

कुलिन्दक : इसकी क्या आवश्यकता? आप यों ही हमारे मान्य हैं। तिस पर इस समय अतिथि हैं। आपको सन्तुष्ट करना परम कर्त्तव्य है।

धृष्टबुद्धि : मैं परम सन्तुष्ट हुआ। बात बड़ी गोपनीय थी इसी से ऐसा करना पड़ा। बस, मदन तक पत्र पहुँचा देने से ही काम हो जायगा।

कुलिन्दक : अच्छी बात है। आप पत्र लिख रखिएगा मैं सबेरे चन्द्रहास को भेज दूँगा।

धृष्टबुद्धि : तो अब इस समय आपको अधिक कष्ट कैसे दूँ?

कुलिन्दक : हाँ, आपको कष्ट हो रहा है। आराम कीजिए। **(सादर धृष्टबुद्धि को विदा करके)**

इस बार तो मन्त्री का व्यवहार बहुत ही विनय-पूर्ण दिखाई देता है। सम्भव है, चन्द्रहास के भेजे जाने में भी कोई भेद हो। पीछे सब मालूम हो जायेगा—

(वसन्ततिलक)

आत्मानुकूल पहले सबको बनाते—
पीछे प्रयोजन सुधीजन हैं जनाते।
अर्थी इसी नियम से कृतकार्य्य होते,
जैसे फलेच्छु जल देकर बीज बोते॥

तो चलूँ मैं भी चन्द्रहास को सब बातें समझा दूँ।

चतुर्थ दृश्य

[चन्दनावती, चन्द्रहास, सुलक्षण और माधव]

चन्द्रहास : सम्भव है, मदन के अनुरोध से मुझे वहाँ एक आध दिन रुकना पड़े। क्योंकि कहीं जाना अपने अधीन होता है पर वहाँ से आना दूसरे के अधीन। इसलिए–

(आर्या)

मेरी अनुपस्थिति में
तुम मेरे अन्य रूप सम रहना।
जो करना हो करना
जो कहना हो जहाँ, वही कहना॥

सुलक्षण : आप यहाँ से निश्चिन्त रहें। सब काम होते रहेंगे।

माधव : अच्छा, सुलक्षण जी तो आपके अन्य रूप होकर रहेंगे और सुलक्षण जी का अन्य रूप होकर कौन रहेगा?

सुलक्षण : तू जो है।

माधव : बस मरे तो हम!

चन्द्रहास : सो कैसे?

माधव : ऐसे कि सुलक्षण जी तो आपकी जगह हो गये और मैं सुलक्षण जी की जगह हो गया। फिर माधव कहाँ रहा?

चन्द्रहास : अच्छा, यह तुझी पर छोड़ा। तू जिसे चाहे अपनी जगह रख लेना।

माधव : पर मेरे जोड़ का महापुरुष कहाँ मिलेगा?

चन्द्रहास : सचमुच तू बड़ा महापुरुष है।

माधव : फिर इतने झगड़े का काम ही क्या, मैं एक सहज उपाय बताऊँ।

चन्द्रहास : वह क्या?

माधव : यह कि मन्त्री का पत्र आप मुझे दे दें। मैं एक दौड़ में जाकर उसे मदन के सिर मारूँ। आप इधर-उधर घूमकर आ जाइए।

चन्द्रहास : मेरे वहाँ जाने में क्या हानि है?

माधव : कुन्तलपुर बड़ा विकट स्थान है।

चन्द्रहास : कैसा विकट?

माधव : सुनिए–

(शिखरिणी)

बिना प्रत्यंचा के विषम धनुषों से शर कहीं–
चलाये जाते हैं हृदय विधता है तनु नहीं।

कहीं सहारोही द्विरद करते आक्रमण हैं,
भरे काँटों ही से सरल पथिकों के भ्रमण हैं!

समझे?

चन्द्रहास : **(मुस्कराकर)** तो, तो मैं अवश्य ही जाऊँगा। वीर समर से डरे तो वीर ही क्या रहे!

माधव : हूँ, पर याद रखिए—

(भुजंगी)

सभी वीरता भूल जाती वहाँ,
पड़ी धीरता धूल खाती वहाँ,
वहाँ जावगे तो ठगे जावगे,
अजी, और के और हो आवगे!

चन्द्रहास : मित्र, दुर्बल मन के लिए तो ऐसी आशंकाएँ सभी कहीं हैं।

सुलक्षण : इसमें क्या सन्देह? किन्तु आप जैसों के लिए कहीं नहीं।

माधव : मैं तो फिर कहूँगा कि—

(भुजंगप्रयात)

लताएँ वहाँ चित्त को हैं फँसातीं,
कभी हैं खिजातीं, कभी हैं हँसातीं,
खुली खेलती हैं, पिकी को खिलातीं,
भुला के नये भृंग को हैं हिलातीं॥

चन्द्रहास : **(हँसकर)** आज तो तू कवि ही बन गया! कह तो वहाँ से तेरे लिए एक लता लेता आऊँ?

माधव : खैर, मेरे लिए या अपने लिए! पर देखिए, ऐसी लाना जो मुझे अपने कर-पल्लवों से मीठे फल खिलाती रहे। महारानी ने तो आज आपको आशीर्वाद दिया ही है कि शीघ्र ही अनुरूप पत्नी प्राप्त हो। मुझ ब्राह्मण का भी यही आशीर्वाद समझिए।

(एक सेवक का प्रवेश)

सेवक : कुमार की जय हो। घोड़ा तैयार है।

सुलक्षण : तो अब प्रस्थान कीजिए। इसकी बातें तो कभी पूरी न होंगी। धूप चढ़ रही है।

माधव : **(ऊपर देखकर)** परन्तु छाया करने के लिए बादल भी तो हो रहे हैं। भाग्यशालियों की सभी अनुकूलता करते हैं। अच्छा तो—

(उपेन्द्रवज्रा)

कहीं वहीं भूल न जाइएगा,
पधारिए, सत्वर आइएगा।

वनें स्वयं सत्पथ सौख्यकारी,
सुकर्म्म हों विघ्न-विपत्तिहारी॥

तृतीयांक

प्रथम दृश्य

[कुन्तलपुर के बाहर एक उद्यान].

[नियति का प्रवेश]

नियति : (आप ही आप) मैं उस नियन्ता की नियति, और सबकी, भाग्यदेवता हूँ। किसका सामर्थ्य है जो मेरी प्रतिकूलता करे? किन्तु धृष्टबुद्धि की बुद्धि ठिकाने नहीं। वह एक बार मेरा प्रभाव देख चुका है पर उसने हठ नहीं छोड़ा! आज उसने फिर चन्द्रहास को मरवाने की इच्छा से यहाँ भेजा है। किन्तु मैं उसकी रक्षा करूँगी। चन्द्रहास! निःशंक चला आ। मैं तुझ पर और भी प्रसन्न हूँ।

(चन्द्रहास का प्रवेश)

चन्द्रहास : (आप ही आप) कुन्तलपुर तो मैं आ ही पहुँचा, परन्तु यह दोपहर का समय विश्राम करने का है–

(शिखरिणी)

द्रुमों के नीचे ही अब रह गयी छाँव वन में,
नहीं हैं उत्साही पथिक, पशु पक्षी गगन में।
स्वयं ही आ जाती इस समय है श्रान्ति मन में,
प्रतापी पूषा भी कुछ अचल-सा गगन में!

इसलिए, इस समय मदन को कष्ट देना उचित न समझ कर नगर के बाहर उसी के इस उद्यान में ठहर जाना मैंने उचित समझा। मेरा शरीर भी कुछ क्लान्त-सा हो रहा है। यद्यपि मार्ग में मुझे कुछ श्रम नहीं जान पड़ा पर इस शिथिलता का कुछ कारण होना चाहिए। हाँ, जान लिया–

(उपजाति)

उत्साह कार्य्य श्रम को दबाता,
शरीर मानो बन यन्त्र जाता!
हाँ, पूर्ण होने जब कार्य्य आता,
सन्तोष शैथिल्य अवश्य लाता॥

नियति : यह और कुछ नहीं, मेरी एक नयी लीला का सूत्रपात है।

चन्द्रहास : पर क्या मेरे शरीर में आज ऐसी ही शिथिलता है? मैं ठीक नहीं कह सकता। जी चाहता है, कुछ देर विश्राम करूँ। यह समय और स्थान भी इसके लिए उपयुक्त है।
(इधर उधर देखकर) अहा! कैसा अच्छा दृश्य है–

(प्रमिताक्षरा)

फल-फूल और बहु पत्र भरे,
निज मातृभूमि पर छत्र धरे।
खग-गीत-पूर्ण तरु ये खिल के,
अनुलाप-सा कर रहे मिल के!

उपवन भी मनोविनोद के लिए एक अपूर्व स्थान होता है। उस ओर वह कुंज कैसा मनोहर है–

(मालिनी)

अति ललित लता है मण्डपाकार छाई,
गिर कर सुमनों ने सेज-सी है बिछाई।
किसलय-कर मानों आगतों को बुलाते,
हृदय नयन दोनों हैं यहाँ तृप्ति पाते॥

तो चलूँ, थोड़ी देर वहीं विश्राम करूँ।

नियति : यथेष्ट विश्राम कर। तब तक मैं दूसरा काम करती हूँ।

द्वितीय दृश्य

[उसी उद्यान का दूसरा भाग]

[विषया, विजया, मल्लिका, सुशीला और सरला सखियों का गान]

(गीत)

कुसुमित हरित मरित उपवन है,
सुरभित मलयज मृदुल पवन है।
पिककुल-कलकल-कलित गगन है,
ललित समय कृत विलुलित मन है॥

विजया : सखी विषया! देख, तू आना नहीं चाहती थी। यद्यपि वसन्त बीतने पर है, परन्तु इस उद्यान में उसका पूरा प्रभाव प्रकट हो रहा है!

विषया : सखी! सचमुच आज मेरी इच्छा न थी, पर तूने न छोड़ा। तुझे उपवन में घूमना बहुत पसन्द है। मुझे भी भवानी-पूजन का अवसर मिल गया।

विजया : **(मुस्कराकर)** आज भवानी से मनमाना वर माँग लेना।

विषया : बस, बहुत न बोल, नहीं तो बेचारी कोकिलाएँ चुप हो जायेंगी!

विजया : कोकिलाओं पर ऐसी दया थी तो तू ही न बोलती?

विषया : मैं क्या अपने विषय में कहती हूँ? चुप तुझे रहना चाहिए जो अपने कलकण्ठ से उन्हें लज्जित करने चली है!

सरला : और, मैं तुम दोनों से ही कहती हूँ। जब तुम दोनों ही मौन रहो तभी बेचारी कोकिलाओं का कल्याण है!

सुशीला : सखी, तू भूलती है। केवल न बोलने से ही क्या होता है? उद्यान की लताएँ तो फिर भी लज्जित ही रहेंगी।–

(सवैया)

करतीं जब आकर शोभित ये
इस लौकिक नन्दन की गलियाँ।
छद देख सु-पल्लव हैं कँपते
रद देख नहीं खिलतीं कलियाँ।
उड़ते अलि हैं दृग देख तथा
मुँह ही तकती सुमन-स्थलियाँ।
चलती-फिरती अवलोक इन्हें
लचतीं ललिता लतिकावलियाँ!

विषया : **(आक्षेप से)** मल्लिका! तू भी कुछ कह ले। सरला और सुशीला ने तो अपनी-अपनी लीला दिखा दी, तू क्यों रह जाय!

मल्लिका : मैं क्या तुच्छ लताओं को लेकर तुम्हें उपवन में घूमने से रोक सकती हूँ?

(त्रोटक)

लतिकावलियाँ सिर कूट उठें,
फल फूल तथा दल टूट उठें।
छवि-पुंज चतुर्दिक छूट उठें,
पर लोलुप भृंग न लूट उठें!

इसलिए इतना अवश्य कहूँगी कि यहाँ पर सँभल-सँभलकर घूमना चाहिए।

विजया : तेरी बात भी सुन ली। पर यह लताओं वाली उपमा क्या ठीक है? वे तो अभी हमारी सखी पर उलटी हँस रही हैं, क्योंकि वे सभी अपने-अपने विटपवरों से लिपट रही हैं और हमारी सखी अभी तक–

विषया : **(बीच में)** यह तो मेरे मिस से तू अपनी दशा का वर्णन कर रही

है। किसी ने ठीक कहा है कि मन की बात कभी न कभी मुँह से निकल ही जाती है। सो तू इसके लिए चिन्ता न कर। तेरी यह इच्छा भी पूरी हो जायगी।

विजया : पहले तू तो अपनी इच्छा पूरी कर ले फिर मुझे आशीर्वाद देना!

सुशीला : तुम्हें यह मालूम नहीं कि इनकी यह इच्छा शीघ्र ही पूरी होने वाली है।

विजया : क्या सच? मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं।

सुशीला : मैं क्या झूठ कहती हूँ?

विजया : पात्र कौन निश्चित हुआ है?

सुशीला : अभी पूरा निश्चय तो नहीं हुआ पर निश्चित-सा ही समझो।

विजया : फिर कुछ सुनूँ भी तो।

सुशीला : चन्दनावती के युवराज।

विजया : अच्छा, तभी धृष्टबुद्धि काका वहाँ गये हैं।

(विषया से) क्यों सखी, मुझसे इतना भेदभाव! मुझसे छिपे-छिपे ये बातें!

विषया : **(स्वगत)** मेरा ऐसा भाग्य कहाँ? जब उनके सुने हुए गुणों का विचार करती हूँ तब यही प्रश्न उठता है कि क्या मैं उनके योग्य हो सकती हूँ? माँ ने पहले ही सुशीला से इस बात की चर्चा करके अच्छा नहीं किया।

(प्रकट) सब झूठी बातें। सखी विजया! तू नहीं जानती, नयी-नयी बातें बनाकर खड़ी न कर दे तो यह सुशीला ही नहीं।

विजया : चल रहने दे। अब छिपाने की चेष्टा व्यर्थ है—

(त्रोटक)

छिपता जन का अनुराग नहीं,
दबती उर की वह आग कहीं?
अब तू कुछ आप कहे न कहे,
मन बोल रहा, मुख मौन रहे?

विषया : **(स्वगत)** ठीक है। जब से मैंने उनकी बड़ाई सुनी है तब से मेरे हृदय की न जाने क्या दशा हो गयी है!

(प्रकट) सखी विजया! तू भी बड़ी समझदार है! चन्द्रमा को देखे बिना ही चकोरी अपने आपको भुला दे, ऐसा भी कहीं हो सकता है?

विजया : परन्तु क्या तू यह नहीं जानती कि—

(आर्या)

कान पकड़ कर मन को,
प्रिय का गुण-जाल खींच झट लेता है।
सुरभित पवन मधुप को
समुपस्थित सुमन-निकट कर देता है।

(विषया लज्जित होती है)

सुशीला : वाह! क्या कान पकड़े हैं! प्रियतम का गुण-ज़ाल सचमुच बड़ा ही दृढ़ है। तभी तो, देखो न, विषया रानी के कर्णमूल पर्यन्त लाल हो गये हैं!

(सब हँसती हैं)

विजया : सखी, क्या अप्रसन्न हो गयी?

सुशीला : अप्रसन्न होने की क्या बात है? आज तुम जो कुछ माँगोगी वही मिलेगा। ये क्या अनुदार हैं? देखती नहीं, मन का दान पहले ही कर चुकी हैं, तन भी दिया ही-सा है!

विषया : ऐसा है तो फिर मुझसे माँगना ही क्या रहा?

विजया : बहुत कुछ। तन-मन देकर जो धन तेरे हाथ लगेगा उसी में से—

विषया : (बीच में) चलो रहने दो। इसीलिए क्या तुम सब हठ करके मुझे यहाँ लायी थीं? यही तुम्हारा भवानी-पूजन है!

(एक ओर जाती है)

सखियाँ : अरे सुनो, सुनो, अप्रसन्न क्यों होती हो? लो, अब हम कुछ न कहेंगी। तुम्हीं मन ही मन जो चाहो कहती रहना, पर अभी से साथ क्यों छोड़ती हो?

विजया : वह अब न सुनेगी। थोड़ी देर उसे भाव-राज्य में घूमने दो। आओ, तब तक हम इस उद्यान के सरोवर की शोभा देखें और थोड़ी देर वहीं बैठकर विश्राम करें।

तृतीय दृश्य

[वही उद्यान]

विषया : (आप ही आप) हाय! अभी से यह दशा! यद्यपि सखियों ने प्रेम-भाव से ही सब बातें कही हैं, परन्तु मैं तो लज्जा के मारे मर-सी गयी। फिर भी मन नहीं मानता। न जाने क्या होगा!

(नियति का प्रवेश)

नियति : बाले! चिन्ता न कर। मैं तेरे साथ हूँ।

विषया : (द्रुतविलम्बित)

प्रणय-सिन्धु अपार अथाह है;
विरह-वाडव का अति दाह है।
हृदय! वह्नि जले जल में जहाँ—
कुशल है फिर हाय! दहाँ कहाँ?

नियति : तेरे प्रेम-पारावार में रत्न ही रत्न हैं।

विषया : हे मन! अधीर न हो—

(सवैया)

वह मार्ग अवश्य मनोरम है,
पर कण्टक-पूरित, दुर्गम है।
मिलता जल और विराम नहीं,
पड़ता अति घोर परिश्रम है॥
विचरे जितने जन हैं उसमें,
सबका उपहास हुआ सम है।
मत जा उस ओर अरे मन! तू,
वह स्वप्न, मृगाम्बु तथा भ्रम है॥

नियति : तेरे लिए वह स्वप्न नहीं, प्रत्यक्ष है। मृगतृष्णा नहीं, मानसरोवर है। भ्रम नहीं, सत्य है। तू आनन्द से आगे बढ़।

विषया : (चलती हुई) हे हृदय! तू किसके पीछे चंचल घोड़े की तरह दौड़ता है? तूने उसे कभी देखा भी है जिसके लिए तू इतना आतुर हो रहा है? माना कि केवल गुण सुनकर ही मन किसी को देख लेता है, पर क्या आँखें भी किसी बिना देखे हुए के लिए इतनी आकुल हुआ करती हैं? हाय! इसका उत्तर तो बहुत ही सहज है—

(आर्या)

गुण चिन्तन कर बहुधा
मन ही मन मूर्ति कल्पना करके।
अन्तर्दृष्टि – द्वारा
जन क्यों दर्शन करें न प्रियवर को॥

नियति : मैं तेरी कल्पना को अभी प्रत्यक्ष किये देती हूँ।

विषया : परन्तु हे मन! क्या तू उनके योग्य है? सुना है, मनुष्य रूप में वे कोई देवता हैं। न जाने तेरे जैसे कितने हृदय उन्हें आत्म-समर्पण करने के लिए तैयार होंगे! न जाने कितने रूपयौवन उनकी पूजा करने के लिए प्रस्तुत होंगे! तेरी गणना ही क्या? परन्तु तू क्या कहता है—

(अनुष्टुप्)

उनकी हो चुकी हूँ मैं, लोग जो कुछ भी कहें।
वे भी सदैव मेरे हैं, किसी के क्यों न हो रहें!

नियति : तेरे ही, और किसी के नहीं।

विषया : **(इधर-उधर देखती हुई)** क्या करूँ, कुछ भी अच्छा नहीं लगता। दो दिन में मैं ही और की और हो गयी या सब दृश्य ही बदल गये! जिधर देखती हूँ उधर एक अभाव-सा दिखाई देता है—

(वसन्ततिलक)

ऐसा अदृश्य कुछ है मन में समाया,
पूर्णाधिकार जिसने अपना जमाया।
तो और दृश्य फिर क्योंकर ठौर पावे?
चाहे जिसे बस वही अब साथ लावे!

नियति : **(अँगुली उठाकर)** वह देख उस अभाव की पूर्ति का पूरा प्रभाव! **(लतागृह में सोता हुआ चन्द्रहास दिखाई पड़ता है)**

विषया : **(देखकर)** अरे इस लता-मण्डप में यह कौन है! **(पास जाकर)**

(शार्दूलविक्रीडित)

सोता है वन-देव आप यह क्या प्रत्यक्ष हो कुंज में!
होता है मन मग्न देख जिसको दिव्य प्रभा पुंज में।
पाया क्या शिव को प्रसन्न करके कन्दर्प ने गात्र है?
आया मित्र वसन्त के घर वही जो प्रेम का पात्र है!

नियति : यह तेरी कल्पित मूर्ति की सजीव प्रतिमा है।

विषया : **(मोहित होकर)** ऐसा रूप, ऐसा सौन्दर्य मनुष्य-कुल में तो कभी देखा नहीं; निश्चय ये कोई देवता हैं। इनकी सुप्त शोभा देखकर ही विदित होता है कि इनके जागने पर—

(वसन्ततिलक)

प्रत्यक्ष भूमि पर चन्द्र-विकास होगा,
आकाश के विभव का उपहास होगा।
सौन्दर्य का प्रकट पूर्ण विलास होगा,
होंगे जहाँ यह वहीं वर-वास होगा॥

नियति : यह सब तेरे ही हृदय में होगा।

विषया : परन्तु इस मनोहारिणी मूर्ति को देखकर मेरा मन क्यों आप ही आप खिंच जाता है? क्या वह अपनी प्रतिज्ञा को भूल गया? अथवा ये वहीं हैं?

(मालिनी)

प्रथम कुछ जिसे था कल्पना ने दिखाया
फिर जब तब था जो स्वप्न में दृष्टि आया।
हृदय! यह बही क्या सामने आ गया है?
तुझ पर यह कैसा मोह-सा छा गया है?

नियति : आँखें यदि अपने इष्ट जन को पहचान लें तो आश्चर्य ही क्या!

विषया : (वसन्ततिलक)

ये देख के कुछ निमीलित नेत्र काले—
होंगे मदान्ध सहसा सब दृष्टिवाले॥

परन्तु—

श्वास-क्रिया शयन की यह देख पावें—
तो एक बार मृत क्या फिर जी न जावें!

नियति : सचमुच प्रेम की महिमा बड़ी विचित्र है।

विषया : ये सुन्दर ही नहीं, वीर भी जान पड़ते हैं। पास ही तलवार रक्खी है। अरे, इसकी मूँठ पर यह क्या लिखा है—च-न्द्र-हा-स!

नियति : हाँ, यह तेरा चित्तचोर चन्द्रहास ही है।

विषया : (भुजंगी)

अरी दृष्टि! तू खोजती थी जिसे—
यही है यही, देख ले तू इसे।
यहाँ कौन है, हाय! संकोच क्यों?
मिलेगा भला योग ऐसा किसे!

परन्तु क्या यह शरीर पृथ्वी पर सोने योग्य है? फिर कोमल शैया किसके लिए है? हाथ से ही तकिये का काम लिया गया है। इसी से सिर पेच ढीला पड़ गया है। अरे, सिर के पास यह क्या पड़ा है? यह कोई पत्र-सा जान पड़ता है। हैं, इस पर तो भैया का नाम लिखा है! ये अक्षर भी पिताजी के लिखे हुए मालूम होते हैं! यह क्या रहस्य है! हे हृदय! धीरज धर। मैं तेरी उत्कण्ठा शान्त करूँगी। विवेक! तू क्यों आगा पीछा करता है? तुझे भी तो इसके देखने का अधिकार है।

नियति : तू निस्संकोच पत्र को उठाकर पढ़। विवेक भी तो मेरे ही वश में है।

विषया : **(धीरे से पत्र को उठाकर और खोलकर)** यह तो हमारी सांकेतिक लिपि है! अच्छा, **(पढ़ती हुई)**

"प्रिय वत्स मदन!

चन्द्रहास मेरा पत्र लेकर तुम्हारे पास जाता है। तुम अविलम्ब इसे

विष या कनी दे देना। किसी विशेष कारण से मैंने यह व्यवस्था की है।

धृष्टबुद्धि''

(दुःख से) हाय! हाय! यह क्या लिखा है? हे भगवन्! पिताजी को यह क्या सूझी है? क्या मेरे भाग्य में विवाह के पहले ही विधवा होना लिखा है! नहीं, नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। पिताजी ऐसा गर्हित कार्य कभी नहीं कर सकते।

नियति : वह कर तो कुछ नहीं सकता पर करना चाहता है।

विषया : मैं तो जानती हूँ, कि भूल से वे कुछ का कुछ लिख गये हैं। कुछ भी हो, मैं इनकी रक्षा करूँगी, पर कैसे क्या करूँ? **(सोचकर)** विष या कनी। लाओ इस कनी को मैं चाट लूँ! यह केवल विषया रहने दूँ!

नियति : बस, बहुत ठीक। ऐसा होने से चन्द्रहास भी बच जायगा और तू भी सनाथ हो जायगी।

विषया : **(ऊपर देखकर)**

(आर्य्या)

सुर-गण! तुम साक्षी हो
क्या करती हूँ, न जानती हूँ, मैं।
पर जो कुछ करती हूँ
उसको कर्त्तव्य मानती हूँ मैं॥

नियति : मैं देखती हूँ, तू अपना काम पूरा कर।

विषया : **(आँखों के कज्जल से कनी को मिटाकर)** अब ठीक हो गया। यहाँ पर यही शंका हो सकती है कि मुझे इस तरह अचानक इनके हाथ सौंपने की व्यवस्था क्यों की गयी? पर लिखावट ऐसी है कि काम होने में बाधा नहीं।

(पत्र को बन्द करके उसी तरह रख देती है)

(नेपथ्य में)

(गान)

भ्रमरी! इस मोहन मानस के
बस मादक हैं रस-भाव सभी।
मदु पीकर और मदान्ध न हो
उजड़ा अब है कुशलत्व तभी॥

पड़ जाय न पंकज-बन्धन में
निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी।

दिन देख नहीं सकते सविशेष
किसी जन का सुख-भोग कभी॥

विषया : **(चौंककर)** अरे क्या सखियों ने मुझे देख लिया? अब यहाँ ठहरना ठीक नहीं, परन्तु मेरे पैर तो यहीं जकड़ गये हैं—

(स्वगत)

हे विमुग्ध मन! यों मत मोहे,
रोक लोभ यह प्रस्तुत जो है।
ईश हस्तगत है अभिलाषा,
तू भविष्य-सुख की रख आशा।

(मुड़-मुड़कर देखती हुई जाती है)

नियति : **(चन्द्रहास को देखती हुई)** अब तू भी अपनी स्वप्नमयी निद्रा को छोड़। तेरा मार्ग निष्कण्टक है।

चन्द्रहास : **(सहसा जागकर)** मैं कहाँ हूँ?
(इधर-उधर देखकर) यह तो वही उद्यान और वही लता-मण्डप है। तो क्या मैं अभी स्वप्न देख रहा था?

नियति : हाँ, पर वह स्वप्न कोरा स्वप्न ही न था।

चन्द्रहास : मैंने स्वप्न देखा कि मैं एक भीषण वन में फँस गया हूँ। मेरा मार्ग काँटों से भरा हुआ है और उस पर मेरे सामने एक भयंकर बाघ गरज रहा है।

नियति : ठीक है। धृष्टबुद्धि यथार्थ में एक भयंकर बाघ ही है।

चन्द्रहास : उसे देखकर मेरे हाथ पैर अवसन्न हो गये। चारों ओर अँधेरा छा गया, परन्तु थोड़ी ही देर पीछे एक दिव्य ज्योतिर्मयी बाला वहाँ आ पहुँची। उसके प्रकाश से सारा अन्धकार मिट गया। वह विकट वन मानों नन्दन कानन बन गया! मेरे मार्ग में काँटों की जगह फूल बिछ गये! सुन्दरी ने अपना करकमल मेरी ओर बढ़ा दिया और मैं उसे पकड़ कर उचित मार्ग पर आ गया!

नियति : ठीक है।

चन्द्रहास : तब वह किन्नरकण्ठी मेरी ओर देखकर मानों अमृत टपकाती हुई बोली—डरो नहीं, धैर्य धरो। उसी समय प्रतिध्वनि हुई—डरो नहीं। सुन्दरी ने फिर कहा—सभी कहीं श्रीहरि हैं। फिर प्रतिध्वनि हुई—सभी कहीं। वे बातें अब भी मेरे कानों में गूँज रही हैं।

(वंशस्थ)

डरो नहीं, धैर्य धरो, डरो नहीं,
सभी कहीं श्रीहरि हैं, सभी कहीं।

इसके बाद वह सोने की प्रतिमा सहसा अन्तर्धान हो गयी।

अहो! यहाँ आकर मैं छला गया,
कहाँ न जाने मन भी चला गया?

नियति : वही तेरा मन ले गयी है, पर तू छला नहीं गया।

चन्द्रहास : निस्सन्देह मेरा मन उसी के साथ चला गया—

(सवैया)

दिखलाकर सम्मुख दिव्य कला
जिसने रस-रूप-विकास किया।
चमकी फिर लोप हुई सहसा
चपला-सम लोल विलास किया।
कमला-सम थी वह कौन भला!
उसने यह क्या उपहास किया?
पहले मुझको निज दास किया
फिर दूर, निराश, उदास किया!

नियति : निराश और उदास मत हो। उसे अपने पास ही समझ।

चन्द्रहास : **(कुछ सँभलकर)** परन्तु वह तो स्वप्न था। हाय! ऐसा स्वप्न क्यों हुआ और हुआ तो फिर सच्चा क्यों न हुआ? क्या मेरे मन को व्याकुल करने के लिए ही इस माया का आविर्भाव हुआ था?

नियति : यह पीछे मालूम होगा।

चन्द्रहास : **(सामने पड़े हुए पत्र को उठाकर)** यह तो मन्त्री का वही पत्र है। जान पड़ता है, सोते में खिसक पड़ा है। हाय! मुझसे ऐसा प्रमाद क्यों हुआ?

नियति : मेरे प्रभाव से।

चन्द्रहास : **(इन्द्रवज्रा)**

निर्दोष हूँ मैं, यह क्या बताऊँ,
स्वीकार है जो कुछ दण्ड पाऊँ।
देना विधे! साक्ष्य परन्तु मेरा,
था सर्वथा प्रेरक भाव तेरा॥

नियति : एक बार नहीं, सौ बार। तू निश्चिन्त रह।

चन्द्रहास : तो चलूँ अब शीघ्र ही मदन से मिलूँ। **(दीर्घ निःश्वास लेकर)**

(उपजाति)

न तो मिली हा! वह स्वप्न-सम्पदा,
चिन्ता रहेगी जिसकी मुझे सदा।

न कार्य में पूर्ण सतर्कता रही,
क्या आज मेरा भवितव्य था यही!

नियति : तेरा भवितव्य आज जैसा था वैसा किसी का न होगा।

चतुर्थ दृश्य

[कुन्तलपुर, धृष्टबुद्धि का मकान]

मदन : (आप ही आप) अहा!

(वसन्ततिलक)

श्री चन्द्रहास अवनीतल-चन्द्र ही है,
वाणी रसाल उसकी मृदु-मन्द्र ही है।
सर्वस्व है चित-चकोर उसे चढ़ाता,
त्यों प्रेम का वह नवांकुर है बढ़ाता॥

निस्सन्देह चन्द्रहास कोई अलौकिक व्यक्ति है। क्या रूप और क्या गुण, दोनों ही बातों में वह अद्वितीय है। शील और सौजन्य, विनय और वीर्य्य, विद्या और बुद्धि सभी बातें उसमें विलक्षण हैं। सद्भाव का तो मानो वह स्वरूप ही है। थोड़ी ही देर में उसने मुझे अपना चिर-परिचित-सा बना लिया। विषया के लिए पिताजी ने बड़ा ही उपयुक्त वर खोजा। पर इस प्रकार विवाह की व्यवस्था क्यों की गयी, यह मेरी समझ में न आया। कोई गूढ़ कारण अवश्य होगा। उनके लिखने से भी यही बात मालूम होती है। जो हो, शीघ्र ही उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। विषया के विवाह की बात चलाकर विलासिनी मुझे छेड़ा करती है। इसलिए उसे दिखा हूँ कि विषया के लिए हम लोगों ने कैसा पात्र निश्चित किया है।

(घूमकर देखता हुआ)

(द्रुतविलम्बित)

सरस जीवन है जिससे अहा!
भुवन नन्दन कानन हो रहा।
सतत चन्द्रकला सम हासिनी
यह खड़ी वह प्राण-विलासिनी॥

(विलासिनी दिखाई देती है)

मदन : (पास जाकर) प्रिये! क्षमा करना, मैंने अचानक आकर तुम्हारे काम में विघ्न किया!

विलासिनी : (मुस्कराकर) क्षमा क्या सहज ही मिल जाती है? पहले कुछ अनुनय-विनय तो करो।

मदन : (मुस्कराकर) अनुनय-विनय कैसे की जाती है? सिखा दो तो वह भी करूँ।

विलासिनी : इस काम में मेरी ननदरानी बड़ी निगुण हैं। जाकर उन्हीं से सीख आओ। आज वे अनुनय-विनय के वश होकर तुम्हारे उद्यान में गयी थीं। जान पड़ता है, वहाँ उन्हें वसन्त की हवा लग गयी है। इधर तुम भी वसन्त के मित्र हो, इसलिए शीघ्र ही उनके विवाह का प्रबन्ध करो। देखते नहीं—

(आर्य्या)

तन मन की चंचलता
सतर्कता में विशेष परिणत है।
है नव दीप्ति दृगों में
विशाल है दृष्टि किन्तु कुछ नत है॥

मदन : तुम विषया को लेकर मुझसे बहुत परिहास किया करती हो। देखो, हमने उसके लिए योग्य वर खोज लिया है।

विलासिनी : (आग्रह से) सच?

मदन : हाँ।

विलासिनी : बड़ी बात हुई। भाई ही ठहरे, बहन का विरह कब तक देख सकते थे!

मदन : इन बातों को रहने दो। देखो, यह पिताजी का पत्र आया है।

(पत्र देता है)

विलासिनी : (पढ़कर) अरे, यह तो विवाह भी अभी हो जायगा! इसका कारण?

मदन : मेरी समझ में भी नहीं आया, पर जब पिताजी की ऐसी आज्ञा है तब कोई गूढ़ कारण अवश्य होगा। जो हो मैं माँ को सब हाल सुना दूँ। जहाँ तक हो सके शीघ्रता होनी चाहिए।

विलासिनी : अच्छी बात है। मैं भी ननदरानी के पास होकर आती हूँ। पर यह तो बतलाओ आर्य्य चन्द्रहासजी कैसे हैं।

मदन : देखोगी तब जानोगी, पर कहीं मुझे न भूल जाना!

विलासिनी : कुछ चिन्ता नहीं। ऐसा हुआ तो तुम्हें दूर न जाना पड़ेगा!

मदन : मेरे तो तुम जैसी तुम्हीं हो।

(जाता है)

विलासिनी : (आप ही आप) मैं भी ननदरानी को सब हाल सुना दूँ। थोड़ी देर विनोद ही होगा। अच्छा, वे किधर हैं?

(घूमकर देखती हुई)

अहा! वह देखो, चिन्तित भाव से कैसी मूर्ति-सी बनी बैठी है।

(विषया दिखायी देती है)

विषया : **(आप ही आप)** मैंने उन्हें यहाँ आते हुए तो झरोखे में से देख लिया है। परन्तु फिर क्या हुआ, यह जानने के लिए मेरा मन आतुर हो रहा है।

विलासिनी : **(पास जाकर)** ननदरानी!

(भुजंगप्रयात)

बनी मूर्ति-सी सोचती हो यहाँ क्या?
तुम्हें ध्यान भी है कि होता कहाँ क्या!
लगी दीठ-सी दीखती है किसी की,
गयी थी जहाँ देख आयी वहाँ क्या?

विषया : **(स्वगत)** हाय! हाय! क्या सब भेद खुल गया। हे भगवान्! अब क्या होगा!
(प्रकट) भाभी! तुम क्या कहती हो!

विलासिनी : अरे, तुम घबराती क्यों हो? क्या सचमुच आज तुम्हें कुछ कष्ट है?

विषया : हाँ, भाभी! आज शरीर कुछ क्लान्त-सा हो रहा है।

विलासिनी : उद्यान में बहुत घूमने-फिरने से थकावट आ गयी होगी।

विषया : **(स्वगत)** यह तो वही चर्चा है!
(प्रकट) हो सकता है।

विलासिनी : तो आओ, मैं एक सुख-संवाद सुनाऊँ।

विषया : क्या!

विलासिनी : तुम्हारा विवाह।

विषया : **(स्वगत)** यह बात तो आशाजनक है, परन्तु शंकित मन को सर्वत्र शंका ही होती है।
(प्रकट) तुम जब देखो, मुझे छेड़ा करती हो। यह क्या अच्छी बात है?

विलासिनी : मैं झूठ नहीं कहती। वर को देखना चाहो तो आओ, मैं दिखा लाऊँ।

विषया : भाभी! यदि यही दशा रही तो तुम्हारी बातों का विश्वास उठ जायगा।

विलासिनी : अच्छा, चलकर प्रत्यक्ष देख लो न?

विषया : मुझे नहीं जाना।

विलासिनी : जिसे आत्मसमर्पण करना है उसे एक बार देख लेना अच्छा होता है।

विषया : **(आक्षेप से)** देख लिया!

विलासिनी : कब?

विषया : मैं कहती हूँ मुझे कुछ नहीं देखना। तुम्हीं देखती रहो।

विलासिनी : अच्छा, तुमने देख लिया है तो चलो, मुझे ही दिखा लाओ!

विषया : मैं क्या तुम्हें पकड़े बैठी हूँ?

विलासिनी : पकड़े तो नहीं बैठीं, पर सूने में किसी के धन को न देखना चाहिए। और, कहो चाहे न कहो, मन तो तुम्हारा भी चाहता है!

(त्रोटक)

तुम उत्सुक हो प्रिय-दर्शन को,
पर लाज दबा रखती तन को।
मन अस्थिर हो उड़ता, गिरता;
जकड़े पर का खग-सा फिरता!

विषया : **(मुस्कराकर)** बस तुम्हें यही बातें आती हैं कि और भी कुछ? लो, मैं यहाँ से जाती हूँ।

(जाती है)

विलासिनी : **(पीछे-पीछे जाती हुई)** अरे, क्या तुम अकेली ही जाकर देखना चाहती हो। पर मैं तुम्हें न छोड़ूँगी।

चतुर्थांक

प्रथम दृश्य

[कुन्तलपुर, धृष्टबुद्धि का मकान]

चन्द्रहास : **(आप ही आप)** अब मेरी चिन्ता मिटी। मैंने जिसे स्वप्न में देखा था वह प्राणेश्वरी विषया ही थी।

(प्रमिताक्षरा)

शुचि हाव-भाव रस-रंग वही,
रुचि-रूप-शील-गुण ढंग वही।
अविभिन्न एक विधि की कृति है,
वह स्वप्न और यह जागृति है!

जिसके बिना मेरी आँखें अन्धकार देखती थीं, वह यही है अहा!

(इन्द्रवज्रा)

क्या कौमुदी, क्या मणि-मंजुमाला,
है काँपती दीप-शिखा विशाला।
जो सामने हो यह दिव्य बाला,
तो अन्ध भी देख उठें उजाला!

किन्तु मैंने यह स्वप्न में भी न सोचा था कि इतना शीघ्र मेरा भाग्योदय हो जायगा। हे चित्त तू अब और क्या चाहता है?

(इन्द्रवज्रा)

तू हो चुका था जिससे निराश,
पाया उसे आप बिना प्रयास।
चिन्ता नहीं है अब अन्य कोई,
होगा न तेरे सम धन्य कोई!

मैं क्या जानता था कि मन्त्री महोदय ने अपने पत्र में मेरे विवाह की ही बात लिखी है। यद्यपि मैंने मदन से बहुत कुछ कहा कि यह शुभ कार्य्य मेरे और आपके पिताजी की उपस्थिति में ही होना चाहिए। पर मेरी एक न चली। जान पड़ता है, पिताजी को यह बात पहले ही से मालूम थी। इसी से उन्होंने मन्त्री को विशेष रूप से सन्तुष्ट रखने की बात कही थी। माँ ने भी चलते समय इसी भाव का आशीर्वाद दिया था और माधव ने भी ऐसी ही बातें कही थीं अब उसे हँसी करने का अच्छा अवसर मिल गया। और मुझे? अहा!

(मालिनी)

कर पकड़ प्रिया का स्वेद-पीयूष पूर्ण,
विरह-मरण मेरा हो गया चूर्ण चूर्ण।
उस कर-वर में था हार्दिक स्नेह कैसा,
अब तक कर मेरा स्निग्ध है आर्द्र जैसा!

(नेपथ्य में)

भाभी! तुम मुझे न छेड़ो।

चन्द्रहास : **(चौंककर)** अरे, यह अमृत कहाँ से बरसा।

(द्रुतविलम्बित)

सुन जिसे चढ़ता मद-सा स्वयम्
उमड़ता रस का नद-सा स्वयम्।
किस नये स्वर की झनकार से—
बज उठे सब रोम सु-तार-से!

(नेपथ्य में)

मैं न जाऊँगी।

चन्द्रहास : निश्चय यह मधुरिमा, प्रिया के ही कण्ठ की है। जान पड़ता है, ननद-भावज में कुछ विनोद हो रहा है।

(नेपथ्य में)

अच्छा, वहाँ क्या है जो तुम नहीं जातीं? तुम्हारे हाथ का रखा हुआ चित्र मुझे न मिलेगा। इसी से तुम्हें भेजती हूँ और कोई बात नहीं। तुम्हें मेरी सौगन्ध है, ननदरानी! चली जाओ।

चन्द्रहास : यह विलासिनी है। किसी मिस से प्रिया को मेरे पास भेजना चाहती है। तो अब मैं चुप रहूँ।

(विषया का प्रवेश)

विषया : **(स्वगत)** यहाँ आते हुए मुझे इतना संकोच क्यों होता है? भाभी के सौगन्ध दिलाने से मैं आयी सही, पर मेरे पैर आगे को नहीं बढ़ते। आँखें भी ऊपर को नहीं उठतीं। अरे नेत्रो!

(आर्या)

जिनको चकोर बनके
मन ही मन चन्द्र-सा निरखते हो!
सम्मुख पाकर उनको
यों विमुख भाव क्यों तुम रखते हो!

चन्द्रहास : **(देखकर)** आह! यह प्राणेश्वरी है—

(आर्या)

लज्जावती प्रिया की
गति है मृदु मन्द और मतवाली-सी।
यह मेरे मानस में
समा रही है मनोहर मराली-सी॥

विषया : **(स्वगत)** यही सामने प्राणेश्वर हैं। अब क्या करूँ?

(ठिठकती)

चन्द्रहास : **(आगे बढ़कर)** प्रिये! इतना संकोच क्यों?

(हाथ पकड़कर बिठाना चाहता है)

विषया : **(विनीत भाव से)** इस समय न छेड़िए। मुझे काम है।

चन्द्रहास : क्या काम है?

विषया : हाथ छोड़िये तो बतलाऊँ।

चन्द्रहास : प्रिये! यह नहीं हो सकता—

(शार्दूलविक्रीडित)

मैंने जो यह पाणि-पद्म पकड़ा, मेरा यही हार है,
साक्षी हैं, ध्रुव, वेद, पावक तथा साक्षी सदाचार है॥
तेरे प्रेम-पयोधि में बस यही मेरा कराधार है,
छोड़ूँगा इसको न मैं प्रियतमे! सर्वस्व का सार है॥

विषया : नाथ! ऐसा न कहिए। मैं तो अनुचरी हूँ।

चन्द्रहास : अनुचरी नहीं, सहचरी। तुम अनुचरी बनोगी तो मुझे भी अनुचर बनना पड़ेगा।

विषया : धीरे-धीरे बोलिए। मुझे बड़ा संकोच हो रहा है।

चन्द्रहास : संकोच की कौन-सी बात है? मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध संकोच का सम्बन्ध नहीं, अभिन्नता का है।

(नेपथ्य)

(गान)

अहो! धन्य सम्बन्ध! तू धन्य है,
जहाँ तू न कोई वहाँ अन्य है।
मिले एक होके यहाँ आज दो,
महामोद छाया मनोजन्य है॥

चन्द्रहास : प्रिये! सुना? हमारे तुम्हारे सम्बन्ध में भेद के लिए स्थान ही नहीं।

विषया : तो मैं फिर आ जाऊँगी।

चन्द्रहास : (शालिनी)

आके जाना चाहती है कहाँ तू?
बैठी मेरे चित्त में है यहाँ तू।
लेती है क्या तू प्रतीक्षा-परीक्षा?
क्या ऐसी ही है प्रिये! प्रेम-दीक्षा?

विषया : नाथ! यह बात नहीं। मुझे भाभी ने एक काम के लिए भेजा है। उसे करके मैं फिर आ जाऊँगी।

(नेपथ्य में)

(गान)

द्रुम और अहो लतिके! मिल के
खिल के तुम भूतल-ताप हरो।
बिछड़ो न परस्पर एक रहो
नत निर्मल निश्चल भाव धरो॥
मधु-संचय से द्विज बन्दित हो
पथिकाश्रय दो परमार्थ करो।
फल-फूल भरे दृढ़ मूल रहो
जग में निज शुद्ध सुगन्ध भरो॥

चन्द्रहास : प्रिये! क्या अब भी भाभी के काम का बहाना रहेगा?

विषया : मैं हारी। भाभी के साथ मेरी सखियाँ गा रही हैं। सच कहती हूँ, मुझे बड़ी लज्जा आती है। अभी जाने दीजिए, अवसर पाकर मैं

अवश्य आऊँगी।

चन्द्रहास : तो थोड़ी देर तो और ठहरो।

विषया : क्यों?

चन्द्रहास : (द्रुतविलम्बित)

निरख के छबि की तुझ सृष्टि को–
सफल और करूँ कुछ दृष्टि को।
तनिक तो नयनामृत पी सकूँ,
अमर जीवन पाकर जी सकूँ!

अथवा–

(आर्या)

क्षण भर तो हम दोनों
और परस्पर अभिन्न होकर रह लें।
मिल कर अपनी अपनी
मेरे तेरे हृदय कथा कुछ कह लें!

[विषया लज्जा का भाव दिखलाती है]

(नेपथ्य में)

ठहरो, सुनने दो। हाँ, क्या कहा–चन्दनावती से मन्त्री महोदय आ गये और उन्हें पहुँचाने के लिए सुलक्षण और माधव भी आये हैं। अच्छा, मैं आर्य्य चन्द्रहास को सूचित किये देती हूँ। **(दोनों चौंकते हैं)**

विषया : नाथ! अब जाने दीजिए।

चन्द्रहास : हाँ, अब तो तुझे भी अभ्यर्थना के लिए जाना है।

(सवैया)

पाकर भी यह मैं तुझको
कुछ पा न सका परितृप्ति अभी।
हो न सका अनुलाप, रहा–
मन का मन में अभिलाष सभी।
तू अनुकूल यहाँ जब हो
अब हो सकती फिर भेंट तभी।
योग-वियोग तुझी पर है
छलना सुभगे! मुझको न कभी।

द्वितीय दृश्य

[कुन्तलपुर, धृष्टबुद्धि का घर]

[धृष्टबुद्धि शय्या पर पड़ा है]

[नियति का प्रवेश]

नियति : यही है धृष्टबुद्धि। जिसे यह विष देने जाता है उसे मैं विषया दिलाती हूँ। चन्द्रहास के विवाह की बात सुनकर यह अस्वस्थता का बहाना करके पड़ रहा है। पर इसके रोग को मैं जानती हूँ। तुच्छ! अपना परिश्रम और मेरा पराक्रम देख लिया है?

धृष्टबुद्धि : **(उठकर उत्तेजना से)** अविश्वास! घोर अविश्वास! आज मैंने एक बात और सीखी। संसार में किसी का विश्वास नहीं। वाह रे चन्द्रहास! मैं तेरी प्रशंसा करता हूँ। एक दृष्टि से देखकर मनुष्य को पहचान लेना मेरे लिए साधारण बात है। पर तूने मुझे भी धोखा दिया! धृष्टबुद्धि! तुझे अपनी बुद्धि का बड़ा घमण्ड था, आज वह दूर हो गया। तेरे सब पासे उलटे पड़ गये! एक छोकड़े ने तेरी आँखों में धूल डाल दी!

नियति : जब तक तू अपना दुराग्रह न छोड़ेगा तब तक यही दशा रहेगी।

धृष्टबुद्धि : **(सोचकर)** परन्तु नहीं, चन्द्रहास उस सांकेतिक लिपि को पढ़ ही कैसे सकता था? कहीं मैंने ही तो विष के स्थान में विषया न लिख दिया हो? किन्तु ऐसी भूल तो मुझसे हो नहीं सकती। फिर क्या हुआ, सो समझ में नहीं आता।

नियति : उसके समझने में तू सर्वथा असमर्थ है।

धृष्टबुद्धि : मैं एक बार उस पत्र को देखूँगा। किन्तु अब उससे क्या? जो होना था हो चुका। हृदय! अब तू क्यों जलता है? आः! अब भी तेरा हठ बना हुआ है! शान्त हो। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं अपने निश्चय पर निश्चल हूँ। मनुष्यता! तू दूर हो। पशुता! पिशाची मुझे आलिंगन कर। मैं अपने प्रण पर अटल हूँ। आकाश! तू फट जा। पृथ्वी! तू पाताल चली जा। मैं आकाश के नीचे और पृथ्वी के ऊपर वह काम करना चाहता हूँ जो आज तक किसी ने नहीं किया। विषया! मेरी बेटी विषया। आः! हृदय! तू वज्र का बन जा। विषया वि-ध-वा हो जाय। मैं चन्द्रहास को न छोड़ूँगा, न छोड़ूँगा। न छोड़ूँगा! उसे मार डालूँगा।

नियति : नीच! तू सचमुच नरपिशाच है। किन्तु याद रख, पीछे पछतायेगा।

(जाती है)

धृष्टबुद्धि : (भुजंगप्रयात)

करूँगा वही जो न कोई करेगा,
मरेगा विपक्षी, मरेगा, मरेगा।
उठूँ तो अभी मेरु को मैं हिला दूँ,
कि आकाश-पाताल दोनों मिला दूँ।

चन्द्रहास का मारना कितनी बात है? उस पर क्रोध करना भी मेरे लिए अपमान का विषय है। मुझे क्रोध है विवाह हो जाने पर, और शोक है—आः! फिर दुर्बलता! दूर हो अभागी! मैं अपना आग्रह न छोड़ूँगा। चन्द्रहास को पूजा के मिस से पुरी के बाहर भेज कर घातकों से—

(चौंककर) अरे, कोई सुनता तो नहीं! मुझे किसी का विश्वास नहीं! दीवारों के भी कान होते हैं।

(मदन का प्रवेश)

मदन : हाय! पिताजी को क्या हो गया है—

(इन्द्रवज्रा)

हैं नेत्र मानों युग रक्त-पात्र
सावेग, सन्तप्त, सकम्प गात्र
हैं वैद्य भी व्यग्र कि दोष, क्या है,
उन्माद है, शोक कि रोष क्या है!

धृष्टबुद्धि : **(देखकर स्वगत)** यह मेरा अन्धभक्त मूर्ख पुत्र मदन है। अच्छा, अब मैं अपने को सँभालूँ। **(सँभलकर बैठता है)**

मदन : पिताजी! आपकी तबियत कैसी है?

धृष्टबुद्धि : अब मैं अच्छा हूँ। कई दिन बाहर धूप में फिरने से और रात में जागने से माथे में कुछ विकार आ गया था। अब ठीक है।

मदन : मैं तो घबरा गया। राजवैद्यजी के सिवा और किसी से मैंने कुछ नहीं कहा। सब लोग आपसे मिलना चाहते थे। पर मैंने आपके आदेशानुसार सबसे कह दिया कि इस समय शरीर कुछ श्रान्त है, अतएव लेट रहे हैं।

धृष्टबुद्धि : ठीक किया। सोने से मेरी थकावट और हरारत मिट गयी।

मदन : बड़ी बात है। आज्ञा हो तो राजवैद्यजी आपको एक बार देख लें।

धृष्टबुद्धि : नहीं, अब मैं अच्छा हूँ। आवश्यकता होगी तो देखा जायगा। एक बात है, मैं दो-चार दिन राज-काज न देख सकूँगा। महाराज की आज्ञा लेकर तुम्हीं जो उचित समझो करना। मुझसे कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं। अभी से तुम्हें अपना भार सँभाल लेना चाहिए।

मुझमें अब न वैसी विचार करने की शक्ति है, न काम करने की।

मदन : राज-काज के लिए आप चिन्ता न करें, सब होता रहेगा। जिसमें आपका शरीर अच्छा रहे वही कीजिए।

धृष्टबुद्धि : और कोई समाचार है?

मदन : सब काम आपके पत्रानुसार कर दिया है, सो पहले ही कह चुका हूँ। पर इस तरह विषया–

धृष्टबुद्धि : **(बीच में)** विषया नहीं विष–अरे, तुम मेरे किये पर शंका करते हो। मैंने जो उचित समझा, किया।

मदन : आपका मस्तक, जान पड़ता है, अभी तक ठीक नहीं हुआ। आज्ञा हो तो एक बार वैद्य जी को बुलाऊँ?

धृष्टबुद्धि : नहीं, नहीं, अब मैं अच्छा हूँ। हाथ मुँह धोकर थोड़ी देर बाद सबसे मिलूँगा। फिर देखा जायगा।

तृतीय दृश्य

[कुन्तलपुर, धृष्टबुद्धि का मकान]

विषया : **(आप ही आप)** प्राण बचे। भगवान् जानें उस पत्र का क्या आशय था। परन्तु प्राणनाथ को पाकर मैं सब बातें भूल गयी थी। पिताजी के आने पर अचानक उस बात की याद आते ही मेरा हृदय धड़कने लगा था। उनके अस्वस्थ रहने से और भी आशंका बढ़ गयी थी। किन्तु माँ के सामने उन्होंने विवाह हो जाने पर सन्तोष ही प्रकट किया। और मुझे भी आशीर्वाद दिया। अब मैं निश्चिन्त हुई।

(विलासिनी का प्रवेश)

विलासिनी : ननदरानी! क्या हो रहा है? अब तो तुमने हमें बिलकुल ही भुला दिया। दो ही दिन में तुम और की और हो गयीं!

विषया : भाभी! जान पड़ता है, ऐसी बातें न कहो तो तुम्हें अन्न ही न पचे!

विलासिनी : तुम्हें देखे बिना सचमुच मुझे अन्न नहीं पचता। पर तुम अब दूसरी ही चिन्ता में रहती हो।

विषया : मैं तो किसी चिन्ता में नहीं रहती।

विलासिनी : अच्छा, नहीं रहती तो बताओ, आज कौन-सा नया समाचार है।

विषया : **(आग्रह से)** क्या कोई नया समाचार है?

विलासिनी : मुझसे क्या पूछती हो, तुम्हें तो सब मालूम है!

विषया : तुम जीती। बताओ, क्या बात है?

विलासिनी : अच्छा, मुझे क्या दोगी?

विषया : मेरे पास क्या है?

विलासिनी : क्या सब दे दिया?

विषया : किसे, क्या दे दिया?

विलासिनी : किसे दे दिया, सो तो तुम्हीं जानो। पर क्या दे दिया, यह मैं बता सकती हूँ।

विषया : बताओ?

विलासिनी : देखती हूँ मन ही दे दिया है!

विषया : जाओ, मैं तुमसे न बोलूँगी।

विलासिनी : अब मुझसे क्यों बोलोगी, बोलने वाले जो मिल गये हैं! पर जब तुम मुझसे नहीं बोलतीं तब मैं ही तुमसे क्यों बोलूँ?

विषया : भाभी!

विलासिनी : लो, मैं यह चली। **(जाना चाहती है)**

विषया : **(हाथ पकड़कर)** मैं हारी। तुम्हें सौगन्ध है, बताओ क्या है!

विलासिनी : तुम सौगन्ध न धराया करो। अच्छा, बतलाती हूँ। पर एक बात तुम्हें भी बतानी पड़ेगी।

विषया : मैं तुमसे क्या छिपाती हूँ?

विलासिनी : तो बताओ, आर्य्य चन्द्रहासजी तुम्हें कैसे लगते हैं?

विषया : अच्छा बताओ, भैया तुम्हें कैसे लगते हैं?

विलासिनी : **(कुछ लजाकर)** यह मेरी बात का उत्तर नहीं।

विषया : जो मेरी बात का उत्तर है वही तुम्हारी बात का उत्तर होगा।

विलासिनी : देखती हूँ तुम भी कुछ-कुछ उत्तर देना सीखने लगी हो। अच्छा, सुनो। तुम्हारी सखी विजया उस दिन उद्यान में तुमसे कहती थी कि मैं तुम्हारे धन में भाग लूँगी। सो समझो कि उसने ले लिया!

विषया : मैं नहीं समझी।

विलासिनी : डरो मत। तुम चन्दनावती की अधीश्वरी हुई हो। इससे उस राज्य के मन्त्रिपुत्र और तुम्हारे उनके अभिन्न हृदय मित्र सुलक्षण के साथ उसका विवाह होगा।

विषया : यह तो बड़े हर्ष की बात है। विजया का और मेरा साथ रहेगा। पात्र भी योग्य है।

विलासिनी : वहाँ के सभी पात्र योग्य होते हैं। पर विवाह में धूमधाम न होगी। साधारण रीति से—जैसा तुम्हारा हुआ था—वैसे ही पाणिग्रहण करा दिया जायगा।

विषया : यह क्यों?

विलासिनी : यह पीछे मालूम होगा। तुम्हारे भैया सब जानते हैं!

विषया : क्या और कोई बात है?

विलासिनी : हाँ, है।

विषया : तो उसे भी बता दो।

विलासिनी : बताऊँगी। पहले तुम यह बताओ कि एक अपरिचित व्यक्ति के साथ, दो दिन में ही, प्रेम कैसे हो जाता है?

विषया : तुमने फिर हँसी की!

विलासिनी : हँसी नहीं, ननदरानी! मुझे सचमुच आश्चर्य-सा जान पड़ता है।

विषया : आश्चर्य की क्या बात है? प्राणियों के मन में प्रेम की उत्पत्ति स्वाभाविक होती है। उसका बीज हृदय-क्षेत्र में परमात्मा ही बो देता है। अवसर पाते ही वह अंकुरित और पल्लवित हो उठता है।

विलासिनी : कोई कहता है कि सौन्दर्य्य से प्रेम होता है, यह कैसी बात है?

विषया : सौन्दर्य्य प्रेम को जगा सकता है पर वह उसका कारण नहीं। यह भी प्रसिद्ध है कि प्रेम अन्धा होता है। अन्धे को क्या रूप और कुरूप!

(उपजाति)

जो मोह को प्रेम बखानते हैं—
वही उसे रूपज मानते हैं।
सौन्दर्य्य का वास विलोचनों में,
परन्तु प्रेम-स्थित है मनों में॥

यदि सौन्दर्य्य ही प्रेम का कारण हो तो माताएँ अपने कुरूप बच्चों में स्वर्गीय सौन्दर्य्य की झलक न देखें।

विलासिनी : माँ-बेटों की चर्चा का अवसर नहीं। उसके लिए अभी कुछ दिन ठहरो। इस समय दम्पति को लेकर ही समझाओ। **(हँसती है)**

विषया : पहले तुम हँस लो।

विलासिनी : अच्छा, अब न हँसूँगी। हाँ, तो क्या प्रेम सम्बन्ध से होता है?

विषया : नहीं, प्रेम से सम्बन्ध होता है। कहते हैं कि मानने से पराये भी अपने हो जाते हैं और न मानने से अपने भी पराये हो जाते हैं। जब तक प्रेम नहीं तब तक सम्बन्ध नाम मात्र का है। मैं तो यही कहूँगी कि भिन्न-भिन्न स्थानों में, भिन्न-भिन्न रूप से, प्रेम ही उस पर प्रकाश डालता है।

विलासिनी : जैसे?

विषया : सुनो—

(इन्द्रवज्रा)

श्रद्धा बड़ों में, प्रभु में सु-भक्ति,
जाया-पती में प्रणयानुरक्ति।
पुत्रादि में वत्सलता-विकास,
यों प्रेम का ही सबमें प्रकाश॥

विलासिनी : इससे सम्बन्ध पहले और प्रेम पीछे रहा।

विषया : हाँ, पर याद रहे, सम्बन्ध दो प्रकार का है। एक लौकिक और एक मानसिक। मेरा मतलब यह है कि जब तक मानसिक सम्बन्ध न हो तब तक लौकिक सम्बन्ध कुछ नहीं।

विलासिनी : परन्तु इसे तो धर्म्म कहना चाहिए।

विषया : प्रेम तो परम धर्म्म है।

विलासिनी : अच्छा ननदरानी! अकेला प्रेम सैकड़ों विभागों में विभक्त होकर अनन्त कैसे रहता है?

विषया : जो अनन्त है उसका किसी ओर अन्त नहीं होता। देख लो, भैया पर तुम्हारा असीम प्रेम है। मुझ पर भी असीम और—

विलासिनी : समझ गयी जान पड़ता है, प्रेम सारे संसार में व्याप्त किया जा सकता है!

विषया : वही तो उसका पूर्ण विकास है—

(उपजाति)

अनन्त ज्यों व्याप्त सभी कहीं है,
सीमा कहीं भी उसकी नहीं है।
त्यों प्रेम भी व्याप्त अनेक भाँति
न अन्त है और न जाति-पाँति॥

विलासिनी : तब तो सचमुच प्रेम की अपार महिमा है।

विषया : अवश्य—

(उपजाति)

है प्रेम पृथ्वी पर स्वर्ग लाता,
मरुस्थली मध्य सुधा बहाता।
है प्रेम-सा द्रव्य न दृष्टि आता,
मनुष्य को देव यही बनाता॥

विलासिनी : अच्छा, प्रेम पुरुषों में अधिक होता है या स्त्रियों में?

विषया : (मुस्कराकर) यह बात भैया से पूछना!

विलासिनी : पुरुष कभी अपनी हीनता स्वीकार करेंगे?

विषया : तो स्त्रियों को भी अपनी बड़ाई न करनी चाहिए।

विलासिनी : जाने दो। यह कहो कि प्रेम निष्काम है या सकाम?

विषया : मैं तो प्रेम को मिलनेच्छु मानती हूँ। जो हो—

(उपजाति)

निष्काम हो प्रेम कि हो सकाम,
है त्याग का एक अपूर्व धाम।
परन्तु जो प्रेम सकाम होगा—
तो स्वार्थ का ही उपनाम होगा॥

विलासिनी : अच्छा, ननदरानी! क्या केवल प्रेम करके ही कोई इस लोक में कृतकृत्य हो सकता है?

विषया : भाभी! तुम केवल प्रेमामयी हो। पर चिन्ता न करो। प्रेम करना सीखकर अब तुम्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि—

(उपजाति)

सच्चा जहाँ है अनुराग होता—
वहाँ स्वयं ही बस त्याग होता।
होता जहाँ त्याग वहीं सुमुक्ति,
है मुक्ति के सम्मुख तुच्छ भुक्ति।

विलासिनी : मैं तो जी गयी। भगवान् से प्रार्थना है कि इसी प्रकार मेरी संसार-यात्रा पूरी हो जाय। मैं और कुछ नहीं चाहती।

विषया : तुम जैसी स्नेहमयी भावज भगवान् सबको दे, यही मेरी प्रार्थना है।

[दोनों गले लगती हैं]

विलासिनी : ननदरानी! यह बताओ, तुमने इतनी बातें कहाँ से सीख लीं?

विषया : तुमने फिर हँसी की। अब वह बात सुनाओगी या नहीं?

विलासिनी : अच्छा, सुनो। हमारे महाराज शीघ्र ही संसार-त्यागी होना चाहते हैं। उन्होंने अपना अंगहीन छायापुरुष देखा है। इसलिए राज्य छोड़कर अब वे वन में रहेंगे। राज्य का भार आर्य चन्द्रहासजी को देने की उनकी इच्छा है। पर देखो, यह समाचार पिताजी तक न पहुँचे। उनकी आज्ञा है कि राज्य सम्बन्धी कोई बात अभी मुझसे न पूछी जाय। विचार करने से मस्तक में फिर विकार आ जाने का भय है। अस्तु। अब तुम रानी से महारानी हुईं! बधाई।

विषया : **(चिन्तापूर्वक)** भाभी! महारानी बनने की मुझे अभिलाषा नहीं। महाराज के अरिष्ट की बात सुनकर बड़ा दुःख होता है। वे मुझे अपनी पुत्री की तरह समझते हैं। क्या भैया ने ये सब बातें तुमसे

कही हैं?

विलासिनी : हाँ, वही कह गये हैं। आज राज्य के और प्रजा के मुख्य-मुख्य लोगों के साथ महाराज इसी विषय में विचार करेंगे। आर्य चन्द्रहासजी की योग्यता सभी जानते हैं।

विषया : मैं जानती हूँ, इसी से विजया का विवाह साधारण रीति से होगा।

विलासिनी : सम्भव है, पिताजी को यह बात पहले से ही मालूम हो और इसी से तुम्हारा विवाह भी उन्होंने साधारण रीति से और शीघ्र ही कर देना उचित समझा हो। जो हो, चलो आज खूब बातें हुईं।

चतुर्थ दृश्य

[कुन्तलपुर का राजप्रासाद]

[कौन्तलप और मदन]

कौन्तलप : वत्स मदन! तुम ठीक कहते हो। चन्द्रहास को अवश्य संकोच होगा। राज्य का भार ऐसा ही होता है–

(मालिनी)

शत शत मनुजों के सोच में शुष्क होना,
शत शत मनुजों की नींद के बाद सोना।
समझ वह सकेगा जानता जो इसे है
विपुल विभव से ही सौख्य होता किसे है?

परन्तु एक बात है। जैसा काम वैसा ही परिणाम। दूसरों की चिन्ता करने में जैसा पुण्य है वैसा और किसी काम में नहीं। उसमें एक ऐसी शान्ति है जिससे सारी श्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं।

मदन : आर्य्य! यह बात है। और इसी से मुझे आशा होती है कि वे किसी प्रकार इस भार को स्वीकार कर लेंगे।

कौन्तलप : सो मैं जानता हूँ। चन्द्रहास अपूर्व उन्नत हृदय लेकर संसार में अवतीर्ण हुआ है। इसी से सबकी सम्मति लेकर मैंने उसे चुना है। महात्मा गालव ने तो उसके विषय में विशेष सम्मति दी है। चलो, अब मैं निश्चिन्त होकर, आते हुए अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर सकूँगा।

मदन : आर्य्य! इस बात का स्मरण आते ही मुझे बड़ा दुःख होता है। क्या यह अरिष्ट किसी प्रकार दूर नहीं किया जा सकता?

कौन्तलप : सुना–

(इन्द्रवज्रा)

जो जन्मता है मरता अवश्य
जो दीखता है सब है विनश्य।
ज्ञानी जनों ने यह तत्त्व जाना–
है मृत्यु में ही अमरत्व पाना॥

मदन : हाय! तो क्या अब हम लोग आपके चरणों में बैठकर उपदेश न पा सकेंगे?

कौन्तलप : वत्स मदन! चिन्ता व्यर्थ है। मान लो, किसी प्रकार मैं और भी कुछ दिन संसार में बना रहूँ, तो इससे क्या?

(स्रग्धरा)

आता है जो जहाँ से विवश वह वहीं
अन्त में लौट जाता;
सोचो तो, बन्धनों में पड़कर पशु-सा–
कौन है शान्ति पाता;
आना-जाना हमारा जब तक न मिटे
है कहाँ मुक्ति पाता?
उद्योगी-उद्यमी है पुरुष बस वही
जो उसे है मिटाता॥

मदन : परन्तु आर्य्य! यह उद्योग, यह उद्यम क्या यहीं रहकर नहीं किया जा सकता?

कौन्तलप : क्यों नहीं–

जहाँ चाहिए चित्त जो वहीं–
रहे देह चाहे जहाँ क्यों नहीं।
सुनो, एक सौ की यही उक्ति है–
अनासक्ति ही मुक्ति की युक्ति है॥

किन्तु आश्रमधर्म्म का पालन करना भी तो कर्त्तव्य है।

मदन : तो अब क्या आर्य्य वन में ही रहेंगे।

(मन्दाक्रान्ता)

छोड़ेंगे क्या अहह! सबको, आर्य्य ने क्या विचारा?
तोड़ेंगे क्या इस जगत से आप सम्बन्ध सारा।
हो जावेगा अब यह बड़ा सौध क्या हाय! सूना?
ऐसी बातें सुनकर किसे दुःख होगा न दूना?

कौन्तलप : वत्स मदन! तुम व्यर्थ ही व्याकुल होते हो! अब तक मैंने इस लोक की बातें देखी सुनी हैं। अब परलोक की ओर भी देखना चाहिए

या नहीं? कब तक इस भार को उठाऊँगा। मेरी अवधि के अब दिन ही कितने रह गये हैं? क्या अब भी मुझे, सब छोड़कर, परलोक के लिए प्रस्तुत न होना चाहिए? तुम मेरे लिए इतने दुःखित होते हो किन्तु मैं दुःख का कोई कारण नहीं देखता। संसार की यह रीति है। योग्य पात्र के हाथ में अपना राज्य सौंपकर मैं निश्चिन्त भाव से, भगवान् का ध्यान करता हुआ, अपने अभीष्ट अवसर की प्रतीक्षा करता रहूँगा। इसमें चिन्ता की कौन-सी बात है?

मदन : आर्य्य मैं यह जानता हूँ, किन्तु मन नहीं मानता।

(आँसू पोंछता है)

कौन्तलप : मन को प्रबोध देना चाहिए। अब शान्त हो और जो कार्य्य है उसे सुनो।

मदन : **(शान्त होकर)** आज्ञा कीजिए, क्या करना होगा?

कौन्तलप : मैंने महात्मा गालव को बुलाया है। तुम भी अभी जाकर चन्द्रहास को बुला लाओ। मुझे जो कुछ कहना सुनना है आज ही उससे कह सुन लूँ।

मदन : जो आज्ञा।

पंचमांक

प्रथम दृश्य

[उद्यान]

[चन्द्रहास, सुलक्षण और माधव]

चन्द्रहास : उस दिन जब मैं यहाँ आया था तब इसी उपवन में मैंने दोपहरी बिताई थी!

माधव : भला आप आये किसलिए थे?

सुलक्षण : मन्त्री महोदय का पत्र देने के लिए।

माधव : मैं आपसे नहीं पूछता।

चन्द्रहास : हाँ, मैं मन्त्री महोदय का पत्र लेकर ही तो आया था।

माधव : अच्छा, उस पत्र में क्या लिखा था?

चन्द्रहास : मैं क्या जानूँ। क्या मैंने उसे खोलकर पढ़ा था!

माधव : जाने दीजिए। फिर क्या हुआ?

चन्द्रहास : बस मैंने वह पत्र मदन को दे दिया।

माधव : मदन ने भी आपको उसका कुछ उत्तर दिया?

चन्द्रहास : **(मुस्कराकर)** तू नहीं जानता?

सुलक्षण : जानता है, पर आपसे कहलाना चाहता है।

चन्द्रहास : इससे क्या होगा?

माधव : मेरे कथन की सत्यता। स्मरण है, जब आप यहाँ आने लगे तब मैंने क्या कहा था?

चन्द्रहास : **(मुस्कराकर)** स्मरण है। अब शीघ्र ही तुझे त्रिकालज्ञ की पदवी दी जायगी!

सुलक्षण : अच्छा, त्रिकालज्ञजी! यह तो बताइए कि मन्त्री महोदय ने इस प्रकार गुप्त रीति से विवाह क्यों कराया?

माधव : उनका तो कहना है कि किसी दैवज्ञ ने ऐसा होने में ही वर-वधू का कल्याण बतलाया था, परन्तु मैं जानता हूँ, यह बात बनाई हुई है। असल में बारात को खिलाने-पिलाने के डर से ही ऐसा किया गया है। बुड्ढा है बड़ा लोभी!

सुलक्षण : **(आक्षेप से)** त्रिकालज्ञ होने पर भी तुझे पेट की ही पड़ी रही!

माधव : हैं, उदर देव की इतनी उपेक्षा!

(वंशस्थ)

हरा भरा है सब पेट जो भरा,
सुनो, नहीं तो बस शून्य है धरा।
लगे हमारे सब काम पेट से,
बचा न कोई अन्य परा से॥

(पेट पर हाथ मारकर) इसकी चपेट से।

चन्द्रहास : अच्छा, अच्छा, तू असन्तुष्ट न हो। कहे तो तेरी पेट-पूजा का कुछ प्रबन्ध किया जाए?

माधव : जय हो आपकी। बस मैं और क्या चाहता हूँ?

चन्द्रहास : तो इस उद्यान में फलों की क्या कमी है, श्रीणेश करने की ही देर है।

माधव : **(मुँह बनाकर)** वाह! आपकी ससुराल में क्या मुझे फलाहार ही करना पड़ेगा? परन्तु मैं ऐसा क्यों करने लगा–

(उपजाति)

क्या छोड़ते हैं व्रत को विवेकी?
निवाहते हैं निज टेक टेकी।
जो मंजु मुक्ताफल भोज पाते–
भला कहीं हंस चने चबाते।

सुलक्षण : परन्तु मुक्ताफल भी तो फल ही रहे!

माधव : अजी, उन फलों में और इनमें बड़ा अन्तर है। कोरी संज्ञा की ममता से काम नहीं चलता–

(आर्य्या)

गुण–समता समता है
समता क्या जो सुनाम ही तक है?
दोनों द्विज हैं, फिर भी–
जगती के हंस हंस बक बक है।

सुलक्षण : बाहरी बकबक! कुमार, हंस मृणाल-तन्तु भी तो खाते हैं। इसलिए माधव को इस उद्यान के सरोवर में छोड़ दिया जाय तो कैसा?

माधव : क्या पानी में डुबोकर मेरे प्राण लेना है!

चन्द्रहास : (मुस्कराकर) अच्छा बोल, क्या खायेगा? पर तूने फलों की इतनी उपेक्षा क्यों की! उनमें तो अनेक गुण होते हैं।

माधव : गुणों को कौन पूछता है! सब रुचि पर ही मरते हैं! इसी से मुझे वे फल पसन्द हैं जो मोतीचूर से बनते हैं। उन्हें चाहे कोई मोदक कहे चाहे लड्डू।

सुलक्षण : बाहरी रुचि! मानों यह उद्यान नहीं, कोई बाजार है। इसी तरह कभी अमावस्या को चन्द्र की ओर आपकी रुचि न हो जाय!

चन्द्रहास : चन्द्र नहीं तो अर्द्धचन्द्र माधव को, जब यह चाहे मैं दे सकता हूँ।

(मदन का प्रवेश)

माधव : क्यों नहीं, अब तो मुझे अर्द्धचन्द्र मिलेगा ही। यह देखिए, आपके साले साहब आ रहे हैं! अहा! संसार में साले के समान और किसका सम्मान है!

मदन : माधव! यदि तुम्हें साला होना पसन्द हो तो आज से मैं तुम्हें साला ही कहा करूँ?

माधव : यह सम्मान तो आपके ही हिस्से में आ गया है। हम जो हैं उसी में सन्तुष्ट हैं! (सब हँसते हैं)

सुलक्षण : (मदन से) कहिए, आपका इस समय यहाँ आना कैसे हुआ?

मदन : सौभाग्य से आर्य्य चन्द्रहास जी की बहुत बड़ी वृद्धि हुई है।

माधव : जिसका आरम्भ आपकी ओर से हुआ है।

सुलक्षण : माधव! सुनो! हँसी तो होती ही रहेगी।
(मदन से) सब आपकी कृपा है। कहिए, क्या बात है?

मदन : हमारे महाराज शीघ्र ही मुनिवृत्ति धारण करना चाहते हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि उनके कोई औरस पुत्र नहीं है इसलिए वे

आर्य्य चन्द्रहासजी को, सब प्रकार सुयोग्य समझ कर, अपने राज्य का अधिकार देना चाहते हैं।

चन्द्रहास : **(संकोचपूर्वक)** भला मैं किस योग्य—

मदन : **(बीच में)** जो योग्य होते हैं वे ऐसा ही कहा करते हैं, किन्तु योग्यता छिपी नहीं रहती। वह आप ही प्रकट हो जाती है।

सुलक्षण : निरसन्देह यही बात है। महाराज कौन्तलप की सूक्ष्मदर्शिता भी अपूर्व है।

माधव : और कुमार के निर्वाचन से हम लोगों को जो आनन्द हुआ है वह भी अपूर्व है।

सुलक्षण : और स्वाभाविक भी।

मदन : इसमें क्या सन्देह। जो आर्य्य चन्द्रहासजी को कुछ भी जानता होगा, वह भी इस बात को सुनकर हर्षित होगा। हम और आप तो आत्मीय ठहरे!

चन्द्रहास : किन्तु सच मानिए, मैं भाराक्रान्त-सा हो रहा हूँ। मुझे डर है कि मैं इस भार को न सँभाल सकूँगा। मेरा जो छोटा-सा राज्य है उसी का शासन समुचित रीति से होता रहे तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा।

मदन : आप जैसा शासक मिलना इस राज्य के लिए सौभाग्य की बात है। आपकी कार्य्य-कुशलता और नीति-परायणता प्रसिद्ध हो रही है।

चन्द्रहास : जो जिसका कर्त्तव्य है उसे पालन तो करना ही चाहिए, पर मेरा स्वभाव कुछ स्वच्छन्दताप्रिय है और राज्य-कार्य्य में अनेक उलझनें हुआ करती हैं।

मदन : किन्तु जिस कार्य्य में मनुष्य-समाज का हित साधन हो उसे करना ही चाहिए। सबको विश्वास है कि आपके राजा होने से इस राज्य की और भी उन्नति होगी।

चन्द्रहास : यही तो मुझे डर है। कहीं लोगों को पीछे अपना विश्वास बदलना न पड़े।

मदन : ऐसा कभी नहीं हो सकता। अब विवाद रहने दीजिए। महाराज राजप्रासाद में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसी समय जाकर उनसे मिलिए।

चन्द्रहास : किन्तु ससुरजी ने सन्ध्या के बाद मुझे विजनेश्वरी देवी की पूजा करने की आज्ञा दी है। मैं वहीं जाने वाला था।

मदन : इसकी चिन्ता न कीजिए। आपके बदले मैं वहाँ जाकर पूजा किये आता हूँ। आप महाराज के पास चलिए।

द्वितीय दृश्य

[निविड़वन]

धृष्टबुद्धि : **(आप ही आप)** बड़ा अँधेरा है। जान पड़ता है, उसके गर्भ में भयंकर आकृति वाले पिशाच चुपचाप नाच रहे हैं। यह आहट कैसी? क्या कोई आ रहा है? कोई नहीं, वायु शब्द है। आज वायु इतने वेग से क्यों चल रहा है?

(नियति का प्रवेश)

नियति : मैं साथ हूँ और अँधेरे उजेले में सर्वत्र, स्वयं अदृश्य होने पर भी, तुझे देखती हूँ।

धृष्टबुद्धि : जान पड़ता है कोई बोल रहा है! कहीं घातक तो लौटकर नहीं आ रहे? अथवा चन्द्रहास ही उनका वध करके मुझे मारने के लिए न आ रहा हो? इस निविड़ अन्धकार में मुझे कौन बचावेगा?

नियति : तुझे कोई बचावे या न बचावे पर चन्द्रहास को बचाने वाली मैं हूँ।

धृष्टबुद्धि : आ तो कोई नहीं रहा, यह मेरे ही पैरों की आहट थी। पर मेरी आहट सुनकर कोई आ न जाय! तो अब दबे पैरों चलूँ। **(उसी प्रकार चलता हुआ)** अन्धकार तू और भी घना हो जा। मुझे कोई न देखे। संसार! तू अपनी आँख मींच ले। धृष्टबुद्धि अपने दामाद की हत्या कराके उसे देखने जा रहा है।

नियति : मैं साक्षिणी बनकर बराबर तेरे साथ हूँ।

धृष्टबुद्धि : चन्द्रहास आज इस अँधेरी रात में उस निर्जन स्थान में मार डाला जायगा। और विषया? वह विधवा हो जायगी। हा! उसका पिता मैं ही उसके वैधव्य का कारण होऊँगा! मैं यह क्या कर रहा हूँ? क्या अपनी पुत्री की दुर्दशा भी आमरण अपनी आँखों से देखनी पड़ेगी? उसका वह रोना न सुनने के लिए इस अन्धकार में क्या कोई छिपने योग्य स्थान मुझे मिल जायगा?

नियति : मैं तुझे स्थान बतलाऊँगी।

धृष्टबुद्धि : पर क्या मैं अभी इस अनर्थ को रोक नहीं सकता? क्यों नहीं। किन्तु नहीं, ब्राह्मणों की बात मैं कभी पूरी न होने दूँगा। परन्तु

क्या उसके पूरे होने में अब कुछ कसर है? चन्द्रहास मेरा दामाद बन बैठा! जो कुछ ब्राह्मणों ने कहा था वह सब हो चुका।

नियति : फिर भी तू हठ नहीं छोड़ता!

धृष्टबुद्धि : तो अब क्या होगा? विषया ही विधवा होगी! घातक अभी दूर न गये होंगे। मैं दौड़कर अभी उन्हें रोक सकता हूँ! फिर चन्द्रहास? मेरा वैरी चन्द्रहास! वह बच जायगा और मैं उसे देखकर मन ही मन जला करूँगा। यह नहीं हो सकता। मेरी हृदयाग्नि उसके मरने से ही शान्त हो सकती है। परन्तु फिर विषया का विलाप बाण बनकर मेरे हृदय को विद्ध करेगा! हाय! विषया का विचार मुझे कायर बना देता है। दूर हो कायरता! मैं अब दृढ़ हूँ—बज्र का हूँ। विषया के विलाप की कल्पना मुझे विचलित न कर सकेगी। मैं अपने निश्चय पर निश्चल रहा, यह विचार उसके चीत्कारों से मेरे चित्त को चंचल न होने देगा।

नियति : जो कुछ मैं करूँगी वही होगा।

धृष्टबुद्धि : पर यदि विषया उसके वियोग में बिना पानी की मछली की तरह तड़प-तड़पकर मर गयी तो? जिस समय वह बाल बिखराये, आँसू बहाती हुई, पक्षियों को चौंका देने वाला चीत्कार करती हुई, चन्द्रहास का नाम ले-लेकर, मेरे सामने प्राण त्याग करेगी, उस समय मैं क्या करूँगा? हाय! अपनी प्यारी पुत्री की मृत्यु का भी मैं ही कारण बनूँगा! इन हाथों से दो-दो हत्याएँ! हा! मर्मवेदना! हा! यमयातना! रहो कल्पने। मैं अभी यह सब रोक सकता हूँ!

नियति : इन सब बातों को रोकने वाला तू नहीं, मैं हूँ।

धृष्टबुद्धि : मैं अभी जाकर घातकों को रोकता हूँ। पर यदि उनके पहुँचने के पहले ही मैं वहाँ पहुँचा तो चन्द्रहास से मिलने का क्या बहाना करूँगा? और यदि उसी समय वहाँ घातक भी पहुँच गये तो चन्द्रहास उन्हें देखकर क्या कहेगा? अथवा मैं यदि चन्द्रहास के वध के बाद पहुँचा? ओः! चन्द्रहास का वध और फिर विषया की हत्या!

नियति : मैं इन दोनों बातों को रोकने वाली हूँ।

धृष्टबुद्धि : अरे, क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता। घातक अभी वहाँ न पहुँचे होंगे, उन्हें पुकारूँ पर मेरा शब्द सुनकर कोई और न आ जाय! कोई दूसरा मनुष्य इस समय, यहाँ मुझे देखकर क्या कहेगा? तो चुप रहूँ। पर हृदय इतना क्यों धड़कता है? मैं काँप क्यों रहा हूँ? क्या मैं डर रहा हूँ? नहीं, धृष्टबुद्धि किसी से नहीं डर सकता। पर मैं विह्वल हो रहा हूँ! ओः बड़ा क्लेश होता है।

(चौंककर) अरे, यह चमक कैसी? क्या चन्द्रहास की आत्मा उजेला करती हुई परलोक को जा रही है? वध! रक्त! मेरे हाथ रुधिर से सने हैं और बेटी के रुधिर से फिर सनेंगे! ओः! दारुण दुख है। छाती फटी जाती है! वह देखो, चन्द्रहास का रुण्ड इसी ओर आ रहा है। अरे, कोई बचाओ।

नियति : इसकी कल्पना इसे उचित दण्ड दे रही है।

धृष्टबुद्धि : यहाँ तो कुछ नहीं। फिर वह चमक क्या थी। मेरा सिर घूम रहा है। आँखें नीचे गिर पड़ना चाहती हैं? मार्ग नहीं सूझता और पैर भी ठीक-ठीक नहीं पड़ते हैं, मैं इतना कातर तो कभी नहीं हुआ। जो हो, घातकों को गये अभी थोड़ा समय हुआ है। मैं जाकर उन्हें रोकता हूँ। पर यदि वे अपना काम कर चुके होंगे तो? हाय! हाय! क्या करूँ? किसी प्रकार शान्ति नहीं मिलती!

(शार्दूलविक्रीडित)

मेरे वज्र-कठोर-चित्त! अब तो तू शान्त हो, शान्त हो,
रे रे निर्दय नीच भाव! अब तू निष्क्रान्त-निष्क्रान्त हो।
हिंसे! तू हट जा, जला मत मुझे, हे दैव! मैं क्या करूँ?
हा? कैसे इस वह्नि से अब बचूँ? तू मृत्यु दे तो मरूँ!

नियति : मूर्ख! अब मुझे पुकारता है। तीर हाथ से निकालकर हाय-हाय करता है। अच्छा, जब तक देवी के मन्दिर में जाकर तू मेरा पूरा प्रभाव देख ले तब तक मैं दूसरा कार्य्य करती हूँ?

तृतीय दृश्य

[कुन्तलपुर का राजप्रासाद]

[गालव, कौन्तलप और चन्द्रहास]

कौन्तलप : देव! वत्स चन्द्रहास राज्यभार ग्रहण करने में बहुत संकोच करता है।

चन्द्रहास : आर्य्य! सचमुच मुझे बड़ा संकोच होता है। मुझ अयोग्य पर आपकी इतनी कृपा है किन्तु—

गालव : संकोच की कोई बात नहीं। तुम योग्य हो। परन्तु एक बात है। कदाचित् तुम अधिक दायित्व से दूर रहना चाहते हो। किन्तु दायित्व तुम्हीं जैसे पुरुषों से आश्रय और शोभा पा सकता है। तुम जैसे निःस्वार्थ और योग्य व्यक्ति ही जन-समाज का कल्याण-साधन कर

सकते हैं। जो स्वार्थी हैं उनसे क्या आशा की जा सकती है। इसलिए दायित्व की आशंका करके तुम्हें कभी पीछे न हटना चाहिए। संसार में आकर कर्मवीर बनने में ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। विचार करके देखो, यदि दूसरों की चिन्ता के डर से तुम किसी बड़े काम से हाथ खींच लोगे तो क्या प्रकारान्तर से अपने सुख से लिए स्वार्थी न कहे जाओगे? यह भी स्मरण रक्खो कि दूसरों के लिए चिन्ता करना ही अपनी चिन्ताओं पर विजय पाना है।

चन्द्रहास : देव! आपका उपदेश पाकर मैं कृतार्थ हुआ। आप ही के आशीर्वाद से वह सफल हो सकता है।

गालव : मैं आशीर्वाद करता हूँ, तुम सर्वदा कृतकार्य्य होगे।

कौन्तलप : महात्माओं के वचन कभी मिथ्या नहीं होते–

(अनुष्टुप)

स्वस्तिवाद विरक्तों का और ही कुछ वस्तु है!
उसके साथ ही होता ईश का एवमस्तु है॥

चन्द्रहास : मैं कृतार्थ हुआ। भगवान् से मेरी यही प्रार्थना है कि–

(शिखरिणी)

प्रभो! मेरे कन्धे बल कर सकें प्राप्त इतना–
उठालें वे दोनों उन पर पड़े भार जितना।
निकाली है पृथ्वी सहज तुमने सिन्धु-जल से
करो पुत्रों को भी प्रबल अपने आत्मबल से॥

गालव : मनुष्य मात्र को भगवान् से ऐसी ही प्रार्थना करनी चाहिए और कर्मक्षेत्र से कभी न हटना चाहिए–

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्म्मक्षेत्र कभी न संकुचित हो, विस्तीर्ण होता रहे;
कर्म्मी कर्षक धर्म्म-बीज उसमें सोत्साह बोता रहे।
होंगे वे फल जो कि विश्व-विभु के नैवेद्य में आयेंगे,
देगा मुक्ति महाप्रसाद उनका, वे धन्य जो पायेंगे॥

कौन्तलप : ऐसा प्रसाद सबके भाग्य में हो।

चन्द्रहास : इस राज्य के जब ऐसे पुरोहित हैं तब मुझे कोई चिन्ता नहीं।

गालव : सुधार्मिक के तुम जैसा धार्मिक पुत्र होना उचित ही है।

कौन्तलप : (चौंककर) अरे, यह क्या रहस्य है!

चन्द्रहास : देव कृपाकर बताइए कि आपने क्या कहा। मुझे तो अपने कुल के विषय में कुछ भी मालूम नहीं।

गालव : और तुम्हें इसकी चिन्ता भी है। इसी से मैंने इस प्रसंग को छेड़ा

है। अच्छा, सुनो। केरल देश के स्वर्गीय राजा सुधार्मिक तुम्हारे पिता थे। कुचक्रियों ने उनका राज्य हरण कर लिया था। उस समय तुम एक वर्ष के भी न थे। तुम्हारी धाय किसी प्रकार तुम्हें लेकर इसी नगर में आ रही थी। उसके मरने पर तुम किसी तरह कुलिन्दक के यहाँ पहुँच गये और सब बातें तुम्हें शीघ्र ही मालूम हो जायँगी।

कौन्तलप : यह तो नया भेद निकला। तब तो चन्द्रहास मेरे मित्र का ही पुत्र है।

चन्द्रहास : देव! ये बातें सुनकर मेरे चित्त में हर्ष और विषाद दोनों एक ही साथ उत्पन्न हो रहे हैं। आज आपने मुझे मानो नया जीवन देकर मेरी सब ग्लानि मिटा दी।

(मालिनी)

निज परिचय पाके आपसे यों यथार्थ—
सचमुच सहसा मैं हो गया हूँ कृतार्थ।
स्वयमपि अपने को दीखता मैं नया हूँ,
मरकर फिर मानो आज मैं जी गया हूँ!

: किन्तु हाय! मैं कैसा अभागा हूँ कि मेरे उत्पन्न होते ही मेरे माता-पिता का कैसा शोचनीय परिणाम हुआ!

कौन्तलप : वत्स! यह आक्षेप क्यों? तुमने तो तीन-तीन कुलों का उद्धार किया है।

(देखकर) अरे, कौन है?

(एक सेवक का प्रवेश)

सेवक : महाराज की जय हो। चन्दनावती के मन्त्रिपुत्र श्रीयुक्त सुलक्षणजी किसी आवश्यक कार्य्य से आये हैं।

कौन्तलप : जा, भेज दे।

सेवक : जो आज्ञा। **(जाता है)**

(सुलक्षण का प्रवेश)

सुलक्षण : **(प्रणाम करके)** एक शोचनीय घटना हो गयी है।

चन्द्रहास : क्या हुआ? सुलक्षण! तुम तो बहुत घबराये हुए हो!

कौन्तलप : मुझे भी चिन्ता हो गयी है।

सुलक्षण : महाराज! कुमार के यहाँ चले आने के पीछे मुझे और माधव को उद्यान में कुछ देर हो गयी थी। जब हम लोग नगर की ओर आ रहे थे तब मार्ग में एक मनुष्य पागल की तरह जाता हुआ दिखाई दिया।

चन्द्रहास : मालूम हुआ वह कौन था?

सुलक्षण : पीछे मालूम हुआ कि वे मन्त्री महोदय थे। वे आपका नाम लेकर कुछ बड़बड़ाते हुए जल्दी-जल्दी जा रहे थे। हम लोग भी चुपचाप उनके पीछे हो लिये।

कौन्तलप : फिर?

सुलक्षण : वे उसी तरह चलते हुए विजनेश्वरी देवी के मन्दिर में पहुँचे।

कौन्तलप : वहाँ तो चन्द्रहास के बदले पूजा करने मदन भी गया था। फिर?

सुलक्षण : जब तक हम लोग मन्दिर के पास पहुंचे तब तक एक भयंकर चीत्कार सुनाई दिया।

चन्द्रहास : भगवान् कुशल करें।

कौन्तलप : फिर?

सुलक्षण : हम दोनों दौड़कर मन्दिर में गये। वहाँ जाकर देखा कि पिता-पुत्र दोनों ही भगवती के सामने मृतप्राय पड़े हैं। दोनों के सिर फूट गये हैं। रुधिर बह रहा है!

चन्द्रहास : क्या प्राण—

सुलक्षण : घबराहट के मारे मैं कुछ निश्चय नहीं कर सका। पर मदन के लिए चिन्ता है। माधव को वहाँ छोड़कर मैं यहाँ आया हूँ।

कौन्तलप : यह तो बड़ी अशुभ घटना हुई।

चन्द्रहास : यह मेरा ही दुर्भाग्य है। मेरे राजा होने के पहले ही ऐसे अनर्थ होने लगे!

गालव : जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। धृष्टबुद्धि जैसे धृष्ट को आज उसके किये का फल मिल गया।

चन्द्रहास : देव! उन्होंने ऐसा क्या किया है?

गालव : जो कोई नहीं कर सकता वही उसने किया है। वह आज वहाँ भेजकर तुम्हीं को मरवाना चाहता था। पर दैव तुम पर अनुकूल है, इससे तुम्हारे बदले मदन वहाँ चला गया।

कौन्तलप : किन्तु मदन निर्दोष है।

गालव : सो वह जगज्जननी की गोद में है।

चन्द्रहास : देव! आप सब जानते हैं। भला, ससुरजी मुझे—

गालव : चलो, वहीं सब मालूम हो जायेगा। इस समय वहाँ विलम्ब करना ठीक नहीं।

चतुर्थ दृश्य

[विजनेश्वरी देवी का मन्दिर]

[गालव, कौन्तलप, चन्द्रहास, सुलक्षण, माधव, धृष्टबुद्धि और मदन]

गालव : भगवती ने अपनी अपूर्व अनुकम्पा दिखाई! मन्त्रिवर! मैंने भी तुम्हें क्षमा किया। तुम्हारे हृदय की शुद्धता देखकर अव मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ। जो होना था, हो गया। अब उन बातों के लिए तुम खेद न करो।

धृष्टबुद्धि : देव! मैं अनुताप से जला जाता हूँ। मैंने जो अनर्थ किये हैं उनसे, न जाने, कैसे मेरा उद्धार होगा? आप सबने कृपापूर्वक क्षमा कर दिया है, किन्तु मेरी अन्तरात्मा अब भी मुझे दण्ड दे रही है। मैं विधाता से विरोध करने जाता था, किन्तु मैंने प्रत्यक्ष देख लिया कि–

(द्रुतविलम्बित)

विधि-विधान कभी टलता नहीं,
हठ किसी जन का चलता नहीं!
नियति ने वह योग मिला दिया–
कि जिसने 'विष' का 'विषया' किया!

कौन्तलप : अब चित्त को धीरज दो। इसमें भी तुम्हारा कल्याण ही हुआ है। स्वयं भगवती जगज्जननी ने तुम पर दया की है, नहीं तो आज मदन मर ही चुका था।

धृष्टबुद्धि : महाराज! इस अधम पर माँ ने जो दया की है वह केवल आप लोगों की ओर देखकर। हाय! मैं तो चिरंजीव चन्द्रहास को मारने जाता था और ये हम दोनों के पीछे भगवती के सामने अपना बलिदान करने को तैयार थे।

मदन : मेरा जीवन आज से सब प्रकार आर्य्य चन्द्रहास के अधीन है। मैं तो मर ही चुका था।

चन्द्रहास : तुम सर्वथा मेरे हो। भगवती ने अपना प्रसाद स्वरूप तुमको मुझे दिया है।

सुलक्षण और माधव : हम लोगों की यह गोष्ठी सदा बनी रहे।

कौन्तलप : भगवान् ऐसा ही करेंगे।

धृष्टबुद्धि : मैं भी यही चाहता हूँ। वत्स मदन! तुम्हारा जो कुछ कर्त्तव्य है उसे तुम जानो। मेरे कहने की आवश्यकता नहीं। मैं भी अन्त समय में अपने महाराज का साथ दूँगा।

मदन : तब तो मुझे दुहरा पितृ-वियोग होगा।

धृष्टबुद्धि : बस, अब तुम मुझे अपने कर्त्तव्य से न रोको। जिन्होंने मुझे अपना सेवक न समझकर आत्मीय समझा, जिनके साथ राज-काज किया, मन्त्रणा की, गोष्ठी की और सदैव दुर्लभ सुख भोगा, इन्हीं श्रद्धास्पद स्वामी को छोड़कर अब मैं यहाँ रहकर क्या करूँगा?

मदन : मैं आपको अपने कर्त्तव्य से नहीं रोक सकता। किन्तु मैं सर्वथा अबोध हूँ।

कौन्तलप : मन्त्रिवर! मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ और प्रसन्न मन से यही कहता हूँ कि कुछ दिन और—

धृष्टबुद्धि : **(बीच में हाथ जोड़कर)** महाराज! मुझे अधम जानकर आप न छोड़ सकेंगे, आपको मेरा उद्धार करना ही होगा।

कौन्तलप : मैं और किसी भाव से ऐसा नहीं कहता। तुम्हारे रहने से इन लोगों को शासन-कार्य्य में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। इसी से मैंने ऐसा कहा है।

चन्द्रहास : आपके बिना सचमुच हमको पग पग पर कठिनता होगी।

धृष्टबुद्धि : तुम स्वयं योग्य हो। और, मुझसे अब कुछ हो भी न सकेगा। मेरे लिए शान्ति का यही एक मार्ग है।

माधव : **(स्वगत)** देखता हूँ, बुड्ढा तो आज कुछ का कुछ हो गया है!

गालव : **(कौन्तलप से)** अब मन्त्री को समझाना व्यर्थ है। इन्हें निराश न कीजिए।

कौन्तलप : जो आज्ञा।

(मदन से) वत्स मदन अब इसी में कल्याण है।

मदन : मैं अभागा कल्याण के मार्ग में कण्टक न बनूँगा। **(आँसू पोंछता है)**

धृष्टबुद्धि : **(ऊपर की ओर देखकर)** जगदीश! अब यह अधम जन क्या तेरी ओर आ सकता है।

(गान)

मिटा हे प्रभो! आज अज्ञान मेरा,
हुआ है नयी बुद्धि से बोध तेरा।
अभी था तुझे नाथ! जाना न मैंने,
अहम्भाव ने था मुझे हाय! घेरा।
क्षमा चाहिए, जो हुआ हो गया है,
बना आप ही आज से चित्त चेरा।
अँधेरे मढ़े में गिरा जा रहा था,
दया की, मुझे दीप्ति की ओर फेरा।

हुई सत्य सत्ता स्वयं सिद्ध तेरी,
भरे भक्ति के भाव, भागा अँधेरा।
जगा हूँ नया जीवनालोक पाके,
हटी मोह-निद्रा, हुआ है सवेरा।

गालव : (देखकर) सचमुच सबेरा हो गया। आओ, हम सब भगवती को प्रणाम करें।

सब : (हाथ जोड़कर घूमते हुए)

(शिखरिणी)

जगद्धात्री तू है जननि! सब सन्तान हम हैं,
पड़े हैं गोदी में, रुचिरतम हैं या अधम हैं।
नहीं है माँ! कोई गति तुझ बिना और बस की,
बहे यों ही धारा अमृतमय वात्सल्य रस की॥

(सब प्रणाम करते हैं)

कौन्तलप : देव! अब मेरे लिए इससे अच्छा अवसर और कौन होगा। शास्त्र की विधि के अनुसार आप सब करावेंगे ही, मैं भगवती के आगे, इसी समय यह राज्यदण्ड चन्द्रहास को सौंपना चाहता हूँ।

गालव : बड़ी अच्छी बात है। ऐसा ही करो।

कौन्तलप : कृतार्थ हुआ।

(चन्द्रहास से) वत्स चन्द्रहास! तुम योग्य हो, तुमसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। तो भी, कर्त्तव्य के अनुरोध से मुझे कहना ही चाहिए। यह राजदण्ड, जो मैं तुम्हें सौंपता हूँ, कोई साधारण दण्ड नहीं। इस पर एक बड़े भारी जनसमूह का हिताहित अवलम्बित है। आज तुम इस राज्य के अधीश्वर हुए। राज्य और शासन का उद्देश्य तुमसे छिपा नहीं–

(भुजंगी)

प्रजा वर्ग के ही लिए राज्य है,
हमें स्वार्थ चिन्ता सदा त्याज्य है।
इसी अर्थ है राज-सत्ता सभी–
न हो देश में दुर्व्यवस्था कभी॥

अथवा यही कहना यथेष्ट है कि इस लोक में कोई ऐसी बात न होनी चाहिए जो परलोक के लिए अच्छी न हो, क्योंकि अन्त में वहीं जाना है। इस संसार में सदा कोई नहीं रहता। मुझी को देख लो–

(मन्दाक्रान्ता)

आया जैसा इस जगत में आप वैसा चला मैं,
छूटे सारे धन-जन यहीं, ले चला क्या भला मैं?

कोई ऐसा अनुचित यहाँ काम होने न पावे,
आने वाले अमर सुख की शान्ति को जो मिटावे॥

(राजदण्ड सौंपता है)

चन्द्रहास : **(सादर ग्रहण करके)** इन सब बातों का सारांश यह हुआ कि–

(अनुष्टुप्)

स्वार्थी कभी न होऊँ मैं यहाँ के भोग हैं यहीं।
कर्म्मों को छोड़ कोई भी साथ जा सकता नहीं॥

मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इसी उपदेश को अपना उद्देश्य बनाऊँगा। आशा है, मदन और सुलक्षण मुझे इसकी सिद्धि में समुचित सहायता देते रहेंगे।

मदन और सुलक्षण : हम यथाशक्य ऐसा ही करेंगे।

माधव : भगवान् करे सब कोई इस उपदेश को अपना उद्देश बनावें।

गालव : वत्स चन्द्रहास! कहो, मैं तुम्हारा क्या हर्ष-साधन करूँ?

चन्द्रहास : देव!

(इन्द्रवज्रा)

प्रत्यक्ष पाया प्रभु का प्रसाद है,
सर्वत्र होता शुभ साधुवाद है।
पूरी हुई भाग्य-सुधांशु की कला,
तो और मेरे हित हर्ष क्या भला!

फिर भी जब आपका इतना अनुग्रह है तब भरत का यह वाक्य पूरा हो–

(सवैया)

सुख शान्ति रहे सब ओर सदा
अविवेक तथा अघ पास न आवें।
गुणशील तथा बल-बुद्धि बढ़े;
हठ, वैर विरोध घटें-मिट जावें॥
सब उन्नति के पथ में विचरें
रति-पूर्ण परस्पर पुण्य कमावें।
दृढ़ निश्चय और निरामय होकर
निर्भय जीवन में सुख पावें॥

गालव : तथास्तु।

[पटाक्षेप]

तिलोत्तमा

पात्र

पुरुष

इन्द्र : देवताओं का राजा
कुमार : देव सेनापति
कुबेर, पवन, वरुण, अग्नि : प्रधान देवता
दो देव सैनिक
सुन्द : दैत्यों का राजा
उपसुन्द : सुन्द का छोटा भाई
शुक्राचार्य्य : दैत्यगुरु
विकराल, भयंकर : दो प्रधान दैत्य
कुछ दैत्य सैनिक

स्त्रियाँ

इन्द्राणी : इन्द्र की रानी
रति : कामदेव की स्त्री
मेनका, रम्भा, उर्वशी : अप्सरायें
तिलोत्तमा : एक नयी अप्सरा

श्रीगणेशाय नमः

तिलोत्तमा

प्रस्तावना

नान्दी : *अद्भुत, अपूर्व, अगर्भजा, प्रत्यक्ष अपनी ही कला—*
श्री मैथिली के रूप की ज्योतिः शिखा वह निश्चला।
सुरपुर-जयी लंकेश रावण शलभ-सा जिसमें जला,
सत्पथ दिखा कर सर्वदा करती रहे सब का भला॥

सूत्रधार : **(इधर-उधर देखकर)** बड़े सन्तोष की बात है कि ऐसे सहृदय सज्जनों के सामने हमें अभिनय दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ है। किसी ने बहुत ठीक कहा है—

सहृदय जन ही काव्य का लेते हैं आनन्द।
पीते हैं अलिवृन्द ही अमलकमलमकरन्द॥

इसमें क्या सन्देह? रसिकजन ही रस का अनुभव कर सकते हैं। जो अरसिक हैं उनके आगे उसका विकास व्यर्थ है—

चन्द्रकान्त होते द्रवित पाकर चन्द्रालोक।
पत्थर नहीं पसीजते उसका उदय विलोक॥

(पारिपार्श्विक का प्रवेश)

पारिपार्श्विक : निस्सन्देह हम लोगों का बड़ा सौभाग्य है कि ऐसे सुयोग्य सभ्यों के सामने हमें अपना नाट्य कौशल दिखाने का आज अवसर मिला है—

वारिद-वृन्द-समक्ष ही करते नाट्य मयूर।
धूप पुंज को देख कर हट जाते हैं दूर॥

तो क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आज किस रूपक से इन उदार हृदय

सज्जनों को प्रसन्न करने का विचार है?

सूत्रधार : विचार नहीं, मैंने तो निश्चय कर लिया है कि आज 'तिलोत्तमा' नामक नये नाटक का अभिनय किया जाय। मनोरंजन होने के साथ-साथ वह शिक्षाप्रद भी है। तुम्हारी क्या राय है?

पारिपार्श्विक : क्या कहना है, नाटक का मुख्य उद्देश ही यही है कि उससे मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा की प्राप्ति भी हो। कहा भी है—

रहे मनोरंजन न क्यों शिक्षा-रहित निबन्ध।
है उस कुसुम-समान ही जिसमें नहीं सुगन्ध॥

अतएव, आशा है, आगतजन उसे बड़े प्रेम से देखेंगे।

सूत्रधार : क्यों नहीं, उपस्थित सज्जनों का एक और कारण से भी उसमें स्वाभाविक अनुराग होगा, क्योंकि तिलोत्तमा गुप्तजी की नयी रचना है और सरस्वती के उपासक सहृदयजन उनकी रचनाओं को पहले ही विशेष रूप से अपना चुके हैं—

सुन्दर भाव देख सब कोई उसको अपना लेता है;
पर सम्बन्ध विशेष हृदय को और अधिक सुख देता है।
देख वसन्त-विकास विहंगम गाते हैं, सुख पाते हैं;
किन्तु विटप उसको विलोक कर फूले नहीं समाते हैं॥

(नेपथ्य में)

फूले नहीं समाते, सुख हैं अपूर्व पाते;
उत्सव सहर्ष करके सुध भूल भूल जाते।
बाजे बाजा बजाकर जातीय गीत गाते,
उत्साह से हमारी जय हैं सभी मनाते॥

सूत्रधार : **(चमत्कृत होकर)** कुशीलवों की कुशलता तो देखो! हमारी बातों में ही सन्धि खोज कर किस चतुराई से प्रविष्ट हो गये! अस्तु—

हुआ अकाल कौमुदी नामक यह उत्सव आरम्भ,
मतवाले-से होकर दानव दिखलाते हैं दम्भ!
गरज रहे हैं ये अकाल के मेघ-समान सकाम,
आओ, देखें इस घटना का हो कैसा परिणाम॥

[दोनों जाते हैं]

पहला अंक

[विकराल का प्रवेश]

विकराल :

फूले नहीं समाते, सुख हैं अपूर्व पाते;
उत्सव सहर्ष करके सुख भूल-भूल जाते।
बाजे बजा बजाकर जातीय गीत गाते,
उत्साह से हमारी जय हैं सभी मनाते॥

क्यों न हो, दानव जाति को ऐसा अवसर भी तो बहुत दिनों में मिला है। अस्तु, मुझ पर दैत्यराजों का जो अनुग्रह, जो स्नेह और जो विश्वास है उसी के कारण उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं घूम-घूमकर देखूँ कि उनके राजस्व काल के इस पहले महोत्सव के समय उनके प्रति दैत्यकुल के हार्दिक भाव कैसे हैं। मैंने अपना काम तो कर ही लिया है, कुछ देर और इधर-उधर घूम-फिर कर देखूँ और फिर प्रजा का प्रेम स्वामियों पर प्रकट कर दूँ।

(कुछ दैत्यों का प्रवेश)

(गान)

हाँ रे, दिन फिरे-फिरे हमारे।
नहीं फिरेंगे अब अनाथ-से हम सब मारे-मारे॥
रहते थे मन मारे अब तक जो हम हिम्मत हारे।
अब सु-योग पाकर जीवन भर भोगेंगे सुख सारे।
उन्नत होकर दिव्य-कुसुम-से तोड़ेंगे हम तारे।
चमकेंगे बनकर रिपुओं के हृदयों के अंगारे॥
जल जावेंगे हमें देखकर विघ्न आप बेचारे।
पियो वारुणी, जियो बन्धुवर, जय है हाथ तुम्हारे॥

विकराल : ये लोग तो मतवाले से हो रहे हैं। जरा इनकी बातें भी सुनूँ।

पहला : वाह भाई, वारुणी की खूब कही! निस्सन्देह हमारे दिन फिरे हैं। वारुणी का विलास ही कह रहा है कि हमारे दिन फिरे हैं। फिरे तो बहुत दिनों में पर खूब फिरे।

दूसरा : देख, कहीं लार न टपक पड़े!

पहला : लार तेरी टपके और तेरे बाप की। आज राज्य की ओर से इतनी वारुणी बाँटी गयी है कि मैंने पानी के घड़े भी उसी से भरकर रख दिये हैं। क्या तू कोरा ही रह गया?

दूसरा : कोरा तू रहे और तेरा बाबा। यहाँ तो इतना मांस इकट्ठा कर रक्खा

है कि आनन्द से घर बैठे-बैठे जीवन भर खाया करूँ तो भी न चुके!

पहला : अरे, मांस तो हाल का ही अच्छा होता है। बासी होने पर उसमें वह मजा कहाँ? मैंने तो निश्चय कर लिया है कि प्रतिदिन एक नया प्राणी मारकर खाया करूँगा। इससे शिकार का शौक भी पूरा होगा और नित्य नया स्वाद भी मिलेगा। यों तो सभी मांस अच्छे होते हैं पर मनुष्य के मांस को एक भी नहीं पाता। सच तो यह है कि मांस-प्रेमी होकर जिन्होंने नर-मांस का स्वाद न लिया उनका जन्म ही वृथा गया। अहा! पर तू बड़ा निरुद्योगी जान पड़ता है जो घर में पड़ा-पड़ा सड़ा मांस खाना चाहता है। यह तो आलसी और कायर लोगों के लक्षण हैं।

तीसरा : मेरी तो इच्छा होती है कि सबसे पहले अपने चिरशत्रु देवताओं का गरम-गरम खून पियूँ।

चौथा : म...म...म...मेरी भी य...य...य...ही इ...इ...इ...च्छा हो...ओ...ओ. ..ओ...ती है।

तीसरा : (**मुस्कराकर**) होनी ही चाहिए।

दूसरा : बस, बस बहुत बढ़ना अच्छा नहीं। तू तो उधर देवताओं को देखने जायगा इधर तेरी दानवी को कौन देखेगा?

पहला : मेरे रहते इसकी चिन्ता नहीं। पर असल में यह किसी देवांगना पर मर रहा है।

दूसरा : हाँ भाई, यह तूने ठीक कहा। और है सो तो है ही, पर शत्रुओं की स्त्रियाँ बड़ी सुकुमार हुआ करती हैं।

पहला : ऐसी सुकुमार कि हवा के झोंकों से भी लता की तरह लच जाती हैं।

तीसरा : अरे, तुम लोग पागलों की तरह क्या बक रहे हो। मैं कभी शत्रुओं की स्त्रियों की इच्छा कर सकता हूँ, जिनके पीछे वे अपने कुल-धर्म्म से भी हाथ धोना पड़े। क्योंकि ऐसे तो मिलने से रहीं, यदि मैं युद्ध में मरकर देवत्व प्राप्त करूँ तो भले ही उनके पाने की आशा कर सकता हूँ? पर क्या मैं उनके लिए देवत्व प्राप्त करके कुल कलंकी हो सकता हूँ? इस बुरे विचार को भी धिक्कार।

विकराल : (**स्वगत**) सौ बार धिक्कार। जो किसी लोभ से शत्रुओं में मिल जाना चाहता है उसके बुरे विचार को सौ नहीं, हजार बार धिक्कार?

पहला : हाँ भाई, तेरा कहना बहुत ठीक है। मैं तो यों ही हँसता था। पर यह तो बता अब देवताओं पर चढ़ाई कब की जायगी?

तीसरा : जब तक दैत्यराजों के मन में यह बात नहीं आयी है तभी तक विलम्ब समझना चाहिए। पर मैं जानता हूँ कि अब अधिक विलम्ब नहीं। शीघ्र ही हमें शत्रुओं से बदला लेने का मौका मिलेगा, क्योंकि इसीलिए तो स्वामियों ने कठोर तप करने का कष्ट उठाया है।

दूसरा : कष्ट?

तीसरा : तुझे नहीं मालूम?

पहला : इसी समय हमें वारुणी की कृपा से सब मालूम है और कुछ भी मालूम नहीं!

चौथा : म...म...म...मुझे स...स...स...सब मा...अ...अ...अ लूम है...।

दूसरा : शाबाश, तुझ पर तो वारुणी की पूरी ही कृपा है!

तीसरा : तुम सब मतवाले हो रहे हो। इस समय तुमसे कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है।

दूसरा : नहीं भाई, नाराज न हो। एक बार बता दे कैसा कष्ट?

तीसरा : अरे, कौन नहीं जानता कि दैत्यराजों ने विन्ध्याचल पर बरसों निराहार रहकर महा कठिन तप किया है।

दूसरा : फिर?

तीसरा : उनकी तपस्या देखकर देवताओं की भूख, व प्यास और नींद सब चली गयी।

पहला : अच्छा हुआ। कहीं प्राण भी चले जाते तो और अच्छा होता। सब झगड़ा मिट जाता।

दूसरा : तब न सही तो अब हमारे हाथ से जायेंगे। भला फिर क्या हुआ?

तीसरा : फिर उन्होंने तप को भंग करने के लिए अनेक अप्सराओं को भेजा।

पहला : **(मुँह लटकाकर)** यही तो बड़ा विघ्न है। नहीं तो अब तक मैं भी अपार तप का अधिकारी हो गया होता।

तीसरा : देवता, दूसरों की बढ़ती नहीं देख सकते। अच्छा होता जो वे अन्धे होते। हमारी बढ़ती तो वे देख ही कैसे सकते हैं? हम तो उनके जानी दुश्मन ठहरे।

दूसरा : तब?

तीसरा : तब अप्सरायें भी हमारे स्वामियों को लुभाने की चेष्टायें करने लगीं। उन्होंने खूब हाव, भाव दिखलाये; कटाक्षों की झड़ी लगा दी, अपने अनुकूल गीत गाये और नाच भी दिखलाये।

पहला : अहा! वह समा मेरी आँखों के सामने-सा आ गया। आँखें मानो उनके हाव, भाव और कटाक्षों की लीला देख रही हैं। और कान उत्कण्ठा उत्पन्न करने वाले उनके गीत सुन रहे हैं। इधर वसन्त

का विकास अलग ही हो रहा है। सुगन्धि-पूर्ण शीतल पवन मन्द गति से चलता हुआ मन को मतवाला बना रहा है। अहा हा, फिर तो स्वामियों ने उन्हें निराश न किया होगा! अहा!

दूसरा : अरे ओ मतवाले के बच्चे! तू क्या बकता है? नशा बहुत चढ़ गया हो तो अभी—

पहला : नहीं भाई, मुझसे भूल हुई। अहा! कैसा दृश्य! क्षमा करो, मैं अब न बोलूँगा। अहा!

दूसरा : देवताओं का जाल ही ऐसा है; और कहने को धूर्त कहते हैं कि यह दृढ़ता की परीक्षा है। खैर फिर क्या हुआ?

तीसरा : फिर क्या होता, अप्सरायें अपना-सा मुँह लेकर लौट गयीं, देवता भी सिर पीट कर रहे गये। अन्त में स्वयं पितामह प्रसन्न होकर मनमाना वरदान देने के लिए प्रकट हुए।

दूसरा : वे तो पितामह ही ठहरे; वे क्यों किसी का पक्षपात करते? उनके निकट तो हम और देवता दोनों ही समान हैं।

पहला : मैं जान गया। स्वामियों ने उनसे एकच्छत्र राज्य माँगा होगा।

दूसरा : मैं तो जानता हूँ कि उन्होंने अटूट बल माँगा होगा। **(तीसरे से)** क्यों मेरी ही बात ठीक है न?

पहला : नहीं, मेरी बात ठीक है। **(तीसरे से)** क्यों भाई भयंकर?

तीसरा : **(स्वगत)** वरदान की बात तो अभी गुप्त रखी गयी है। **(प्रकट)** अरे, तुम दोनों क्यों विवाद करते हो? तुम दोनों की ही बातें ठीक हैं। **(घूमकर और विकराल को देखकर, स्वगत)** अरे, यह तो स्वामियों का प्रिय सहचर विकराल है! **(प्रकट)** जय हो महाशय! कहिए, क्या आज्ञा है?

विकराल : कुछ नहीं, मैं भी उत्सव देखता हुआ इधर आ निकला हूँ। तुम लोग कैसे घूम रहे हो?

तीसरा : हम लोग भी उत्सव मना रहे हैं। पर ये लोग अधिक मद्यपान करने से अब अचेत-से होते जाते हैं। बात यह है कि बहुत दिनों में इस प्रकार आनन्द मनाने का अवसर मिला है।

विकराल : अवसर के लिए भी तो उद्योग की आवश्यकता हुआ करती है। दैत्यराजों ने इसके लिए उद्योग किया। फिर अवसर क्यों न आता?

तीसरा : बहुत ठीक है। धृष्टता क्षमा हो तो क्या मैं यह पूछने का साहस कर सकता हूँ कि अपने स्वाभाविक शत्रु देवताओं से बदला लेने का भी कुछ उद्योग हो रहा है या नहीं?

विकराल : क्यों, तुम्हारी इच्छा बदला लेने की है?

तीसरा : महाशय, आप यह क्या पूछते हैं? कौन ऐसा नीच सैनिक होगा जो शत्रुओं से बदला लेने की इच्छा न करेगा? ऐसे समर्थ स्वामियों को पाकर भी हम लोग यह इच्छा न करें तो समझना चाहिए कि हमारा जातीय जीवन नष्ट हो गया, किन्तु मेरा विश्वास है कि आपके हृदय में भी यही इच्छा है और होनी ही चाहिए।

विकराल : निस्सन्देह तुम प्रकृत योद्धा हो। तुम्हारी अभिलाषा शीघ्र ही पूरी होगी।

तीसरा : अनुगृहीत हुआ। सच जानिए महाशय, हम लोगों की और कोई अभिलाषा नहीं। हमारी स्त्रियाँ भी उत्सुकतापूर्वक उस समय की प्रतीक्षा कर रही हैं जिस समय वे अपने हाथों से हम लोगों को शस्त्र देकर संग्राम में जाने के लिए विदा करेंगी।

म म म म मुझ को व ब बिदा द द दीजे स स सर्व।
न न निकला ज ज जा रहा प प प प पावन पर्व॥

(पतन)

पहला : धत्तेरे की!

तीसरा : अरे, यह तो गिर पड़ा!
(विकराल से) अच्छा महाशय, आज्ञा दीजिए तो हम लोग इसे उठाकर ले जाएँ।

विकराल : हाँ, हाँ इसे अवश्य ले जाना चाहिए।

तीसरा : जो आज्ञा।

[मूर्च्छित को टाँग कर सब जाते हैं]

तीसरा : **(स्वगत)** आज लोगों के मन में यही बात समा रही है कि जहाँ तक हो सके शीघ्र ही शत्रुओं से बदला लेना चाहिए। ठीक भी है, क्योंकि अवसर बार-बार नहीं मिलता। अच्छा, अब मैं भी दैत्यराजों को सब हाल सुनाकर इस काम से निश्चिन्त हो जाऊँ।
(घूमकर)
अहा! यही तो राज-प्रासाद है। अब देवताओं को अपने वैजयन्तधाम की शोभा का गर्व भी छोड़ देना चाहिए। **(उद्देश्यपूर्वक)**
कौन है, तीक्ष्ण दन्त! स्वामी इस समय कहाँ हैं?
(कान लगाकर) क्या कहा, गगनभेदी भवन की अट्टालिका के ऊपर, ऊँचे सुवर्णासनों पर बैठे हुए, दोनों श्रीमान् सहोदर नगरोत्सव का निरीक्षण कर रहे हैं? अच्छा, तो मैं भी वहीं चलूँ। **(आरोहण करके)**
अहा! ये देखो, सामने ही मानो मेरी एक-एक दृष्टि का आकर्षण करते हुए दोनों सहोदर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे सुमेरु पर्वत

के शृंगों पर दो सिंह बैठे हों।

(सुन्द और उपसुन्द दिखाई देते हैं)

उपसुन्द : भैया, मेरा तो विश्वास है कि दानव जाति का यह उत्साह हार्दिक है।

सुन्द : मैं भी यही समझता हूँ, क्योंकि जो काम अन्तःकरण की प्रेरणा से नहीं किये जाते वे कैसे ही सुन्दर क्यों न दिखलाये जायँ परन्तु रीते बादलों की तरह उनकी निर्जीवता छिपी नहीं रहती। (देखकर) वह देखो, विकराल आ रहा है। अभी सब मालूम हो जायगा।

विकराल : (आगे बढ़कर) स्वामियों की जय हो।

दोनों : विकराल, तू आ गया? अच्छा, यहाँ आकर बैठ।

विकराल : जो आज्ञा। (बैठता है)

सुन्द : पहले यह बता, रंग ढंग कैसे हैं? हम दोनों तेरी ही राह देख रहे थे।

विकराल : सब ठीक है। मैंने पहले ही कह दिया था। किन्तु आपकी आज्ञा पाकर कहीं प्रकट और कहीं गुप्त भाव से घूम-घूमकर देखा। उससे मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया। यही जान पड़ा कि दैत्यों में ऐसा उत्साह और आनन्द शायद ही पहले कभी दिखाई दिया हो। सारी जाति हृदय से हमारी जय मना रही है। सच तो यह है कि—

चिर दिनों में प्राप्त करके आप-से अधिराज,
पूर्ण अभिलाषा हुई है दैत्यकुल की आज।
मधुर मधु पीकर तथा सजकर नये सब साज,
खिल रहा मधु मास के उपवन-समान समाज॥

सुन्द : बड़ी बात है। हमारा शासक होना सफल हुआ, क्योंकि—

सभी जनों की प्रीति-पात्रता महा कठिन है,
कुमुदों को प्रिय रात और कमलों को दिन है।
फिर भी शशि-सम वही धन्य समझा जाता है—
तम में भी आलोक अमल जो फैलाता है॥

विकराल : ठीक है, आप जैसे समर्थ स्वामियों से आज दानवजाति सनाथ हो गयी है। आप धन्य हैं।

एक प्राण दो देह, पाकर अनुपम आपसे।
सम्प्रति निस्सन्देह, कुल का बल दूना हुआ।

सुन्द : जाने दे, और कोई सुनाने योग्य बात हो तो सुना। लोगों की कोई विशेष इच्छा मालूम हुई?

विकराल : सबके मन में एक ही बात है।

दोनों : (आग्रहपूर्वक) वह क्या?

विकराल : सब यही चाहते हैं कि कब, देवताओं पर चढ़ाई करके उनके शोणित जल से चिर-वैर-वह्नि की शान्ति की जाय।

सुन्द : होनी ही चाहिए–

दुस्तप तप करके लिया, वर भी जिसके अर्थ।
वह न किया तो क्या किया, क्या हम हुए समर्थ।

(क्षोभ से) अरे, हम काहे के धन्य हैं जिनके शत्रु सुर-गण अब भी आनन्द से विहार कर रहे हैं। आः!

शत्रुकुल निश्चिन्त है आनन्द से
और हम चिरकाल से हैं मन्द से।
क्या हुआ कुल का भला हम से भला?
शत्रु-सुख से और उसका जी जला!

उपसुन्द : भैया, यह बात है तो मुझे आज्ञा क्यों नहीं देते–

अरि मांस-पिण्ड पाकर सगर्व
चिर तृप्त अभी हों पितर सर्व।
रिपु-शोणित-जल देकर नितान्त
कर दूँ मैं उनकी तृषा शान्त॥

सुन्द : अरे, क्या इसके लिए भी आज्ञा की आवश्यकता है?

पूछ-पूछ कर वीर नहीं व्रत पालते,
वे अपना कर्त्तव्य आप कर डालते।
केवल सिर है, नहीं एक भी बाहु है,
पर करता खग्रास स्वयं ही राहु है॥

उपसुन्द : **(गदा लेकर)**

ऐसा है तो शीघ्र सजग सुर-गण हो जावें,
असुर-वंश से वैर किये का फल वे पावें।
निज भुज-कण्डू शान्त करूँ अब मैं भी रण में,
चूर्ण करे यह गदा शत्रु-शिर एक क्षण में॥
निश्चिन्त हमारी जाति ही भोगे सब सुख आज से,
मैं आप निपट लूँगा अभी सारे शत्रु समाज से॥

सुन्द : **(उत्तेजना से)**

शुण्डादण्ड समान और दृढ़ कन्धों वाले,
परम्परागत रत्न जटित भुजबन्धों वाले।
लीला से ही शृंग जिन्होंने तोड़ दिये हैं,
विटप मरोड़-मरोड़ होड़कर छोड़ दिये हैं॥

वे मेरे कर भी शत्रु की समर-पताका चाहते,
शासन करके सुरलोक का नूतन साका चाहते॥

विकराल : (आप ही आप) दैत्यराजों की क्रोधाग्नि अब भड़क गयी—
हो गये नेत्र कुछ लाल-लाल,
हैं फड़क उठे भुजवर विशाल।
उद्दण्ड दण्ड लेकर कराल—
क्या प्रकट हुए दो क्रुद्ध काल!

उपसुन्द : तो अब विलम्ब न करना चाहिए। यह अकाल कौमुदी महोत्सव ही हमारी विजय-यात्रा का उत्सव समझा जाय।

सुन्द : ठीक है; विकराल, तू उष्ट्रगीव मन्त्री से कहकर ऐसी घोषणा करा दे।
कर के सच्चे शूर-सम कुल का कण्टक दूर।
फिर निश्चिन्त मनायें हम विजयोत्सव भरपूर॥

विकराल : जो आज्ञा। दानव भी यही चाहते हैं।
वीर केवल वैर लेना चाहते,
स्वामि-हित सर्वस्व देना चाहते।
किन्तु युद्धोत्साह ही अध्यक्ष का—
पृष्ठपोषक है किसी भी पक्ष का॥

सुन्द : ऐसा है तो मैं अपनी सेना की पृष्ठपोषकता के लिए स्वयं उपसुन्द को उसकी अध्यक्षता का प्रधान पद देता हूँ।

उपसुन्द : मैं कृतार्थ हुआ। विकराल, तू मेरी ओर से सैनिकों पर यह बात प्रकट कर दे :—
विश्व में वीरो, हमारा दैत्य-बल विख्यात है,
किन्तु उसकी पूर्णता केवल हमीं को ज्ञात है।
शीघ्र ही अरि भी उसे अब युद्ध में पहचान लें,
क्या कठिन है वह भला जो चित्त में हम ठान लें॥

विकराल : सैनिक भी कृतार्थ हो गये।
पाकर आप-सदृश सेनानी—
अद्वितीय योद्धा कुलमानी।
दैत्य वीर अब किसे डरेंगे?
स्वयं मृत्यु का मान हरेंगे॥

सुन्द : किन्तु हमें पहले कपटी देवताओं को ही देखना है। उनका विजय करना ही मानो विश्व विजय करना है, क्योंकि जिनके देवता ही हार जायँगे उनका हारना कितनी कठिन बात है?

उपसुन्द : तो चलो यात्रा के लिए सज्जित हो जायें। अब विलम्ब असह्य है।

विकराल : किन्तु पहले गुरु महाराज का आशीर्वाद लेकर उनकी आज्ञा से कार्य्य करना अधिक अच्छा होगा।

सुन्द : तूने वड़ी अच्छी बात कही। हमें तो आतुरता के कारण इसका ध्यान ही न था। इसी से तो कुटिल शत्रु यह कहकर हम पर कटाक्ष किया करते हैं कि दैत्य लोग कार्य्य में सहसा प्रवृत्त हो जाते हैं।

उपसुन्द : धूर्त शत्रु चाहते हैं कि हम कार्य्य न करके विचार ही करते रहें और उन्हें आनन्द से विहार करने का अवसर मिलता रहे। किन्तु उनका यह छल अब नहीं चल सकता—

प्रिय हमको स्वतन्त्र जीवन है।
मान्य एक अपना ही मन है।
आता है जी में जब जैसा—
करते हैं बस हम तब तैसा॥

[सब जाते हैं]

दूसरे अंक का विष्कम्भक

[दो देव सैनिकों का प्रवेश]

पहला : कहो भाई, क्या समाचार हैं?

दूसरा : क्या कहें, एक ही बात बार-बार मन में आती है। भूलोक-वासी कहा करते हैं कि देवताओं ने सारे सुख अपने लिए रख लिये हैं और सारे दुख हमारे लिए छोड़ दिये हैं। वे यह नहीं जानते कि—

हमीं नहीं बाधाएँ सहते,
सुरगण भी हैं चिन्तित रहते।

और सच तो यह है कि :—

चिन्ता ही करती उद्योगी,
उद्योगी ही हैं सुख-भोगी॥

दूसरा : इसमें क्या सन्देह है :—

जानकर कर्त्तव्य जो करते उचित उद्योग हैं,
भोगते वे भूमि पर ही स्वर्ग के सुख-भोग हैं।
किन्तु निष्कर्म्मा मनुज जब देखते हैं आपदा—
व्यर्थ ही तब देवकुल को कोसते हैं वे सदा॥

पहला : यही तो बात है। उन्हें सोचना चाहिए कि :–

उद्यम करने से नहीं कठिन एक भी काम।
है दुर्लभ देवत्व भी उसका ही परिणाम॥

दूसरा : पर यह तो बताओ कि आज तुम्हारे मन में बार-बार यही बात क्यों उठ रही है?

पहला : हैं, क्या तुमने नहीं सुना कि ब्रह्मदेव से वर पाकर सुन्द और उपसुन्द नामक दैत्य प्रबल हो उठे हैं। इसलिए दानवों ने शीतकाल के अनन्तर साँपों की तरह फिर अपना सिर उठाया है।

दूसरा : तो इससे क्या हुआ? उनका सिर फिर कुचल दिया जायगा।

पहला : यही तो कठिनता है। उन्होंने बड़ा उग्र तप किया है। इसलिए वर भी उन्हें मनमाना ही मिला होगा।

दूसरा : किन्तु विधाता ने उन्हें ऐसा वर दिया ही क्यों होगा जिससे वे सदैव मनमाना अत्याचार करते रहें?

पहला : यह ठीक है, परन्तु उनके तप का फल तो उन्हें देना ही पड़ा होगा। एक बात और भी है :–

दान समय दानी कभी नहीं सोचते स्वार्थ।
पक्ष छोड़ कर पात्र को देते सभी पदार्थ।

दूसरा : **(चिन्तित होकर)** तो भाई, अब क्या होगा?

पहला : जो कुछ होगा अच्छा ही होगा। पर यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि कब और कैसे होगा। इसी से चिन्ता है।

दूसरा : निस्सन्देह चिन्ता की बात है।

पहला : जो हो, शत्रु हमारा कर कुछ नहीं सकते। **(नेपथ्य में)** सब सावधान होकर देवेन्द्र की आज्ञा सुनो।

दोनों : **(चौंककर)**
हम लोग सुनने के लिए प्रस्तुत हैं।
(नेपथ्य में) महाराज आज्ञा देते हैं।

दोनों : प्रभु क्या आज्ञा करते हैं? **(नेपथ्य में)**

कदाचार ही सदाचार है जिनके लेखे,
केवल अपना स्वार्थ सार है जिनके लेखे,
इसीलिए जो सहज शत्रु हैं सदा हमारे–
और युद्ध में बार-बार जो हमसे हारे
चींटों के सम वे दैत्य फिर सम्प्रति हुए सपक्ष हैं,
हम सजग रहें उनके लिए जो दीपक-सम दक्ष हैं॥

दोनों : महाराज की जो आज्ञा। हम लोग सर्वथा सजग हैं। **(घूमकर जाते हैं)**

दूसरा अंक

[इन्द्र और कार्तिकेय का प्रवेश]

कार्तिकेय : आपके कष्ट उठाने की मैं कुछ भी आवश्यकता नहीं समझता।

इन्द्र : कुमार, तुम्हारा कहना ठीक है। परन्तु इस युद्ध में सम्मिलित होने की मेरी बड़ी इच्छा है। क्योंकि :-

बहुत दिनों से निरुपयोग से अस्त्र पड़े हैं,
पाकर अवसर आज व्यग्र हो रहे बड़े हैं।
वह प्रयोग-कौशल्य कहीं कर भूल न जावें-
इससे वे भी आज उसे फिर नया बनावें।
मैं देखूँ, रिपुओं ने इधर कितना बल संचय किया?
आखेट-भाव से ही सही, जाना निश्चय कर लिया॥

कार्तिकेय : वीर रस के अधिष्ठाता देवराज का ऐसा कहना स्वाभाविक ही है। परन्तु मैं फिर भी यही कहूँगा कि आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं :-

जब तक कोई शत्रु न दीखे वृत्र-तुल्य बलधाम,
तब तक देवराज के आयुध क्यों न करें विश्राम।
सुरकुल को जैसा प्रसंग यह आज हुआ है प्राप्त,
उसके लिए षडानन के ही आयुध हैं पर्याप्त॥

इन्द्र : यह क्या, षडानन के आयुद्ध तो ऐसे हैं कि :-

जीते जब सब लोक तारकासुर ने बल से,
मेरे भी शस्त्रास्त्र हो गये थे निष्फल-से।
देव-कार्य्य उस समय तुम्हीं ने सिद्ध किया था,
जो अविद्ध था उसे स्वयं ही बिद्ध किया था।
देवों की आशायें सभी लगी तुम्हीं से हैं सदा,
तुम-सा सेनापति ही उन्हें जयी करेगा सर्वदा॥

कार्तिकेय : देवराज का ऐसा कहना अनुग्रह मात्र है। देवकुल की जो कुछ सेवा मुझसे हो सके वही मेरे लिए गौरव का विषय है।

इन्द्र : तुम्हारा ऐसा कहना उचित ही है।

वही धन्य है सृष्टि में जन्म उसी का सार।
हो कुल, जाति, समाज का जिससे कुछ उपकार॥

तो तुमसे अधिक धन्य और कौन हो सकता है? देवकुल की रक्षा का भार विशेषतया तुम्हारे ही ऊपर है।

कार्तिकेय : मुझ पर बड़ा अनुग्रह हुआ। देवकुल अपनी रक्षा करने के लिए आप ही समर्थ है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ।

इन्द्र : **(मुस्कराकर)** बहुत विनय रहने दो। अभी शत्रुओं का सामना करना है।

कार्तिकेय : **(मुस्कराकर)** किन्तु इस समय तो स्वामी के सामने हूँ।

इन्द्र : **(आनन्द से)** अच्छा देवसेना सज्जित हो गयी?

कार्तिकेय : जी हाँ,

सज्जित और समर्थ, सुर-सेना समराग्नि-युत।
असुरेन्धन के अर्थ, उत्सुक है उत्साह से युत॥

इन्द्र : ऐसा ही हो। मैं एक बार उसका निरीक्षण करके वीरों का उत्साह देखूँगा।

कार्तिकेय : जो आज्ञा। इससे उसका उत्साह और भी बढ़ जायगा। तब तक इस बात की सूचना देकर मैं उसे आनन्दित करता हूँ।

इन्द्र : अच्छी बात है। मैं भी अभी पहुँचता हूँ।

कार्तिकेय : जो आज्ञा। **(प्रस्थान)**

इन्द्र : **(स्वगत)** सुना है, इस बार दैत्यों में भी बड़ा उत्साह फैल रहा है। यह तो ज्ञात ही हो चुका कि सुन्द और उपसुन्द ने पितामह से कोई विशेष वर प्राप्त किया है और यह भी याचना की है कि वर की बात अभी गुप्त रहे। परन्तु इससे क्या,

जब तक मेरे हाथ में है वह कुलिश कठोर।
असुर देख सकते नहीं सुर-लक्ष्मी की ओर॥

(गर्वपूर्वक घूमना)

(इन्द्राणी का प्रवेश)

इन्द्राणी : स्वामी की जय हो।

इन्द्र : **(देखकर)** अहा! प्राणेश्वरी शची हैं। प्रिये!

तेरा जय कहना मुझे है अति ही प्रिय आज।
क्योंकि सजाये जा रहे उसके ही सब साज।

आओ, यहाँ बैठें। **(दोनों बैठते हैं)**

इन्द्र : इस समय तेरा आना सचमुच ही बड़ा ही मंगल-सूचक है।

मैं आ रहा था आप तुझसे भेंट करने के लिए,
तब तक स्वयं तूने यहाँ आकर मुझे दर्शन दिये।
ऐसे शकुन से क्यों न मेरा मन सुमन जैसा खिले?
क्या पूछना है फिर भला यदि इष्ट ही आकर मिले!

पर यह तो बतला :–

कैसे तूने है किया आने का आयास?
कुण्ठित क्यों है चन्द्र-से मुख का हास-विलास?

इन्द्राणी : रहने दो, प्रत्येक समय विनोद अच्छा नहीं लगता। पहले यह कहो कि तुम किसलिए मेरे पास आना चाहते थे?

इन्द्र : किन्तु यही प्रश्न पहले मैं तुझसे कर चुका हूँ।

इन्द्राणी : नहीं, पहले तुम्हें बताना होगा।

इन्द्र : यह तो अन्याय है।

इन्द्राणी : तुम स्त्री-जाति के हृदय की आकुलता पर विचार करो तो जानोगे कि यह न्याय है या अन्याय।

इन्द्र : जिस बात के लिए स्त्री-हृदय आकुल हो सकता है उसके लिए क्या पुरुष-हृदय नहीं आकुल हो सकता है?

इन्द्राणी : इस बात को तो वही जानें, परन्तु मैं वही कहती हूँ जो मेरा मन कह रहा है।

इन्द्र : जहाँ मन का न्याय है वहाँ कुछ कहना ही व्यर्थ है।

इन्द्राणी : परन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि तुम मेरे निकट किसलिए आ रहे थे?

इन्द्र : *मेरे आने का स्वयं तू ही हेतु विचार।*
अयस्कान्त के निकट क्यों खिंच जाता है सार?

इन्द्राणी : शत्रुओं की तो चढ़ाई हो रही है और तुम्हें हँसी सूझ रही है! मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता।

इन्द्र : अरे, क्या तुझे यही आशंका है?

है यह नूतन सिद्धि-योग ही मुझको,
आता था मैं ही जिसे सुनाने तुझको।
हो एक जय-श्री और सपत्नी तेरी,
पर है वह ही एकान्त संगिनी मेरी।

इन्द्राणी : इस साहस को तो देखो, सामने विपत्ति और यह परिहास! किन्तु मेरे निकट तो यह उपहास ही है।

इन्द्र : *तू जिसको आपत्ति समझ सविमर्ष है—*
वह यथार्थ ही वीर-जनों का हर्ष है!
प्रिये, व्यर्थ ही तुझे हो रही भीति है,
आशंका ही हाय! प्रीति की रीति है॥

इन्द्राणी : तो क्या तुम्हें कुछ भी आशंका नहीं? **(मुस्कराकर)**

है मेरे भी चित्त में यह आशंका एक—
तू न रूठ बैठे कहीं ठान मान की टेक!

इन्द्राणी : फिर वही बात! मानो मारकाट करना कोई अच्छा काम है, जिसका ध्यान ही तुम्हें गद्गद किये देता है।

इन्द्र : मारकाट हम करना चाहते हैं या शत्रु कराना चाहते हैं? दुष्ट दैत्यों का ही यह स्वभाव है कि वे उत्पात करना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं!

इन्द्राणी : पर तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?

इन्द्र : अनाचारी विपक्षियों के नाश का अवसर पाकर भला कौन वीर प्रसन्न न होगा।

इन्द्राणी : किन्तु सुना है, शत्रुओं ने इस बार कोई विशेष वर प्राप्त किया है।

इन्द्र : इससे क्या? अनाचार तो उनका कुलव्रत ही है और किसी गौरव को पाकर उसे सँभालना भी तो सहज नहीं होता। जो हो—

तेरा ऐसा सदय और सुकुमार हृदय है—
होता जिससे तनिक-तनिक में तुझको भय है।
क्षय-सूचक ही किन्तु शत्रुओं का समुदाय है।
यह निश्चय है, जहाँ धर्म है वहीं विजय है॥

इन्द्राणी : न जाने इस देवासुर-संग्राम की समाप्ति कब होगी।

इन्द्र : *विकृत दानवी प्रकृतियाँ जब तक न हों उदार।*
तब तक कैसे कलह का होगा उपसंहार?

इन्द्राणी : न कभी शत्रुओं की प्रकृतियाँ पलटेंगी न युद्ध रुकेगा।

इन्द्र : इसमें क्या सन्देह है—

जब तक पशु-प्रवृत्तियाँ छोड़ेंगे न सपत्न।
तब तक शोधन का यही आयोधन है यत्न॥

इन्द्राणी : किन्तु जबसे मैंने शत्रुओं के वर की बात सुनी है तब से मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है!

इन्द्र : अयि भीरु!

करती है क्यों अपने मन में तू ऐसी चिन्ता भारी?
अतुल अमर सेना है मेरी, मैं हूँ विदित वज्रधारी।
नमुचि, जम्भ, वृत्रादिक वैरी मैंने ही सब मारे हैं,
जब जब चक्र रचे असुरों ने तब-तब मुझसे हारे हैं॥

इन्द्राणी : यह मैं जानती हूँ कि अन्त में शत्रुओं का ही पराभव होगा, किन्तु ऐसा न हो कि पहले हमारे लिए कोई चिन्ता की बात हो जाए, इसी आशंका से मेरा मन अधीर हो रहा है।

इन्द्र : **(स्वगत)** इसे कैसे समझाऊँ?

(प्रकट)

मान लो कि पहले हमें कुछ चिन्तित होना भी पड़े पर उसका परिणाम भी हमारे लिए कुछ विशेषतापूर्ण ही होगा—

जब वृत्रासुर ने वर पाया—
और अधिक उत्पात मचाया।
तब भी शत्रु-समाप्ति हुई थी,
हमें वज्र की प्राप्ति हुई थी।

इसलिए तुम चिन्ता न करो। शीघ्र ही युद्ध से निबटकर हम नन्दनकानन में आनन्द-पूर्वक विहार करेंगे।

इन्द्राणी : जिन स्वयम्भू भगवान् ने दुष्ट दानवों को वर-प्रदान किया है वही देवकुल का मंगल विधान करें; यही मेरी प्रार्थना है।

इन्द्र : अवश्य करेंगे। इसमें सन्देह ही क्या है?

सुकृत प्रिय हैं सदा विधाता,
होंगे क्यों न हमें शुभदाता?
दुष्ट दैत्य भी तप करने पर—
पाते हैं उनसे अभीष्ट वर॥

इन्द्राणी : अब मेरा भय दूर हुआ।

इन्द्र : होना ही चाहिए—

जब तक सुकृतों का फल जय है,
और दुष्कृतों का फल क्षय है।
तब तक हमको किसका भय है?
सभी ओर सुख का संचय है॥

इन्द्राणी : ठीक है हमारी सेना तो सज्जित ही होगी?

इन्द्र : अहा! अच्छी याद दिलाई। मैं सुर-सेनापति से अभी उसका निरीक्षण करने के लिए कह चुका हूँ।

इन्द्राणी : **(गद्गद होकर)**

मैं अबला ऐसे समय कहूँ और क्या नाथ!
मेरे मन की कामना रहे तुम्हारे साथ॥

इन्द्र : यह मेरा सौभाग्य है। तो अब :—

तेरे विचलित चित्त से मिल कर मेरा चित्त।
प्रेरित रहे सदैव फिर सत्वर मिलन निमित्त॥

[प्रेम-पूर्वक देखते हुए प्रस्थान]

इन्द्राणी : **(हृदय पर हाथ रखकर)** अरे हृदय, तू फिर धड़कने लगा? प्राणेश्वर के जाते ही क्या उनका दिया हुआ प्रबोध भी चला गया? हाय! अब क्या करूँ? **(नेपथ्य में)**

बलाहक! बलाहक! क्या कहा?

मुँह फैलाये हुए भयंकर दाँत निकाले,
आ पहुँचे हैं दैत्य महा मद से मतवाले।
पड़कर मानो किसी प्रबल आँधी के पाले—
उड़ते जड़ से उखड़ पेड़ बहु काँटों वाले!

अच्छा,

तो मेरी भी अस्त्राग्नियाँ उनके लिए प्रचण्ड हों,
जलने के पहले ही यहाँ उनके सौ-सौ खण्ड हों।

इन्द्राणी : **(चौंककर)** अरे, यह तो वत्स जयन्त बोल रहा है। अब आयुधों की आँधी में विलम्ब ही क्या रहा। यह भी मुझसे अभी विदा माँगेगा। हाय!

त्रैलोक्य में कर्त्तव्य की वह प्रेरणा ही धन्य है—
कर दे विवश जो प्रेम को भी कौन ऐसा अन्य है?
होकर उसी के वश हमें भी—रख हृदय पर हाथ ही—
हैं भेजने पड़ते समर में पति तथा सुत साथ ही?

तो चलूँ, मैं स्वयं ही चलकर उसे आशीर्वाद दूँ?

[प्रस्थान]

तीसरा अंक

[कुबेर की परिचर्य्या करते हुए वरुण का प्रवेश]

वरुण : यक्षराज, सावधान हो, सावधान हो। हा विधाता! तुम्हारा यह कैसा विधान है? लोकेश! तुम्हारी यह कैसी लीला है? देवकुल को विपन्न करने के लिए ही क्या तुमने सन्तुष्ट होकर दुष्ट दानवों को अपने वरदान से इस प्रकार परिपुष्ट किया है? इन नीचों के आघातों से राजराज धनेश्वर की यह दशा! हम देवता अमर हैं, नहीं तो आज न जाने कैसा अनर्थ हो जाता। अलकेश्वर, सावधान हो, सावधान हो। बोलो तो।

[वस्त्र से व्यजन]

कुबेर : **(सचेत होकर)** मैं कहाँ हूँ।

वरुण : आप चिन्ता न कीजिए। आपको अचेत देखकर मैं युद्ध-क्षेत्र के समीप ही, इस निर्जन और छायावाले स्थान में ले आया हूँ।

कुबेर : अहा! क्या वरुण जी हैं?

वरुण : हाँ, मैं आपका बन्धु हूँ। देवराज ने मुझे ही आपकी परिचर्य्या का

काम दिया है। अब आप कैसे हैं?

कुबेर : भाई, मुझसे क्या पूछते हो?

देवभूमि पर हो रहा दैत्यों का उत्पात।
अपने मन से पूछ लो मेरे मन की बात॥

वरुण : सो तो ठीक है, परन्तु आपका शरीर अब कैसा है?

कुबेर : अच्छा है। पर अपमान की ज्वाला से जल रहा है। युद्ध की अवस्था कैसी है?

वरुण : *प्रलय-मेघ जैसे क्षण-क्षण में—*
गरज रहे हैं योद्धा रण में।
अविदित है जय और पराजय,
रुधिर-वृष्टि होती है निश्चय॥

कुबेर : तो चलिए, हम फिर संग्राम करने चलें।

वरुण : आप क्षण भर और विश्राम कर लीजिए।

कुबेर : नहीं मैं अच्छा हूँ। इस समय—

प्रकुपित महा रिपु-रोग है।
उद्योग का ही योग है।
अवसर नहीं विश्राम का,
प्रत्येक पल है काम का॥

(नेपथ्य में) हाय! हाय!

कैसी विपत्ति यह देव-भूमि पर टूट पड़ी,
सब ओर लूट को दैत्यचमू है छूट पड़ी!

दोनों : **(चौंककर)** अरे, क्या कहा?

क्या आज हमारे आयुध सारे व्यर्थ हुए,
अथवा समर्थ भी क्या अब हम असमर्थ हुए!

(नेपथ्य में)

हुई हाय! क्या देव-भूमि दानव-धरा,
समर-श्री को सहठ शत्रुओं ने हरा!

दोनों : **(झपटते हुए)**

नहीं, नहीं, ऐसा न हो सकेगा कभी,
आकर ये हम उन्हें देखते हैं अभी॥

[शीघ्रता से उपसुन्द का प्रवेश]

उपसुन्द : अरे कायरो कहाँ जाते हो?

ठहरो, ठहरो, मुझको ही तुम अपना बल दिखलाओ;
दैत्य-वंश से वैर किये का फल तो लेते जाओ।

[दोनों क्रोध से लौटकर]

कुबेर : अरे अधम, तू आप आ गया! आ, मैं तुझे बताऊँ—

वरुण : तृण-सा मान बहाकर तेरा, तुझे नरक पहुँचाऊँ!

उपसुन्द : अरे, क्या तुम कुबेर और वरुण हो। तुम दोनों की वीरता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा कि तुम संग्राम-भूमि छोड़कर इस प्रकार छिपे-छिपे फिरते हो।

दोनों : रे नीच! हमारी वीरता का पूरा परिचय तुझे अभी मिला जाता है।

उपसुन्द : मैं भी यही चाहता हूँ। अग्नि, मरुत और यम आदि देवताओं की वीरता तो मैंने देख ली। तुम्हें भी देखे लेता हूँ। किन्तु रे कायर कुबेर ! क्या तू मेरे प्रहार को भूल गया? मुझे तो यही आश्चर्य है कि तू अभी तक जीवित है!

कुबेर : तुझ जैसे दुराचारियों को दण्ड देने के लिए मैं सर्वथा अमर हूँ।

उपसुन्द : अच्छा रे धन के साँप! मैं अभी तेरा सिर कुचलकर देखता हूँ कि तूने हमारे लिए कितना धन इकट्ठा किया है।

कुबेर : रे दुर्मुख दैत्याधम! जब तक मेरे गदा-प्रहार से तेरा मुँह नहीं मिट जाता तब तक और क्षण भर प्रलाप कर ले।

उपसुन्द : मैं अभी तेरा प्रहार देखे लेता हूँ। तू पूर्ण बल से वार कर और रे अश्रुधर्म्मा, दया के पात्र वरुण! तू भी :—

पहले वार करो तुम, आओ;
जो कुछ हो सो कर दिखलाओ!
जो मेरी बारी आवेगी—
मन की मन में ही रह जावेगी॥

वरुण : यह तो दानवों ही की रीति है :—

जो अनेक जन एक पर मिलकर करें प्रहार।
है उनके वीरत्व को बार-बार धिक्कार॥

कुबेर : और तेरे लिए तो मैं अकेला ही बहुत हूँ।

उपसुन्द : अच्छा एक-एक ही सही। एक साथ न मरकर अलग-अलग मरो। पर एक साथ लड़ते तो मुझे भी कुछ विक्रम प्रकट करने का अवसर मिलता।

कुबेर : जो मरने के समीप होते हैं वे इसी तरह जो मुँह में आया बकते हैं। तेरे मरने में अब विलम्ब नहीं। युद्ध-भूमि तेरे शव की प्रतीक्षा कर रही है।

उपसुन्द : तू भूलता है। चलकर देख, वह मेरे शव की प्रतीक्षा कर रही है या तेरे की। (दोनों जाते हैं)

वरुण : (स्वगत) अरे, कुबेरजी चले गये! मैं भी चलकर शत्रुओं का संहार करूँ।

[कुछ दूर सुन्द का प्रवेश]

सुन्द : *रक्त, रक्त, बस मुझे रक्त ही इष्ट है,*
कब तक? जब तक शत्रु-चिह्न अवशिष्ट है।
मेरे कर से नहीं किसी का त्राण है,
जो सम्मुख हो आज वही निष्प्राण है॥

अरे, शत्रु तो पीठ दिखाकर भाग रहे हैं इसीलिए तो वर की बात गुप्त रखी गयी थी कि वे संग्राम में कुछ तो हमारी लालसा की तृप्ति होने दें। यदि उन्हें पहले से ही हमारी अजेयता का पता लग जाता तो वे युद्ध किये बिना ही छिप जाते। कायरो! धिक्कार है तुम्हारी भीरुता को।

मरते हो क्यों पीठ पर सहते हुए प्रहार।
क्षण भर भी तो सामने झेलो मेरा वार॥

(आप ही आप) आह! विदित हो गया। वर के गुप्त रखने की बात भी प्रकट हो गयी। यह साहस दैत्यों के ही योग्य है। परन्तु इससे क्या, अजेय होकर भी यह अमर नहीं। मैं ही आज इसका वध करूँगा।

सुन्द : अरे, यहाँ तो कोई दिखाई ही नहीं देता। जिधर जाता हूँ उधर से ही शत्रु भाग जाते हैं।

वरुण : (गरज कर) रे दुःशील दैत्यकुल-कलंक इधर आ। मैं अभी तेरी रण-तृष्णा दूर किये देता हूँ।

रे खल! डूबा समझ वंश भर तू अब अपना,
करता हूँ मैं भंग अभी तेरा यह सपना।
विद्युल्लेखाकार पाश यह विश्रुत मेरा—
नाश करेगा अभी विषम विषधर-सा तेरा॥

सुन्द : (देखकर) अरे, क्या तू वरुण है? अच्छा, वरुण ही सही :—

पानी, पर्वत, पवन, हुताशन, कोई हो, सम्मुख आओ;
यम का यम मैं आ पहुँचा हूँ, जो कुछ हो, कर दिखलाओ।
प्रतिहिंसा, बस प्रतिहिंसा ही, किये हुए का फल पाओ;
आज कुशलता नहीं किसी की सावधान सब हो जाओ॥

वरुण : अरे, मैं तुझ पर क्या बल दिखलाऊँ? जिस वर के बल से तू गरज रहा है, क्या तू नहीं जानता कि वह भी देव-प्रसाद का ही फल है? इतना बल तो हम लोग सहज ही दान कर दिया करते हैं!

सुन्द : अरे वाचाल! भगवान् लोकेश को अकेला तू कैसे अपना कहता है? वे तो सभी के पितामह हैं और यदि ऐसा ही है तो वर मैंने अपने तप के प्रभाव से प्राप्त किया है अपने ही पुरुषार्थ के प्रताप से अभी संग्राम में तेरा नाम भी मिटाये देता हूँ।

वरुण : तो रण-योग्य भूमि पर चलता क्यों नहीं? परन्तु स्मरण रख कि सब के पितामह होकर भी प्रजापति देवता ही हैं। **(दोनों जाते हैं)**

[पवन, अग्नि और कार्तिकेय के साथ इन्द्र का प्रवेश]

इन्द्र : **(क्रोधपूर्वक)** अब तो नहीं सहा जाता :—

देव भूमि पर दैत्य-दस्यु हैं लूट मचाते,
करके भाराक्रान्त उसे पीड़ा पहुँचाते।
वर-गर्वित हो विकृतवृत्तियाँ हैं दिखलाते,
तुच्छ जानकर नहीं ध्यान में हमको लाते।
तो फिर क्यों उन पर वज्र का करूँ प्रयोग न मैं अभी,
गिरि-पक्ष-समान विपक्ष भी फिर न पनप पावें कभी॥

पवन : आप मुझे ही आज्ञा क्यों नहीं देते?

अचल भाव से खींच कर मैं ही श्वास-समीर!
कर दूँ रिपुओं के अभी जीवन-हीन शरीर॥

अग्नि : यह तो उन दुरात्माओं के लिए यथेष्ट दण्ड न होगा। आप मुझे आज्ञा दीजिए :—

प्रकट रूप रख कर मैं जाऊँ,
उनको जीता हुआ जलाऊँ!
भून-भून कर भस्म बनाऊँ,
देव-वीर्य्य सब को दिखलाऊँ॥

(नेपथ्य में) शान्त हूजिए, शान्त हूजिए।

कार्तिकेय : **(चौंककर, क्रोध से)** कौन शान्ति का उपदेश देता है :—

क्रान्तिकारियों की प्रथम मिट जाने दो भ्रान्ति!
भ्रान्ति-रहित फिर आप ही हो जावेगी शान्ति॥

इन्द्र : यही बात है :—

धिक् है रिपु रहते हुए बैठें जो हम शान्त!
करके उनका अन्त ही होंगे अब विश्रान्त॥

[कुबेर और वरुण का प्रवेश]

कुबेर और वरुण : देवराज, शान्त हों, शान्त हों।

शत्रुनाशन के लिए हम हैं अवश्य समर्थ,
पर वृथा इस रीति से होगा अतीव अनर्थ।

इन्द्र : हैं, यक्षराज! यह क्या कहते हो?

रोकते हो क्यों हमें रिपु-नाश से इस बार?
देखते क्या हो नहीं उनका यथेच्छाचार?

कुबेर : देवराज शान्त हों, शान्त हों।

हैं अमोघ बज्रादि अस्त्र विख्यात हमारे,
जा सकते यों नहीं वैरी भी मारे।
फल यह होगा—प्रलयकाल समुपस्थित होगा,
अहित भाव को छोड़ न इससे कुछ हित होगा॥

इन्द्र : हम नहीं समझे, स्पष्ट कहिए।

कीलक मन्त्र समान गूढ़ हैं वचन तुम्हारे,
विवश भुजंग-समान हुए हैं हाथ हमारे।
उधर भेक-सम नीच शत्रु हैं रोष दिलाते,
होकर भी हम सरल नहीं कुछ करने पाते॥

इसलिए कहिए, शत्रु क्यों नहीं मारे जा सकते?

कुबेर : आप शान्त हों। मैं सब सुनाता हूँ।

सब : हम सब शान्त हैं। आप कहिए।

कुबेर : शत्रु इसलिए नहीं मारे जा सकते कि उन्होंने वर ही ऐसा प्राप्त किया है जिससे उन्हें कोई नहीं मार सकता।

इन्द्र : यह आपने कैसे जाना?

कुबेर : युद्ध के समय बातों ही बातों में उपसुन्द के मुँह से रहस्य निकल पड़ा।

इन्द्र : यह मैं नहीं मानता। भगवान् लोकेश ऐसा वर किसी को नहीं दे सकते। वे दैत्यों को अमर क्यों बनाने लगे?

कुबेर : परन्तु उसके कहने से यह कब सिद्ध होता है कि वे अमर हैं?

इन्द्र : तो फिर किसके द्वारा उनका अन्त हो सकता है?

कुबेर : यह भी मालूम हो गया है।

इन्द्र : मालूम हो गया है? बड़ी बात हुई। शीघ्र कहिए।

कुबेर : मेरे साथ युद्ध करते समय जब वह बहुत क्षुब्ध हुआ तब मैंने कहा—रे दुष्ट, अब तेरी रक्षा नहीं, मैं अभी तुझको मारता हूँ।

इन्द्र : तब?

कुबेर : तब क्रोध के कारण वह अपने आपको भूल कर कह बैठा कि त्रैलोक्य में ऐसा और कौन है जो हम दोनों भाइयों का अनिष्ट कर सके? तेरी तो गणना ही क्या?

इन्द्र : यह हो सकता है कि विधाता ने उन्हें ऐसा वर दे दिया हो कि

तुम दोनों को तुम दोनों के सिवा और कोई न मार सकेगा।

कुवेर : यही बात है। इसी से युद्ध करना व्यर्थ समझकर आपको यह संवाद देने मैं वरुण जी के साथ चला आया हूँ।

वरुण : और यह भी मालूम हो गया है कि उन्होंने वर की बात गुप्त क्यों रखी थी।

इन्द्र : वह भी सुना दीजिए।

वरुण : हम लोगों पर विजय पाने के लिए ही उन्होंने अजेय वर प्राप्त किया है। परन्तु उन्होंने सोचा, कहीं ऐसा न हो कि हम लोग उन्हें अजेय समझ कर युद्ध से विमुख हो जायँ और उन्हें हम पर प्रहार करने का अवसर ही न मिले!

कार्तिकेय : आह! दानवी प्रकृति! प्रजापति के वर से पुष्ट होकर दुष्टों का ऐसा साहस! किन्तु इसमें उनका क्या बल है?

इन्द्र : जाने दो, इस समय तो इसी बात का विचार होना चाहिए कि अब हमें क्या करना उचित है।

कुबेर : किसी प्रकार इन दोनों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाय तो अनायास ही हमारा काम सिद्ध हो जाए।

वरुण : **(सदाशयता से)** किन्तु भाई-भाई में विरोध उत्पन्न करा देना तो देव-स्वभाव के प्रतिकूल है।

पवन : वरुण जी बड़े ही आर्द्र-हृदय हैं। पर इसके सिवा और उपाय ही क्या है?

अग्नि : और, दुष्टों के साथ दुष्टता करना भी तो राजनीति के प्रतिकूल नहीं।

कार्तिकेय : हम इसके लिए विवश भी तो हो रहे हैं। दुष्ट दैत्यों का जैसे नाश हो, अच्छा ही है। उनके अत्याचारों की बातें कौन नहीं जानता? एक भी धार्मिक कार्य नहीं होने पाता; यज्ञ विध्वंस हो जाने से हमें अपना भाग नहीं मिलता; ऋषियों और मुनियों को पीड़ा पहुँचाई जाती है, प्राणियों का विनाश करना तो उनका कुल-व्रत ही है। ऐसी दशा में धर्म के लिए, लोक-रक्षा के लिए, सदाचार की मर्यादा के लिए उनके साथ कुटिल नीति का प्रयोग करना क्या अनुचित है?

क्या यह अच्छा है कि पाप का किसी भाँति प्रतिकार न हो?
लोक-नाश हो, त्रास-वास हो, सुकृतों का संचार न हो?
स्वेच्छाचारी रहें दुष्ट-गण, हमको कोई द्वार न हो?
और शठों के साथ, विवश भी शठता का व्यवहार न हो?

वरुण : ठीक है, पर दैत्यों में विरोध कैसे उत्पन्न किया जा सकेगा?

मन के साथ विचार-सा है दोनों का मेल।
छिन्न-भिन्न करना उसे है क्या कोई खेल?

अग्नि : यह निस्सन्देह चिन्ता की बात है।

इन्द्र : कुछ भी चिन्ता की बात नहीं। चलो, हम लोग ब्रह्मा जी के पास चलें वे ही इसका उपाय बतावेंगे–

दिया जिन्होंने हम लोगों को यह संकट भरपूर–
बतला कर उपाय भी इसको वही करेंगे दूर।
रचते हैं जो महाप्रकम्पक शिशिर-सहित हेमन्त–
वही अन्त करते हैं उसका लाकर सरस बसन्त॥

सब : साधु! साधु! यह युक्ति निस्सन्देह बहुत अच्छी है।

कार्तिकेय : तो अब विलम्ब किसलिए? आप लोग ब्रह्मलोक को गमन कीजिए, तब तक मैं इधर का काम देखता हूँ।

इन्द्र : अब और कौन-सा काम है?

कार्तिकेय : सबको सान्त्वना देना, बिखरी हुई सेना को इकट्ठा करना और–

इन्द्र : और क्या?

कार्तिकेय : और युद्ध जारी रखना।

इन्द्र : अब युद्ध की क्या आवश्यकता है?

कार्तिकेय : क्षमा कीजिए, बड़ी आवश्यकता है :–

जब तक रहेगा बल हमारे एक अवयव में कहीं–
तब तक विपक्ष-विरुद्ध अपना युद्ध रुक सकता नहीं।
निश्चिन्त सुख भोगें यहाँ वे और हम यों दुख सहें,
यह हो नहीं सकता कि वे गरजा करें, हम चुप रहें!

सब : धन्य वीर! धन्य! यह कहना तुम्हारे ही योग्य है।

इन्द्र : तो अब हम तुम्हारी चिन्ता के साथ चलते हैं।

कार्तिकेय : आप निश्चिन्त होकर पधारें। चलिए, कुछ दूर मैं ही पहुँचा दूँ।

[सब जाते हैं]

चौथा अंक

[सुन्द, उपसुन्द और विकराल का प्रवेश]

सुन्द : विकराल, अब तो दैत्यकुल की अभिलाषा पूर्ण हुई?

विकराल : इसमें क्या सन्देह? ऐसे समर्थ स्वामियों के रहते हुए वह अपूर्ण कैसे रह सकती थी?

उपसुन्द : कार्य्य तो हो गया, किन्तु हमारी लालसा पूरी न हुई–

भीत होकर शत्रु भागे हैं सही–
दैत्य कुल के भाग्य जागे हैं सही।
किन्तु रण की लालसा ही रह गयी,
उमड़कर झट रक्त-धारा बह गयी!

सुन्द : मैं भी यही कहता हूँ–

युद्ध में हम पूर्ण विजयी हो चुके,
शत्रु-गण सर्वस्व अपना खो चुके।
हो सकी पूरी न फिर भी कामना,
तनिक तो वे भीरु करते सामना!

विकराल : पर शत्रु ऐसा क्यों करते?

हमको अपना काल शत्रुओं ने है लेखा,
तदपि हमारा पूर्ण समर-कौशल्य न देखा।
भा सकता है भला किन्तु वह कौतुक किसको–
जीवन-संकट पड़े देखने जाकर जिसको?

सुन्द : चलो हमारे लिए यह अच्छा ही हुआ–

हम देवलोक में पैठ गये,
इस इन्द्रासन पर बैठ गये।
वे छिपे गुहाओं में भय से,
हम हैं प्रसन्न ही इस जय से॥

उपसुन्द : परन्तु अभी हमें इतना और करना है कि जो भूतलवासी ऋषि और मुनि यज्ञादि करके शत्रुओं को हव्य दे देकर पुष्ट करते हैं उन्हें भी इस विद्रोहाचरण का दण्ड दे दिया जाय।

सुन्द : अवश्य–

वही बड़ा रिपु है जो रिपु को प्रश्रय देकर रहे सहाय,
जितना शीघ्र हो सके उसका करे सर्वथा दमनोपाय।
विष का वृक्ष काटकर उसको नष्ट समझ लेना है भूल–
जब तक फिर पनपाने वाला बना हुआ है उसका मूल॥

विकराल : कहावत है कि पीठ मारे, पर पेट न मारे। परन्तु शत्रुओं के लिए यही अच्छा है कि पीठ भी मारे और पेट भी। अतएव यह दण्ड विधान उनके लिए उचित ही है।

उपसुन्द : शत्रुओं को तड़फाने से बढ़कर और कौन-सा आनन्द हो सकता है–

छटपटा कर वे सभी भूखों मरें—
और हम आनन्द से शासन करें।
दैत्यकुल की साध पूरेगी तभी,
बन सकेंगे वे न विद्रोही कभी॥

सुन्द : परन्तु इस तुच्छ कार्य्य के लिए हमें कष्ट करना उचित नहीं। किसी योग्य सैनिक की अध्यक्षता में दानवों का एक दल भेज देना बहुत होगा।

विकराल : आप क्यों कष्ट करेंगे? हम लोग किसलिए हैं? चाहे जिसे आज्ञा दीजिए।

सुन्द : तो तू ही बता, इस कार्य्य के लिए कौन नियुक्त किया जाये?

विकराल : मेरी राय में तो हममें से कोई भी इस कार्य्य को कर सकता है। किन्तु जब आज्ञा मिली है तब मुझे कुछ कहना ही चाहिए। भयंकर नाम का एक सैनिक है। वह बड़ा ही राजभक्त और उत्साही योद्धा है। वह अनायास ही यह काम कर सकता है।

उपसुन्द : तूने बड़े ही उपयुक्त व्यक्ति का नाम बतलाया। निस्सन्देह भयंकर इस काम को बड़ी अच्छी तरह से कर सकेगा। मैं स्वयं युद्ध में उसकी वीरता देख चुका हूँ। यद्यपि उसकी गणना अभी साधारण सैनिकों में है, किन्तु मुझे विश्वास हो गया है कि वह बड़े-से-बड़े काम का भार भी सँभाल सकता है। मैं आप ही उसका आदर करना चाहता था।

सुन्द : ऐसा है तो अवश्य उसका उत्साह बढ़ाना चाहिए, क्योंकि—
किया न जावे योग्य जनों का अभिनन्दन अथवा सम्मान—
तो उत्साह मन्द पड़ता है, बिना तैल के दीप-समान।
अभिनन्दन से बढ़ जाता है सबका ही उत्साह तुरन्त—
तृण उशीर भी नीर-सिक्त हो देता है सुगन्धि अत्यन्त॥

उपसुन्द : तो अभी उसे बुलवाता हूँ। विकराल, तू स्वयं जाकर उसे ले आ।

विकराल : जो आज्ञा। **(जाता है)**

सुन्द : इस काम से निबट कर मेरी इच्छा होती है कि इन्द्र की इसी सभा में बैठकर एक बार अप्सराओं का नाच देखूँ और गाना सुनूँ।

उपसुन्द : अब इसके सिवा और करना ही क्या है?
सभी मानते हैं सदा परम्परागत पर्व।
निज विजयोत्सव का हमीं कर सकते हैं गर्व॥

[विकराल के साथ भयंकर का प्रवेश]

भयंकर : (विकराल से) यह सब आपके ही अनुग्रह का फल है कि मुझ

जैसे तुच्छ सेवक पर भी स्वामियों की दृष्टि हुई।

विकराल : इसमें मेरा क्या, तुम्हारे गुणों ने ही स्वामियों का ध्यान आकर्षित किया है। देखो, वे तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भयंकर : (आगे बढ़कर) स्वामियों की जय हो। यह तुच्छ सेवक सेवा में उपस्थित है।

सुन्द : भयंकर, तेरे गुणों से हम बहुत सन्तुष्ट हैं। आज से हमने तुझे अपने सहचरों में शामिल किया।

भयंकर : मैं किस योग्य हूँ, यह केवल स्वामियों की कृपा है। इससे अधिक सौभाग्य मेरे लिए क्या हो सकता है? आज मैं कृतार्थ हो गया।

उपसुन्द : तू इसी योग्य है। तेरी वीरता पर प्रसन्न होकर मैं अपने हाथ से तुझे यह खंग देता हूँ। (देता है)

भयंकर : *मिला आज जो है मुझे, यह गौरव का दान।*
रक्खूँगा मैं सर्वदा, इसका पूरा मान॥

सुन्द : हमें इसका विश्वास है। इसी कारण आज तुझे एक विशेष कार्य्य सौंपा जाता है।

भयंकर : मैं तुच्छ किस योग्य हूँ? परन्तु स्वामियों के प्रताप से—

जो आज्ञा हो वही करूँगा,
महामृत्यु से भी न डरूँगा।
यम से भी सोत्साह लड़ूँगा,
पावक में भी कूद पड़ूँगा॥

सुन्द : यह कुछ न करना होगा। इस समय तो :—

हव्य-दान करके बहुविध जो भूतलवासी दुष्ट—
अपने वैरि-वृन्द को अब भी करते हैं परिपुष्ट।
उन राजद्रोही जीवों को देकर समुचित दण्ड,
फैलाना है पूर्ण रूप से अपना तेज प्रचण्ड॥

इसलिए तू दानवों का एक दल लेकर इसी एक अवशिष्ट कार्य्य को और कर डाल।

भयंकर : जो आज्ञा :—

सिंहों को मृग-वध-सदृश है यह तो सुख-भोग।
खेल और आजीविका दोनों का संयोग।

(जाता है)

(एक दैत्य का प्रवेश)

दैत्य : स्वामियों की जय हो। गुरु महाराज आ रहे हैं।

सुन्द : क्या गुरु महाराज आ रहे हैं? अच्छा। (सब खड़े होते हैं)

(शुक्राचार्य्य का प्रवेश)

(सब प्रणाम करते हैं)

शुक्राचार्य्य : *पाया है तुमने स्वयं विश्व-विजय-सुख-भोग।*
दें आशीष विशेष क्या, रहो, नित्य नीरोग॥

सुन्द : हम कृतार्थ हुए। यह सब आपके ही अनुग्रह का फल है :–
शिष्यों में जो विद्या-बल है
वह गुरुचरणों का ही फल है।
कैसे वे कृतित्व दिखलावें
गुरुजन जो न उन्हें सिखलावें?

शुक्राचार्य्य : तुम जैसे योग्य शिष्यों को पाकर आज हमारा असुर-गुरु होना सफल हुआ।
अब सुर-गुरु के सम्मुख हमको रहा न कुछ संकोच,
मृतक-तुल्य ही थे हम अब तक करके जिसका सोच।
रहना होगा हमें न अब से अवनत मस्तक और;
है सजीवता का लक्षण बस स्वाभिमान सब ठौर॥

सुन्द : यह भी आपकी ही कृपा का फल है :–
पाते हैं सहकार ज्यों वर वसन्त से बौर!
मिला हमें त्यों आपसे स्वाभिमान सिरमौर॥

शुक्राचार्य्य : किन्तु, एक बात का ध्यान रखना।

सब : आज्ञा कीजिए, आज्ञा कीजिए।

शुक्राचार्य्य : *शासन-समता पर सदा रखना समुचित दृष्टि।*
तप का विषमोत्ताप ही लाता है धन-वृष्टि॥

सुन्द : इस विषय में हम सर्वथा सावधान रहेंगे।

शुक्राचार्य्य : एक बात और है।

सुन्द : आज्ञा।

शुक्राचार्य्य : *शत्रुजनों की ओर रहे दृष्टि अविचल सदा!*
हैं जो दिन के चोर आँख बचाते हैं तनिक॥

सुन्द : हमारी आँखें सर्वदा उन्हीं की ओर रहेंगी।

शुक्राचार्य्य : ऐसा ही चाहिए। अच्छा अब हम चलते हैं। इस समय तुम्हें भी विश्राम करना उचित है।

सब : जो आज्ञा। प्रणाम।

[शुक्राचार्य्य जाते हैं]

उपसुन्द : गुरु महाराज चले गये! वृद्धों का स्वभाव कुछ ऐसा हो जाता है

कि वे एक बात को सौ-सौ बार कहा करते हैं। निन्नानबे बार तो उन्होंने हमें यह उपदेश दिया होगा!

सुन्द : तो एक बार और सही।

उपसुन्द : परन्तु :–

है धीरज का काम बड़ों की बातें सुनना,
पढ़े-गुने को बार-बार क्या पढ़ना-गुनना?

सुन्द : तो भी :–

हाँ, हाँ करते हुए हमारा क्या जाता है–
जो उनका मन इसी बात में सुख पाता है?

उपसुन्द : सो तो किया ही गया है।

विकराल : **(स्वगत)** कुशल हो, स्वामियों के मन में आज यह कैसे परिवर्तन दिखाई देता है।

(प्रकट) किन्तु गुरु महाराज ने हमारी हित-कामना से ही ऐसा कहा है।

उपसुन्द : इसी से तो सुन लिया। पर तू ही बता, क्या हम इतना भी नहीं जानते?

सुन्द : जाने दो इन बातों को। वह देखो, भयंकर आ रहा है।

(भयंकर का प्रवेश)

भयंकर : स्वामियों की जय हो।

उपसुन्द : अरे, तू बहुत शीघ्र आ गया। तुझे जो कार्य्य सौंपा गया था उसे कर आया।

भयंकर : स्वामियों का प्रताप ही ऐसा। उसके आगे वह कार्य्य कठिन ही कितना था जो विलम्ब होता?

विकराल : सच है।

सुन्द : भला कुछ सुना तो सही, कैसे और क्या किया?

भयंकर : जाते ही, सबसे पहले–

देव सम्बन्धी मखादिक कार्य्य नष्ट किये सभी,

सुन्द : और?

भयंकर : हाड़ तक ऋषि-मुनि-जनों के अब न दीखेंगे कभी।

सुन्द : उन्होंने कुछ न किया?

भयंकर : मनुज हाहाकार के अतिरिक्त क्या करते भला?

उपसुन्द : धिक्कार है इस अपौरुष को।

भयंकर : प्राण उनके बच रहें सर्वस्व भी जावे चला!

विकराल : पर ऐसों के प्राण भी नहीं बच सकते।

भयंकर : जो वचे भी होंगे उनकी खोज हो रही है। सुना है ऋषियों और मुनियों ने भागकर देवताओं की शरण ली है।

सुन्द : पहले देवता ही तो अपनी खैर मना लें।

उपसुन्द : देवालय गिरवा दो और देवमूर्तियाँ तुड़वा दो।

भयंकर : यह तो हो ही रहा है। मैं एक विशेष कार्य्य से इस समय सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

सुन्द : वह कौन-सा कार्य्य है?

भयंकर : हिमालय पर्वत पर ऋषियों और मुनियों के वहुत से आश्रम हैं। हैं क्या थे कहना चाहिए।

सुन्द : अच्छा फिर?

भयंकर : वहाँ गुफाओं में उनकी खोज हो रही थी कि अचानक एक गुफा में छिपी हुई दो अप्सरायें मिल गयीं।

दोनों : **(आतुरता से)** तब? तब?

भयंकर : तब मैंने उन्हें पकड़ लिया।

सुन्द : वे कहाँ हैं?

भयंकर : मैं उन्हीं को सेवा में उपस्थित करने के लिए आया हूँ। आज्ञा हो तो सामने लाऊँ।

सुन्द : तूने बड़ा अच्छा काम किया। आज तो हम अप्सराओं की खोज में ही थे, सो वे अनायास ही मिल गयीं।

भयंकर : स्वामियों का प्रताप ही ऐसा है :—

होते हैं तेजस्विजनों के कार्य सफल यों अपने आप—
दिनकर के प्रताप से पानी खिंच जाता है बन कर भाप॥

विकराल : इसमें क्या सन्देह :—

रहती है जय-सिद्धि तथा श्री स्वयं शूरवीरों के साथ।
लगते हैं मृगया में भी तो मजमुक्ता सिंहों के हाथ॥

उपसुन्द : हुआ, अब अप्सराओं को बुलाना चाहिए।

सुन्द : भयंकर, तू उन्हें शीघ्र ले आ।

भयंकर : जो आज्ञा। **(जाकर और उर्वशी तथा रम्भा के साथ आकर)** इधर, उधर, दानवेन्द्रों की सेवा में उपस्थित हो।

उर्वशी : **(रम्भा से)** सखी, क्या भाग्य में यह देखना भी लिखा था? हाय! देवेन्द्र के सिंहासन पर दैत्यों का अधिकार! आज इस सभा में आने के पहले ही मेरा हृदय क्यों न फट गया।

रम्भा : सखी, धीरज धर। जो भाग्य में है देखना ही पड़ेगा। मेरी दशा

भी तेरी ही जैसी है। पर क्या किया जाये?

सुन्द : **(देखकर)** अहो! सुरलोक की रमणियों की सुन्दरता :–

उदासीनता और भीति भी मुख पर छाई,
छिपती नहीं परन्तु सहज शोभा सुघराई।

उपसुन्द : मधुप छिपाये हुए और होकर भी मलिनी–

सन्ध्या में भी किसे मोहती नहीं कमलिनी?

विकराल : **(स्वगत)** अहो! इन्हें देखकर तो स्वामियों की दूसरी ही दशा हो गयी। मुझे तो आश्चर्य होता है कि तप के समय इन्होंने कैसे धीरज धरा होगा। अथवा वह समय ही और था और यह अवस्था ही और है!

उर्वशी : **(रम्भा से)** हाय! क्या दुष्टों की जय भी मनानी होगी?

रम्भा : सखी, तू ठहर। मैं सब किये लेती हूँ।

उर्वशी : जो तू उचित समझे, कर।

रम्भा : **(दोनों के प्रति)**

विदित नहीं है आपके हमको शिष्टाचार।
क्षमा कीजिए विनय का हुआ न कुछ व्यवहार॥

विकराल : मैं अभी बताये देता हूँ।

सुन्द : रहने दो, तुम्हारे ऐसा कहने से ही हमारा आदर हो गया। पर यह तो बताओ!, तुम उदास क्यों हो? तुम्हें जिस तरह इन्द्र रखता था हम भी उसी तरह रक्खेंगे।

उपसुन्द : बल्कि उससे भी अच्छी तरह।

विकराल : सुन्दरियो, सुना? हमारे महाराज तुम पर कितना प्रसन्न हैं? तुम्हें और क्या चाहिए? और इन्द्र के पास अब है ही क्या? तुम्हें तो जिसका खाना उसका गाना।

उर्वशी : **(स्वगत)** हा दुष्ट!

रम्भा : ठीक है, पर परन्तु दूसरी अवस्था में आने पर पहले पहल ऐसा होता ही है।

सुन्द : अच्छा, चिन्ता दूर करके कुछ सुनाओ।

नयन तुम्हारा कर चुके रम्य-रूप-रस-पान।
पर अब आतुर हो रहे कुछ सुनने को कान॥

उर्वशी : **(स्वगत)** हाय! रोने के समय गाना! हे विधाता!

रम्भा : जो आज्ञा। **(गान)**

अरे मन! मान न य्रों हठ ठान।
जो तेरा है कब तक तुझ पर सकता है मान?

जो कुछ है तेरी अभिलाषा
उसे नहीं कह सकती भाषा।
पर हाँ, पूरी होगी आशा
यह तू निश्चय जान॥ अरे मन!
नये नये परिचय पावेगा
जो अभीष्ट है मिल जावेगा।
समय आप सब कुछ लावेगा।
विधि का यही विधान॥ अरे मन!
यों तो बाधा नहीं झिलेगी,
धीरज रख, सुख-शान्ति मिलेगी।
बनी रही तो कली खिलेगी
गूँज उठेगा गान॥ अरे मन!
वही पूर्व का वास जहाँ है
चिन्ता का क्या काम वहाँ है?
युक्ति बिना वह मुक्ति कहाँ है?
अपने को पहचान॥ अरे मन!

विकराल : यह गाना नहीं, दुःखित मन की सान्त्वना है।

रम्भा : कुछ दिनों में जब मन को शान्ति मिलेगी तब हम गाना भी गायँगी।

सुन्द : नहीं, नहीं, तुमने बहुत अच्छा गाया और मन को भी अच्छे ढंग से समझाया। हम—**(नेपथ्य में)**
मारे गये! मारे गये!

सुन्द : अरे कौन है?

(एक दैत्य का प्रवेश)

दैत्य : स्वामियों की जय हो। समाचार अच्छा नहीं।

उपसुन्द : कहता क्यों नहीं, क्या है?

दैत्य : जो दानव यज्ञादि नष्ट करने के लिए भेजे गये थे, सब मारे गये।

सुन्द : ऐं, क्या कहा? किसने हमसे शत्रुता करके अपना काल आप ही बुलाया है।

दैत्य : देवताओं का ही यह काम है। सुना है, देव सेनापति के साथ वे यहाँ आकर भी उत्पात करना चाहते हैं।

अप्सराएँ : **(स्वगत)** शीघ्र आवें।

उपसुन्द : **(खड़े होकर)** अरे, निर्लज्जों की रण-लालसा क्या अब तक बनी हुई है?

(नेपथ्य में कोलाहल)

सुन्द : यह क्या है? तीक्ष्णदन्त! देख, क्या है?

तीक्ष्णदन्त : जो आज्ञा। (बाहर जाकर और आकर)
शत्रु आ पहुँचे हैं।

उपसुन्द : अच्छा कायरो!

तुम हुए हारकर जो न शान्त
तो अब मरकर हो शीघ्र शान्त।
है मेरा यही प्रधान काम—
मिट जाये आज से शत्रु-नाम॥

सुन्द : *ताडित होकर भी जो फिर फिर—*
कन्दुक-सदृश उठाते हैं सिर।
उन्हें डुबाना होगा जल में,
पल में बैठ जायँगे तल में॥

उपसुन्द : यही किया जायगा। विकराल, तुम इन दोनों अप्सराओं को यत्न से रक्खो। कुछ समय के लिए हमें इनके मधुर गान से वंचित रहना पड़ेगा।

विकराल : जो आज्ञा।

[सब जाते हैं]

पाँचवें अंक का विष्कम्भक

[रति के साथ इन्द्राणी का प्रवेश]

इन्द्राणी : (गीत)

मेरा वह नयनाभिराम वर वैजयन्त-सा धाम कहाँ,
कल्पलताकुंजों से शोभित दिव्य नन्दनाराम जहाँ।
हाय विधाता! दैत्य दस्यु अब करते हैं विश्राम वहाँ,
और रुदन भी कठिन हुआ है हमको आठों याम यहाँ!

रति : महारानी, आप इतना सोच क्यों करती हैं ये दिन सदा न रहेंगे—
पड़ता है सब पर समय पर अस्थिर है ज्ञात।
आते जाते हैं सदा सन्ध्या और प्रभात॥

इन्द्राणी : सखी क्या कहूँ :—
सत्वर ही वह सब विभव हुआ स्वप्न-सहाय।
इन्द्राणी होकर हुई मैं ऐसी असहाय?

रति : आपका वह विभव कहाँ जा सकता है–

चारु चन्द्रिका की छटा सघन घटा से रोक।

किन्तु अन्त में फिर वही अमृत भरा आलोक॥

इन्द्राणी : न जाने वह शुभ घड़ी कब आवेगी। (नेपथ्य में) अब विलम्ब नहीं है।

दोनों : (चौंककर) ऐसा ही हो।

(मेनका का प्रवेश)

इन्द्राणी : (देखकर) क्या मेनका है? आ सखी, तू अच्छे समय पर आयी।

मेनका : (आगे बढ़कर) महारानी की जय हो। रति देवी की जय हो।

इन्द्राणी : रहने दे, यह उपचार तो बहुत हुआ :–

जो कहती थी कह वही पाऊँ जिससे त्राण।

कानों में हैं आ गये उत्सुक होकर प्राण॥

मेनका : बस अब कार्य्य-सिद्धि होना ही चाहती है।

इन्द्राणी : तेरी बात सच निकले। कह क्या समाचार हैं?

मेनका : महारानी यह तो सुन ही चुकी हैं कि देवताओं के साथ महाराज ब्रह्मलोक को गये हैं।

रति : हाँ, और यह भी सुना है कि देव सेनापति ने बहुत से दानवों को मारकर शत्रुओं में हलचल मचा दी है।

इन्द्राणी : पर पहले तू ब्रह्मलोक की ही बात सुना।

मेनका : जो आज्ञा। वहाँ पहुँचकर सबने प्रजापति को प्रणाम करके प्रार्थना की और भगवान् सुरगुरु ने अपनी ओजस्विनी भाषा में दैत्यों के अनाचार का वर्णन किया।

इन्द्राणी : फिर?

मेनका : फिर देवराज ने उनसे कहा कि आपने दानवों को ऐसा वर प्रदान किया है कि वे अपने अतिरिक्त और किसी के हाथ से मर ही नहीं सकते! अब कृपा करके आप ही कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे यह कण्टक दूर हो। नहीं तो लोकों की रक्षा नहीं।

इन्द्राणी : तब भगवान् लोकेश ने क्या कहा?

मेनका : देवताओं की ऐसी दुरवस्था देखकर उन्होंने सबको धीरज दिया और उनके मंगल की कामना से प्रेरित होकर कहा कि दैत्य अपने तप का फल पा चुके। अब अपने अनाचारों का फल भी पावेंगे। हम अभी इसका उपाय करते हैं।

दोनों : उनकी जय हो।

इन्द्राणी : उन्होंने क्या उपाय किया?

मेनका : विश्वकर्मा को बुलाकर उन्होंने आज्ञा दी कि शीघ्र ही एक विलक्षण सुन्दरी मूर्ति बनाओ।

इन्द्राणी : भला फिर?

मेनका : फिर विश्वकर्मा ने अपने अद्‌भुत कौशल से, सारे सुन्दर पदार्थों का तिल-तिल भर सौन्दर्य्य-सार संग्रह करके एक अपूर्व सुन्दरी मूर्ति निर्मित की।

इन्द्राणी : तब?

मेनका : तब भगवान् लोकेश ने उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करके स्वयं ही उसका नामकरण किया।

इन्द्राणी : क्या नाम रक्खा?

मेनका : तिलोत्तमा। उस समय :–

देख अलौकिक उसकी सुषमा
जँची नहीं कोई भी उपमा।

और दूसरों की तो बात ही क्या :–

सहस्राक्ष बन कर सुर नायक–
देखा किये रूप सुखदायक!

(आश्चर्य से)

दोनों : हाँ ऐसा हुआ!

रति : देवकुल के कल्याण के लिए जो हो अच्छा ही है।

इन्द्राणी : फिर?

मेनका : फिर भगवान् लोकेश ने तिलोत्तमा को कौशल से शत्रुओं का नाश करने की आज्ञा दी और वह अभी-अभी विन्ध्याचल की ओर गई है। क्योंकि दैत्य अपने सहचरों के साथ वहीं विचरण कर रहे हैं।

इन्द्राणी : देखूँ अब क्या होता है?

रति : देवि! आप यह क्या कहतीं?

देखे समुचित यत्न सफल होते सभी,
विधि का किया उपाय व्यर्थ होगा, कभी?
आ पड़ने पर किन्तु अचानक आपदा–
अस्थिर मन सन्देह किया करता सदा॥

इन्द्राणी : सचमुच मुझसे भूल हुई। क्या करूँ, मन को बहुत समझाती हूँ पर वह आशंका नहीं छोड़ता। भगवान् लोकेश मुझे क्षमा करें। जो सबका विधान करते हैं उनका विशेष विधान कभी व्यर्थ नहीं

हो सकता। तो आओ, हम कुछ फूल चुनकर उनकी पूजा करके देवकुल के कल्याण की प्रार्थना करें।

[सब जाती हैं]

पाँचवाँ अंक

[तिलोत्तमा का प्रवेश]

तिलोत्तमा : (आप ही आप) मैं पहुँची तो ठीक समय पर। इधर वसन्त का विकास भी हो गया। विन्ध्याचल ने भी नया रूप-रंग धारण किया है। अहा! कैसा अपूर्व सृष्टि-सौन्दर्य है :–

(गान)

खिलती हुई कुसुमावली को चपल अलि-दल चूमता,
शीतल सुगन्ध समीर भी है धीर गति से घूमता।
मद-तुल्य झरनों के अमल जल में कमलकुल हँस रहा,
वर विन्ध्य गिरि भी आज मानो मत्त गज-सा झूमता॥

सब बातें अनुकूल हैं। बस, अब उन दोनों दानवों के इधर आने का ही विलम्ब है। आज मैं दिखला दूँगी कि :–

सब यत्न विफल हो गये जहाँ–
मैं हुई पूर्ण कृतकार्य्य वहाँ।
देखें अबला-बल आज सभी,
उसको कुछ दुष्कर नहीं कभी॥

[सुन्द और उपसुन्द का प्रवेश]

तिलोत्तमा : (देखकर) अहो! यही हैं वे दोनों दानव!

भरे हुए मदरूपी जल से,
घूम रहे हैं दो बादल से।

अब,

दोनों ओर मुझे सव्रीड़ा
करनी है चपला-सी क्रीड़ा॥

उपसुन्द : चाहिए तो कि शत्रु अब सदा के लिए चुप होकर बैठ रहें। जब वे हमारा कुछ कर ही नहीं सकते तब क्यों बार-बार अपना अपमान कराते हैं?

सुन्द : परन्तु मुझे तो विश्वास नहीं होता कि शत्रु चुप हो बैठेंगे। वे अवश्य ही हमारे विरुद्ध कोई न कोई षड्यन्त्र रचते ही रहेंगे। देवता कभी

निरुद्योगी नहीं रह सकते।

खोकर निज सर्वस्व कौन निश्चिन्त रहेगा?
निज विपक्ष कृत कौन मौन अपमान सहेगा?
पूर्व स्थिति का सोच बैठने देगा किसको?
अपने से ही हमें समझना होगा इसको॥

उपसुन्द : हो सकता है। परन्तु इससे होगा क्या?

सुन्द : कुछ तो होगा ही। यह दूसरी बात है कि हम उसे कुछ न समझें परन्तु—

रिपु चाहे जैसा तुच्छ रहे,
पर उसको कौन उपेक्ष्य कहे?
आ जाय मशक भी एक कहीं—
तो रहती सुख की नींद नहीं॥

उपसुन्द : जब जो होगा देख लेंगे। अभी से आगे के लिए चिन्ता करके मस्तक को विकृत बनाने से क्या लाभ?

सुन्द : मस्तक तो यों ही विकृत हो रहा है। सचमुच आज की मदिरा बड़ी ही मधुर थी। मादकता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है—

घूम रहा है चक्र-सा सिर किंवा संसार।
चकराती है चेतना भार हुआ तनु-भार!

उपसुन्द : यह हाल तो मेरा भी है। इसलिए आओ जरा इस ओर घूमकर मन को हरा करें। **(दोनों घूमते हैं)**

उपसुन्द : यह देखो—

हम दोनों के तप का साक्षी है वह गिरिवर विन्ध्य यही,
सम्प्रति उपवन में परिणत है इसकी यह वनराजि वही।

सुन्द : देखता हूँ—

पुष्पाभरणा प्रकृति सुन्दरी आज हरा पट पहन रही,
दूर्वांकुर धारण कर मानो रोमांचित हो रही मही॥

तिलोत्तमा : **(आप ही आप)** मेरे लिए यह और भी सुन्दर सुयोग है कि इस समय ये दोनों मदोन्मत्त हो रहे हैं। सुरा और सुन्दरी दो ही तो प्राणियों को पागल बनाने की शक्ति रखती हैं तो किस कौशल से कार्य्य साधन करूँ।

(सोचकर) चलूँ, इस पासवाले लता-कुंज में बैठकर फूलों की एक माला गूँथते-गूँथते इस विषय में विचार करूँ। फिर जो उचित समझूँगी करूँगी। **(वैसा ही करती है)**

उपसुन्द : स्वप्न की तरह मुझे कुछ-कुछ याद पड़ता है कि यह वही स्थान

है जहाँ हमारी तपस्या के समय अप्सराओं ने अनेक लीलायें की थीं।

सुन्द : यद्यपि इस समय मेरी चेतना शक्ति मूर्च्छित-सी हो रही है, तो भी वह दृश्य मानो आँखों के सामने घूम रहा है।

उपसुन्द : परन्तु आज तो यहाँ कोई अप्सरा नहीं दीखती।

तिलोत्तमा : **(आप ही आप)** मैं जो बैठी हूँ। **(स्वर भरती है)**

उपसुन्द : **(चौंककर)** यह क्या है?

सुन्द : अरे, ठहर, सुनने दे।

तिलोत्तमा : **(गान)**

आओ, हे जीवन-धन! आओ;
प्रकट भाव से आगे आकर अपना रूप दिखाओ।
छिप न सकोगे यहीं कहीं हो, अब न आपको और छिपाओ,
किसकी यह आगमन सूचना होती है मुझको समझाओ।
किसके गीत गा रहे हैं ये विविध विहंग, ध्यान में लाओ।
किसके कलित गुणों की तूती बोल रही है तुम्हीं बताओ।
श्वास-सुगन्धित तुम्हारी ही यह फैल रही है भूल न जाओ,
खड़ी प्रकृति पुष्पांजलि लेकर अब तो अपनों को अपनाओ॥

दोनों : **(स्तब्ध होकर)**

मरी किन्नरी, कोकिला, वंशी, वीणा-तान।
सुन पड़ता है आज यह किसका नूतन गान?

तिलोत्तमा : **(स्वगत)** तुम्हारी मधुर मृत्यु बोल रही है।

दोनों : **(आगे बढ़कर और तिलोत्तमा को देखकर)** अहो! यह कौन है!

सुन्द : *रूप के समुद्र की रमा-सी यह कौन यहाँ,*

उपसुन्द : *सारी सुघराई का इसी में एक वास है।*

सुन्द : *कोमलता कुंज की है, कान्ति है कलाधर की,*

उपसुन्द : *स्वर्ण की सुवर्णता, लताओं का विलास है।*

सुन्द : *गति में मरालता है, भौंहों में करालता है;*

उपसुन्द : *अलकों में अरालता, कपोलों में विभास है।*

सुन्द : *अंगों में उमंग अहा! आँखों से अनंग-रंग,*

उपसुन्द : *मुख में सु-हास और श्वास में सु-वास है।*

सुन्द : **(पास जाकर)** हे सुन्दरी तुम कौन हो?

उपसुन्द : और यहाँ किसलिए बैठी हो?

सुन्द : *तनु तुम्हारा है मनोहर हेम-कोट,*

उपसुन्द : *अतनु मन्मथ को मिली है आज ओट।*

सुन्द : *अब जिधर चाहे करे वह वीर चोट,*

उपसुन्द : *हो गया मैं तो स्वयं ही लोट पोट!*

तिलोत्तमा : हे वीरो! तुम अच्छे आये! मैं कौन हूँ, इस प्रश्न को अभी रहने दो। सम्प्रति मैं बड़े संकट में पड़ी हूँ।

सुन्द : मैं तुम्हारा सब कष्ट दूर कर दूँगा।

उपसुन्द : मुझसे कहो, तुम पर कैसा संकट आ पड़ा है?

तिलोत्तमा : अन्यायी शत्रुओं ने मेरे स्वजनों को अपने अधिकार से वंचित कर दिया है।

सुन्द : मैं तुम्हारे सब शत्रुओं को मार डालूँगा।

उपसुन्द : मैं तुम्हारे स्वजनों को जितना अधिकार वे चाहें दूँगा। तुम अपनी बात पूरी करो।

तिलोत्तमा : अपने आत्मीयों की दुर्दशा देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि संसार में शक्ति ही सब कुछ है। मैं अबला ठहरी। इसलिए मैंने प्रतिज्ञा की है कि जो सबसे अधिक शक्तिशाली पुरुष होगा उसी को यह वर-माला पहनाकर मैं अपना पति बनाऊँगी।

[माला दिखाती है]

सुन्द : तो मुझसे अधिक शक्तिशाली और कौन हो सकता है? मैं सुन्द हूँ। मैंने युद्ध में इन्द्र को भी पराजित किया है!

उपसुन्द : हे सुन्दरी! तुम बिना कुछ विचार किये ही यह माला मुझको पहना दो। मेरा नाम उपसुन्द है। इन्द्र की तो बात ही क्या, उपेन्द्र को भी मैं कुछ नहीं समझता।

तिलोत्तमा : हे वीरो! तुम दोनों ही प्रसिद्ध बली हो। मैं कैसे समझूँ कि तुम दोनों में से किसमें विशेषता है।

सुन्द : **(हाथ पकड़कर)** मैं ज्येष्ठ हूँ अतएव तुम मेरी हो।

उपसुन्द : **(दूसरा हाथ पकड़कर)** ज्येष्ठ होने से ही कोई श्रेष्ठ नहीं हो सकता। अवस्था में बड़ा होना तो दैवाधीन है, गुणों में बड़ा होना ही सच्चा बड़प्पन है। इस विचार से तुम मेरी हो।

[दोनों अपनी-अपनी ओर खींचते हैं]

तिलोत्तमा : तुम दोनों का ही कहना ठीक हो सकता है, पर मेरा प्रण है कि मैं अद्वितीय शक्तिशाली पुरुष को ही वरण करूँगी। तुम दोनों मुझे अपनी-अपनी ओर खींचकर क्यों कष्ट दे रहे हो? क्या यही तुम्हारी शक्तिशालीनता का परिचय है!

सुन्द : **(क्रोध से)** अरे उपसुन्द! यह तू क्या कर रहा है। यह तेरी भाभी है।

उपसुन्द : यह मेरी भाभी है या तुम्हारी बहू? हाथ छोड़ दो।

सुन्द : **(गरजकर)** अरे कुलांगार! तेरा इतना साहस! जो तेरे लिए माता

के समान पूज्य है उस मेरी पत्नी का तू मेरे ही सामने हरण करना चाहता है।

उपसुन्द : **(उसी प्रकार)** रे दुष्ट! मेरा ही अपकार करके तू उलटा मुझी को दोष देता है? अच्छा!

(तिलोत्तमा से) हे सुन्दरी! तुम क्षण भर अपेक्षा करके स्वयं देख लो कि तुम्हारी इस वर माला का कौन अधिकारी है।

(युद्ध)

तिलोत्तमा : **(स्वगत)** अहो! अब इन दोनों का विरोध बढ़ गया। **(प्रकट)** हे वीरो! तुम दोनों की खींचातानी में पड़कर मेरे अंग पीड़ित हो रहे हैं। इसलिए मैं यहाँ खड़ी न रह सकूँगी। पास वाले इस लता-मण्डप में बैठकर तुम्हारी वीरता देखती हूँ। **(वैसा ही करती है)**

[घबराये हुए विकराल और भयंकर का प्रवेश]

विकराल : निस्सन्देह यह सिंहनाद होकर भी हमारे स्वामियों का परस्पर गर्जन तर्जन है। दैव कुशल करे। आज उन्होंने बहुत मद्यपान किया है।

भयंकर : **(देखकर)** हाय! हाय जिसकी आशंका थी वही हुआ।

विकराल : **(आगे बढ़कर)** हे दानवेन्द्र! यह क्या? यह क्या? शान्त हूजिए। शान्त हूजिए।

सुन्द : विकराल! इस समय तू कुछ न बोल। मैं इस कुलांगार को कभी क्षमा न करूँगा।

उपसुन्द : भयंकर! तू देख, मैं इस अनाचारी का वध करके अभी शान्त होता हूँ।

(परस्पर प्रहार और पतन)

भयंकर : हाय! हाय!

अन्धकारमय हो गया यह संसार समस्त।
सूर्य्य-चन्द्र दोनों अहो! हुए हमारे अस्त॥

विकराल : हे दानवेन्द्र? हे शत्रुओं को रुलाने वाले! हे विश्वविजयी! हे स्वामी! उत्तर दो, यह क्या है?

जो जीतकर वैरी सभी–
इन्द्रासनस्थित थे अभी।
वे तुम अभी शोणित-सने
क्यों धूलिशायी हो बने?

सुन्द : विकराल! भयंकर! अब आक्षेप व्यर्थ है। जो होना था सो हो गया! हम दोनों भाइयों के पुत्रों को लेकर कुछ कर सको तो करना, हमसे तो कुछ भी न हो सका! उनकी रक्षा का भार तुम पर है।

दोनों : हे नाथ! हमारी रक्षा का भार किसे सौंपते हो?
उपसुन्द : हाय! मन्दोन्मत्त होकर हम शत्रुओं से छले गये। **(मृत्यु)**
दोनों : हाय! हाय! हे स्वामी, कहाँ जाते हो?
सुन्द : वत्स उपसुन्द! तनिक ठहरो, हम भी चलते हैं। विकराल! भयंकर! सुनो,

बस आपस की फूट का है यह दुष्परिणाम।
सफल काम वैरी हुए करके इतना काम॥

भयंकर : हे नाथ! कुछ कारण भी तो होना चाहिए।
सुन्द : कारण?

कारण है उस मोह का रमणीधन का लोभ।
और मद्य की मोहिनी मादकता का क्षोभ।

विकराल : यह सब हम लोगों के फूटे भाग्य का ही दोष है।
सुन्द : नहीं, नहीं, इसमें भाग्य फूटने की कोई बात नहीं। यह केवल फूट का ही फल है। इसलिए तुमसे हमारा अन्तिम अनुरोध यही है कि हमारे समाधि-मन्दिरों की ऊँची-ऊँची पताकाओं पर, सबसे पढ़े जाने योग्य, बड़े-बड़े अक्षरों में लिखवा देना कि :—

सुन्द और उपसुन्द का है सब से अनुरोध।
सावधान, देखो, कभी उठे न बन्धु-विरोध॥

(मृत्यु)

भयंकर : हे नाथ! सुनते जाओ, सुनते जाओ, मैं ही अपने उष्ण रक्त से तुम्हारी यह आज्ञा लिख दूँगा।
विकराल : हाय! अब नाथ कहाँ? **(दोनों रोते हैं)**
तिलोत्तमा : **(आप ही आप)** अहो! अनिष्ट, अनिष्ट ही होता है। यद्यपि ये दोनों प्रचण्ड शत्रु थे और इनका मरना ही अभीष्ट था तो भी यह दुष्परिणाम देखकर खेद होता है।
विकराल : हुए आज असहाय हम डूबे सभी उपाय।
भयंकर : हाय! हाय करना हमें शेष रह गया हाय!

(नेपथ्य में कोलाहल)

विकराल : **(सुनकर)** यह तो दानवों का हाहाकार और देवताओं की जय जय कार! हे दानवेन्द्र! तुम कहाँ हो?

बनी चिता भी है नहीं अभी तुम्हारी नाथ
और पराजित शत्रुगण लगे दिखाने हाथ!

तिलोत्तमा : **(आप ही आप)** कैसी कारुणिक पुकार है!
भयंकर : **(आँसू पोंछकर)** अब इस अरण्यरोदन से क्या होना है? स्वामियों

के शरीरों की रक्षा करके उनका संस्कार करना ही हमारा पहला कर्त्तव्य है।

विकराल : दग्ध दैव जो कुछ करावेगा करना पड़ेगा।

[इन्द्रादि देवताओं का प्रवेश]

इन्द्र : ठीक है, देव सेनापति से कह दो कि अब दैत्यों को न मारें। अनाथ किंवा निस्सहाय शत्रुओं को मारना अनुचित है।

[विकराल और भयंकर के प्रति]

हे दानवो! तुम न घबराओ। तुमसे इस समय हमारा कोई विरोध नहीं। इसलिए हमने देव-सेना को रोक दिया है। वह तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट न करेगी। दुःख में हम किसी से शत्रुता नहीं रखते, सहानुभूति ही रखते हैं। इसलिए तुम यश-रीति अपने स्वामियों के शव-संस्कार का आयोजन करो। उनका सम्मान करने के लिए हम लोग भी तैयार हैं।

विकराल : हे देवराज, जो हम लोगों के अदृष्ट में था सो हुआ। हमारे मृत स्वामियों का सम्मान करने को कहना ही हमारे निकट तुम्हारी वीरता का प्रकृत परिचय है।

(भयंकर से)

भयंकर, तुम कुछ दानवों को बुला लो।

[भयंकर वैसा ही करता है और सब दैत्य मिलकर सुन्द और उपसुन्द के मृत शरीरों को उठाकर ले जाते हैं]

तिलोत्तमा : **(आगे बढ़कर)** देवराज की जय हो, सब देवताओं की जय हो।

इन्द्र : **(आदरपूर्वक)** तिलोत्तमे, सचमुच तूने बड़ा काम किया :—

करके दग्ध विपक्ष रूप-शिखा की ज्योति में।

सुरकुल की प्रत्यक्ष जयलक्ष्मी तू ही हुई॥

इसलिए बता, हम तेरा क्या हित करें?

तिलोत्तमा : मैं कृतार्थ हुई। यह सब देवराज ही की कृपा है। फिर भी यदि आप प्रसन्न हैं तो भरत का यह वाक्य पूरा होने दीजिए :—

[गान]

बरसे प्रेम रूप पयोद,

प्रबल ईर्ष्यानल बुझा दे विनयजल सविनोद।

हरी धरती रहे भरती क्षेम से निज गोद,

और हिलमिल कर अखिल जन सतत पावें मोद॥

इन्द्र : तथास्तु।

[सब जाते हैं]

मैथिलीशरण गुप्त के अप्रकाशित नाटक

- निष्क्रिय प्रतिरोध
- विसर्ज्जन

निष्क्रिय प्रतिरोध

निष्क्रिय प्रतिरोध

पात्र

रामकृष्ण
बालक
बोर
श्यामा
नौकर
मैनेजर
पहला मजदूर
दूसरा मजदूर
पहली
दूसरी
दयाराम
पहला
दूसरा
तीसरा
एक भारतीय
एक दूसरा भारतीय
स्त्री

श्रीराम

निष्क्रिय प्रतिरोध

पहला दृश्य

[देश–दक्षिण अफ्रीका, शहर–जोहान्सबर्ग, स्थान–एकपथ]

रामकृष्ण : **(प्रवेश करके, पथ पर चलता हुआ)** हाय! क्या अब हम भारतवासी पशुओं से भी गये बीते हो गये हैं। क्या अब हमें मनुष्य कहलाने का भी अधिकार नहीं रहा। यदि यह बात न होती तो भी क्या हमें यहाँ रहने के लिए–केवल रहने के ही लिए भी ठौर न मिल सकता। क्या हम यहाँ के फुटपाथों पर चलने का भी स्वत्व न पा सकते? और यदि यह बात नहीं है तो क्या हम यहाँ उन ट्राम गाड़ियों में दूने दाम देने के लिए तैयार रहने पर भी न बैठ सकते जिनमें यूरोपियनों के कुत्ते भी बैठ सकते हैं।

होगी ऐसी कौन जाति अधमाधम जग में
जो ऐसा अपमान सहे सन्तत पग पग में।
क्या अब हमने सभी मनुजता अपनी खोई,
सह सकता क्या घोर लांछन ऐसा कोई॥
होते हैं आघात हाय! हम पर पल पल में,
फिर भी तो हम लोग जी रहे हैं भूतल में।
रहा न कुछ भी शेष हमें अब अवलम्बन को,
है शतशः धिक्कार हमारे इस जीवन को॥

[एक बोर बालक का अपने बाप की उँगली पकड़े हुए प्रवेश]

बालक : बाबा, क्या यह वही कुली है? हिन्दुस्तान का रहने वाला?

बोर : हाँ, यह वही कुली है।

बालक : हाँ, बाबा, यह तो बताओ कि इस कुली को ट्राम गाड़ी में क्यों

न बैठने दिया था?

बोर : यह कुली ही क्यों, कोई भी कुली ट्रामगाड़ी में नहीं बैठ सकता। ये साले हिन्दू, हिन्दुस्तान के रहने वाले जानवर, ये क्यों हमारी गाड़ियों में हमारे पास बैठ सकेंगे।

बालक : **(जल्दी से)** क्यों, क्या जानवर गाड़ी में नहीं बैठ सकते? अभी-अभी ही तो मैंने उस ट्राम गाड़ी में एक कुत्ता बैठा देखा था। नहीं, तुमने कुछ ठीक नहीं बताया।

[उत्सुकतापूर्वक मुँह ऊँचा करके बोर की ओर देखकर]

बाबा सच बताओ, सच।

बोर : **(मुस्कुराकर)** हाँ, सच तो है। ये लोग अपने कुत्तों के भी बराबर थोड़े ही हो सकते हैं।

बालक : तो ये क्या अपनी गुलामी नहीं करते हैं। इनका गुलामी करना तो और बड़ी अच्छी बात है।

बोर : तुम इन बातों को क्या समझो; अच्छी तरह जल्दी चले चलो।

बालक : **(विस्मयपूर्वक जल्दी-जल्दी आगे पैर बढ़ाता हुआ कुछ देर मौन रहकर)** अच्छा बाबा, यह तो बताओ इन लोगों को सब कुली ही क्यों कहते हैं। क्या इनके देश में सब कुली ही रहते हैं।

बोर : क्या कुलीगिरी करने से ही कोई कुली होता है? इन लोगों में भी सब तरह के लोग होते हैं, लेकिन ये लोग कुली ही हैं। इसी से कुली कहलाते हैं।

बालक : **(विस्मयपूर्वक)** ठीक!

बोर : **(मुस्कुराकर)** समझ गये! तो अब तो जरा जल्दी चले चलो।

[दोनों का प्रस्थान]

रामकृष्ण : हाय!

वज्र हृदय, तुम सुनो कुली हैं हिन्दू सारे,
कृमि कीटों से अधिक हेय हैं वे बेचारे।
पद पद पर वे घोर यन्त्रणाएँ पाते हैं,
पशुओं से भी तुच्छ हाय! लेखे जाते हैं।
भारत, हो क्या तुम वही, विश्व का था प्रकाश जो,
भूतल में कर चुका ज्ञान-रवि का विकाश जो।
होकर भी सन्तान हाय! हम लोग तुम्हारी,
कुली कहाते हुए सह रहे हैं दुख भारी।
खोकर अपना मान हाय! भारत भूतल में,
डूब गये क्यों नहीं शीघ्र तुम सागर जल में।

पर हाँ, जीवित तुम्हें कौन कह सकता अब है,
है वह मृतक समान मान गत जिसका सब है।

(दो गोरे मजदूरों का प्रवेश)

पहला : यार, देखो तो वह एक कुली जा रहा है।

दूसरा : हाँ, जा तो रहा है। देखकर इच्छा होती है कि दो चार मुक्के मार कर हाथों की खुजली मिटाऊँ।

पहला : तो यह कौन बड़ी बात है। कुलियों के मारने में आता जाता ही क्या है। इन बेईमानों के मारे रुपये में बारह आना ही मजदूरी मिलती है।

रामकृष्ण : **(अलग)** हाय! क्या अब हम इतने नीच हो गये हैं कि–

पहला : **(रामकृष्ण के पास पहुँचकर)** ऐं, क्या कहा? बदमाश, हमें गाली देता है।

रामकृष्ण : हमने तो तुमसे कुछ भी नहीं कहा। हम अलग जा रहे हैं तुम अलग जा रहे हो। हमसे तुमसे क्या सरोकार–

दूसरा : **(हँसी रोककर)** तुम हमारे बेटे हो।

पहला : **(रामकृष्ण से)** देखो, साले की बदमाशी गाली की गाली देता है और उलटा हमीं को झूठा बनाना चाहता है। **(एक लात और घूँसा मारकर)** ये हरामखोर अच्छी तरह थोड़े ही मानते हैं। जब तक अच्छी तरह इन लोगों की मरम्मत न की जाए तब तक इन्हें होश थोड़े ही आता है।

दूसरा : ले बदमाश गाली देने का यह फल ले। **(लात और घूँसा मारता है)**

रामकृष्ण : क्यों बदमाशी करते हो। हमने कब गाली दी। **(घूँसा मारकर हटाने की चेष्टा करता है)**

दूसरा : देखो भाई, अब तक तो हमने इस पर हाथ नहीं उठाया, मगर अब जो इसे न मारे उसकी ऐसी तैसी।

[दोनों मजदूर रामकृष्ण को मारते हैं। बड़ा शोरगुल होता है। इधर-उधर के कितने ही आदमी आकर इकट्ठे होते हैं। कोई हँसते हैं। कोई तालियाँ पीटते हैं। कोई कहते हैं खूब हुआ। कोई-कोई बीच में पड़कर बचाने की चेष्टा करते हैं]

पहला : **(रामकृष्ण को छोड़कर)** बदमाश आज हड्डी चूरचूर कर देता। फिर सब शरारत भूल जाती।

दूसरा : नहीं, जब तक इन लोगों की इसी तरह पूजा नहीं की जाती तब तक ये लोग थोड़े ही मानते हैं।

रामकृष्ण : **(अलग होकर, स्वगत)** हमारी यह दशा! ठीक ही है, हम हिन्दुस्तानी-कुली-ठहरे न। परन्तु ऐसे जीने की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है। **(शीघ्रता से जाता है)**

पहला : **(और लोगों से अलग होकर हँसता हुआ)** देख, मैंने तेरी ख्वाहिश पूरी कर दी। अब इसके बदले में एक बोतल अच्छी शराब पिलानी होगी। क्यों पिलायेगा न?

दूसरा : **(हँसता हुआ)** अजी, यह कौन बड़ी बात थी। कुत्तों के मारने में लगता ही क्या है? जब जी में आया मार दिया।

पहला : कुछ हो, मैंने तो साले को ऐसे मुक्के मारे हैं कि उसका दिल ही जानता होगा। **(जोर से हँसता है)**

दूसरा : और क्या मारने में मैंने कसर लगाई थी। दो चार लातें तक तो फटकार दी थीं।

[जोर से कहकहे लगाते हुए जाते हैं]

दूसरा दृश्य

[एक तंग गली में सामने रामकृष्ण की मलिन झोंपड़ी दिखाई दे रही है। रामकृष्ण का प्रवेश]

रामकृष्ण : **(घर की ओर जाता हुआ)** इन लोगों की बदमाशी तो देखो। न कुछ बात न चीत, फिर भी हमें पीट डाला, परन्तु यह ठीक ही है–

जब नहीं हममें पुरुषत्व है,
न कुछ भी अवशिष्ट महत्त्व है,
फिर सहें हम जो जितनी व्यथा,
सतत है कम ही वह सर्वथा।

यह सब ठीक ही हो रहा है। संसार अब हिन्दुओं को खूब पद्दलित करे। अब तो उनका सभी गौरव लुप्तप्राय हो गया है। अब हम हिन्दू वे हिन्दू नहीं हैं–

जाते हुए जो न कहीं रुके थे,
सम्पूर्ण संसार कँपा चुके थे,
सारी धरा के नरपाल थे जो,
स्वशत्रुओं के हित काल थे जो।

पहले हमें अपने हिन्दू होने का बड़ा गर्व था। हमें उस समय बड़ा

हर्ष होता था जब हम सोचते थे कि हम उसी भारत भूमि की गोद के पले हुए हैं जो सभ्यता की जननी के नाम से संसार में विख्यात है, पर हमें क्या मालूम था कि वर्तमान हिन्दू तो–

सन्तान भीष्मार्जुन की नहीं है,
वे हो रहे त्रस्त सभी कहीं हैं।
उन्हें कहीं है जग में न ठौर
है नीच कोई उन सा न और।

अब हमें जो हिन्दू कहे वह पवित्र हिन्दू शब्द का अपमान करने वाला है। यदि हम हिन्दू होते तो आज–

होता धरा पै वह कौन व्यक्ति,
जो यों दिखाता हमको स्वशक्ति।
जो आँख कोई हम पै उठाता,
किये हुए का फल शीघ्र पाता।

(घर में प्रवेश)

[रामकृष्ण की माँ बेहोश पड़ी हुई दिखाई देती हैं]

(देखकर) हैं, यह क्या? माँ क्यों इस तरह बेहोश पड़ी हैं। (**ज़ोर से**) बाबा, बाबा, अरे बाबा, कहाँ हो? (**उत्तर की प्रतीक्षा करके साधारण स्वर से**) अरे यहाँ तो बाबा भी नहीं हैं! न जाने क्या हो गया है। (**कुछ देर किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहकर**) हाँ, पहले माँ को होश में लावें। तभी ठीक हाल मालूम हो सकेगा। भीतर से लाकर पानी के छींटे मुँह पर दें। यहाँ, इस लोटा में, (**वहीं रक्खे हुए एक लोटे में देखकर**) इसमें नहीं है। (**शीघ्रता से प्रस्थान और जल लिए हुए पुनः प्रवेश**) माँ! माँ! (**मुँह पर पानी के छींटा देता है**) उठती क्यों नहीं हो? हाय! उठती क्यों नहीं हो?

माँ : (**होश में आकर**) कौन है रामकिशुन?

रामकृष्ण : माँ! माँ! क्या हो गया है। बाबा कहाँ हैं?

माँ : (**शीघ्रता से**) अरे, तू मुझे झट वहाँ ले चल। यदि तू मेरा लड़का है तो तू मुझे झट वहाँ ले चल।

रामकृष्ण : क्यों? क्यों कहाँ ले चलूँ? बाबा कहाँ हैं?

माँ : अरे, उन्हें वह पकड़ ले गया है। तू जल्दी वहाँ चल। उनकी तबीयत अच्छी नहीं है। वे वहाँ बच न सकेंगे।

रामकृष्ण : कौन पकड़ ले गया है?

माँ : अरे, कारखाने का मैनेजर पकड़ ले गया है। क्यों बातों में देरी लगाता है। वे तो वहाँ तंग हो रहे होंगे। तू वहाँ चलता क्यों नहीं

है। साहब कहता था कि तुम झूठ-मूठ बहाना बनाया करते हो। हम तुम्हें जेल भिजवायेंगे।

रामकृष्ण : **(स्वगत)** कैसी बर्बरता है। अब क्या किया जाए।

माँ : **(क्रोध से)** क्यों चुप हो गया? क्या तुझे वहाँ नहीं चलना है? अच्छा तू मेरा लड़का नहीं। तू न चल, मैं खुद वहाँ जाती हूँ।

[शीघ्रता से उठने की चेष्टा करती है]

रामकृष्ण : **(माँ को उठने से रोककर)** यह क्या करती हो माँ! जो भाग्य में लिखा है वह तो देखना ही पड़ेगा। वहाँ जाकर तुम क्या करोगी?

माँ : **(रूखेपन से)** नहीं, मुझे छोड़ दे। मैं वहाँ खुद जाऊँगी।

[फिर बेहोश होती है। रामकृष्ण उसे वहीं लेटा देता है]

रामकृष्ण : **(आँखों में आँसू भरकर)** हाय! माँ फिर बेहोश हो गयीं। क्या करें कुछ समझ में नहीं आता। बाबा वहाँ कारखाने में पापियों के हाथों तंग हो रहे होंगे और माँ यहाँ बेहोश पड़ी हैं। अविरत परिश्रम, चिन्ता और दुःख के मारे ये पागल सी हो गयी हैं। अब कहाँ जाऊँ और क्या करूँ। हाय! यहाँ ऐसे में दयाराम भी न हुआ। यदि वह यहाँ होता तो बहुत कुछ दुःख बँटाता, परन्तु कपाल में तो और ही कुछ लिखा है। इन दुःखों को कौन सहता। ठीक ही है–

बाम विधाता जिसे विश्व में दिया चाहता कष्ट,
उसके सब अवलम्ब प्रथम ही कर देता वह नष्ट।
प्राण हरण करने के पहले जैसे काल कृतान्त,
तनु की सभी शक्तियाँ हरता दे तो कर क्लेश नितान्त॥

[पटाक्षेप]

तीसरा दृश्य

[स्थान–एक खेत। श्यामा का प्रवेश]

श्यामा : हाय! न जाने वे वहाँ किस तरह होंगे। न जाने उस दुष्ट मैनेजर का क्या मतलब है जो उसने उन्हें मुझसे अलग कर दिया है। क्या मालूम उनसे वहाँ किस तरह काम लिया जाता होगा, लगातार मेहनत करने के कारण वे सूखकर काँटे से हो गये हैं। अपने देश में भूखों मरती थी तो वहीं क्यों न मर गयी। वह भूखों मरना हजार गुना अच्छा था। इन पापियों के बीच में आकर मरने की कुबुद्धि

क्यों हुई? हाय! यहाँ तो मेरा धर्म भी बचना मुश्किल जान पड़ता है। शायद मैनेजर ने बुरे मतलब से ही मुझे उनसे अलग कर दिया हो। सुनती हूँ ये पापी स्त्रियों को उनके पतियों से अलग करके स्त्रियों का धर्म नष्ट करते हैं। भगवान् तुम उनकी रक्षा कीजियो। मुझे अब जीने की इच्छा नहीं है। जब मैं देखूँगी कि मेरा धर्म जाने वाला है उसी समय मैं अपनी जान दे दूँगी। छुरी तो मैं इस समय भी छिपाये हूँ। यह कौन आया?

[मैनेजर के एक खास नौकर का प्रवेश]

नौकर : अरे, तुम अभी क्या कह रही थीं। आज तुम्हें मैं एक बड़ी ख़ुश-खबरी सुनाने आया हूँ। सच जानों तुम्हारी किस्मत बड़ी जबर्दस्त है। अच्छा हाँ, पहले यह तो कहो कि तुम हमें दोगी क्या?

श्यामा : क्यों, क्या उनका कोई समाचार लाये हो!

नौकर : तुम तो कुछ भी नहीं समझतीं। अरे, अब तुम्हारी छुट्टी है। आज से तुम्हें–

श्यामा : छुट्टी! छुट्टी कैसी? छुट्टी तो रात के दस बजे होती है।

नौकर : अरे तुम तो कुछ भी नहीं...(**और पास जाकर ज़रा धीरे से**) तुम अब भी ख़ुश क्यों नहीं होती हो? तुम्हें मैनेजर साहब ने याद किया है।

श्यामा : देखो, सोच समझ कर बात करो। मैं यहाँ नौकर हूँ क्या इससे मैं अपना धर्म छोड़ दूँगी।

नौकर : ज़रूर, औरतें बड़ी नासमझ होती हैं। अरे, धरम को कौन पूछता है। मैनेजर साहब तुम पर ख़ुश हैं क्या यह मामूली बात है। अब तुम्हें यह कुलीगिरी न करनी पड़ेगी। साहब के बँगले पर मजे से मामूली काम करती रहना। वहीं मैनेजर साहब ने तुम्हें आज बुलाया है। तुम्हें अब, अपने शौहर का ख़याल बिलकुल छोड़ देना चाहिए वे तो कभी के–

श्यामा : (**आशंकापूर्वक**) ऐं, क्या?

(मैनेजर का प्रवेश)

श्यामा : ऐं कभी का क्या?

मैनेजर : (**श्यामा से**) अम खूब जानटा है। टुम बड़ा बडमाश आदमी है। अबी टक टुम कोई काम नहीं किया।

श्यामा : (**नौकर से**) हाँ तुम क्या कहते थे बीच ही में क्यों रुक गये।

मैनेजर : टुम गुस्टाकी करटा है। बाट का जवाब नहीं बोलटा।

नौकर : हुजूर अबकी दफे इसे माफ कीजिए। यह बड़ी नेक औरत है।

मैनेजर : अछा, तुम बासटे माफी के बोलो।

नौकर : हुजूर से माफी माँगो।

मैनेजर : अम टुमको माफी बोलटा है। टुम हमारे बँगले आओ।

नौकर : हुजूर ने तुम्हें माफ़ किया। चलो, बँगले पर जाने के लिए हुजूर कहते हैं।

श्यामा : मैं हा, हा, पैर पड़ती हूँ। मुझसे यहाँ चाहे जैसा काम ले लो, पर वहाँ न ले चलो।

मैनेजर : टुम नहीं चलटा? अच्छा अम देखता है।

नौकर : हुजूर हिन्दुस्तानी औरतें बेवकूफ होती हैं अबकी दफ़े इसे फिर माफ कीजिए। यह चलेगी। **(श्यामा से)** हुजूर से माफी माँगो और बँगले पर चलो। जब हुजूर की ऐसी ही मर्जी है तो तुम्हें वहाँ चलना तो जरूर ही होगा। फिर क्यों नाहक ही तंग होती हो और हमें भी तंग करती हो। क्या तुम्हें इत्मीनान है कि मैं हुजूर की मर्जी के खिलाफ़ काम कर लूँगी। फिर क्यों नादानी करती हो। अच्छा, हाँ अब हुजूर से माफ़ी माँगो और बँगले पर चलने के लिए उठो। क्यों क्या कहती हो? अरे चुप क्यों हो? भई कुछ तो जवाब दो।

मैनेजर : यह हरामजादा मानेगा नहीं। इसे बाँधकर ले चलो।

नौकर : हाँ हुजूर, यह बड़ी कम्बख्त औरत है। बिना दुरुस्ती किये यह न मानेगी। क्यों नहीं चलती?

श्यामा : **(कातरता से)** मुझे क्षमा करो। वहाँ न ले चलो।

मैनेजर : यू डैम फूल, सुअर का बच्चा। अम बोलटा है इसे बाँधकर ले चलो। इसके हसबैण्ड को टो डूसरी जगह भेजकर खत्म कर दिया है। अबी तब यह हरामजादा नहीं मानटा है।

श्यामा : **(छाती पर जोर से हाथ पटक कर)**

चले गये जब जगत से मेरे प्राणाधार,
फिर क्यों ये जाते नहीं प्राण निरे निस्सार!

मैनेजर : चुप करो, चुप करो, यह बहुत शोर करटा है।

नौकर : **(धीरे से)** हुजूर अगर अभी यह बात न बोलते तो बेहतर था। अब इसे मनाना बड़ा मुश्किल है।

मैनेजर : कोई परवा का बाट नहीं। कुली के रोने से टुम डरटा है?

नौकर : हुजूर, कुछ परवाह नहीं। बंगले पर मैं इसे अभी लिए चलता हूँ। **(पकड़ने के लिए आगे बढ़कर)** ओः अरे छुरी है। यह हरामजादी खून किया चाहती है। **(झपट के छीन कर)** ओः बड़ी तेज छुरी है। ज़रा में ही उँगली कट गयी।

(उँगली देखता है)

मैनेजर : ओफ़! छुरी था। पाकड़ो हरामजाडा को पाकड़ो।

नौकर : (श्यामा को हाथ पकड़ के उठाकर) उठ, चल, देखें अब कैसे नहीं जाती है। बीस-बीस दफे अच्छी तरह कहा मगर न उठी न उठी। अब तू जायगी और तेरी सात पुश्त जायगी।

श्यामा : (रोती हुई) मुझे छोड़ दो। मैं हा हा पैर पड़ती हूँ। मेरा धर्म न नष्ट करो। मारना हो मार डालो। और जो करना हो करो, परन्तु मेरा धर्म नष्ट न करो।

नौकर : अच्छी तरह चली चलो। ज़्यादा बक-बक न करो।

श्यामा : हुजूर आप हमारे माँ-बाप के समान हैं। मेरा धर्म न नष्ट करो। आपको ईश्वर की शपथ है। ईश्वर आपका भला करेगा!

मैनेजर : अम किसी का माँ-बाप का नहीं, झट पट चला चलो।

नौकर : (श्यामा को ढकेलकर) चल, जल्दी चल।

श्यामा : (रोती हुई) हाय! भगवान मेरा धर्म्म बचाओ। जीवन की रक्षा नहीं, केवल मेरे धर्म्म की रक्षा करो। हाय! तुम्हारे बिना अब किसे पुकारें।

मैनेजर : यह बहुत शोर करटा है। अच्छा इसे चुप करो।

नौकर : (श्यामा का मुँह पकड़कर) क्यों चुप नहीं होती।

[नेपथ्य में] मैनेजर साहब, मैनेजर साहब ज़रा यहाँ आइए। हुजूर किसी काम के लिए आप को बुलाते हैं।

मैनेजर : (सुनकर) अछा अम अबी आटा है। टुम इसे बँगले ले जाओ। (प्रस्थान)

[दूसरी ओर से रामकृष्ण का प्रवेश]

श्यामा : (रामकृष्ण को देखकर कातरता से) अरे, तुम मुझे बचाओ। आज मेरा धर्म्म जाया चाहता है।

रामकृष्ण : तुम डरो मत। भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे।

नौकर : कैसी बक बक लगाता है। हट पाजी बदमाश, कहीं का। यहाँ क्यों आया?

[रामकृष्ण नौकर को असावधान जान उसे जमीन पर पटक कर उसे नीचे दावता है]

नौकर : ओह! बड़ी चोट–

रामकृष्ण : (नौकर का मुँह दाबकर श्यामा से) तुम झट पट यहाँ से भाग जाओ तब तक मैं इसका मुँह पकड़े हूँ।

श्यामा : (भागती हुई) तुमने आज मेरा धर्म्म बचाया। भगवान तुम्हें सुखी रक्खें। (भागती हुई जाती है)

रामकृष्ण : बड़ी अच्छी बात हुई जो मैं आज यहाँ दयाराम से मिलने के लिए आया नहीं तो आज एक सती का धर्म्म न बचा सकता। **(नौकर से)** अरे, तुम गड़बड़ करते हो। **(ज़ोर से वहीं दाबकर)** थोड़ी देर चुपचाप अच्छी तरह पड़े रहो।

[तीन मजदूरों के साथ मैनेजर का प्रवेश]

मैनेजर : **(स्वगत)** आज का शराब बहोट अच्छा था। बहोट अच्छा नशा आया है।

रामकृष्ण : अरे ये बदमाश आ गये। अब मुझे भाग जाना चाहिए। परन्तु हाय! वह बहुत दूर न जा सकी होगी। यदि वह अबकी बार पकड़ी गयी तो बेचारी की बड़ी दुर्दशा होगी।

[नौकर को छोड़कर भागता हुआ जाता है]

नौकर : **(उठकर)** हुजूर, हुजूर, यह शख्स उस औरत को भगाये लिये जाता है।

मैनेजर : क्या बोलटा? औरट को भगाये जाता है? दौड़ो-दौड़ो, देखो भाग पाये नहीं।

मजदूर : जो हुक्म हुजूर का। वह किस ओर गया!

नौकर : **(एक ओर इंगित करके)** इधर, इधर जल्दी दौड़ो। पाजी ने ऐसे ज़ोर से पटक दिया था कि अभी तक सर भन्ना रहा है। खड़े रहते तक नहीं बनता है।

मैनेजर : जलडी पाकड़ो जलडी पाकड़ो।

[तीनों मजदूर दौड़ते हुए जाते हैं]

मैनेजर : टुम बोलो, क्या बात हुआ?

नौकर : हुजूर आपके चले जाने पर एक कुली आया। शाम होने की वजह से मैं उसे देख न सका था। उसने मुझे धोखे में पटक कर नीचे दाब लिया और उस औरत को भगाकर आप के आने पर ख़ुद भी रफ़ू-चक्कर हो गया।

मैनेजर : टुम बहोत नालायक है। टुम कोई काम का आदमी नहीं। टुम एक कुली कुट्टे से हार गया।

नौकर : हुज़ूर मैं क्या करूँ? अँधेरा होने की वजह से कुछ दीखता नहीं था। उस हरामी पिल्ले ने मेरे साथ धोखा किया।

(नेपथ्य में रोदन के साथ) मैं हा हा पैर पड़ती हूँ, तुम मुझे छोड़ दो। वहाँ वह मेरा धर्म्म नष्ट किया चाहता है।

मैनेजर : औरट आ गया।

[श्यामा को पकड़े हुए एक मजदूर का प्रवेश]

मैनेजर : टुम बहोत काम का आदमी है। अम टुम पर खुश है।

मजदूर : हुजूर की मेहरबानी है।

[रामकृष्ण को पकड़े हुए दो मजदूरों का प्रवेश]

रामकृष्ण : तुम मुझे छोड़ दो। मैं भागूँगा नहीं। अगर मैं न चाहता तो तुम मुझे पकड़ भी न सकते थे।

पहला मजदूर : अख्खा आप बड़े धरमातमा हैं जो खुदबखुद पकड़ाई दे गये, और छोड़ देने पर भी न भागेंगे।

दूसरा मजदूर : अभी सब धरमातमापन निकला आता है।

रामकृष्ण : जो बकना हो बको, परन्तु हाय! यहाँ हम लोगों का ऐसा अपमान! हमारे सामने ही हमारे देश की स्त्रियों पर ऐसा अमानुषिक अत्याचार! हम लोगों को चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए। हम लोग संसार में मुँह दिखाने योग्य नहीं।

पहला मजदूर : क्या कहा चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए। **(एक घूँसा मारकर)** कह अभी डूबे या कसर है?

दूसरा मजदूर : **(घूँसा मारकर)** कह अभी डूबे या कुछ कसर है।

नौकर : अहा! यही हजरत तो अभी यहाँ तशरीफ़ लाये थे। क्यों क्या अब भी धोखा देने की तजबीज कर रहे हैं?

[जोर से एक घूँसा मारता है]

मैनेजर : टुमी हमारे नौकर को मारा था? टुमी हमारे कुली औरट को भगाये जाटा था। **(बूट की एक ठोकर मारकर)** इस वखट इसे ऑफ़िस के बड़े घर ले जाकर बण्ड करो। फिर कोर्ट में केस चलेगा। इस औरट को बँगले पर काम करने के वासटे पौंछाओ। इसको डुरुस्ट करना होगा। डेखें अब यह कैसे भागता है।

नौकर : जो हुक्म हुजूर का **(श्यामा से)** चल।

श्यामा : **(रोती हुई)** हुजूर मेरा धर्म न बिगाड़िये। आपको ईश्वर की शपथ है।

मैनेजर : **(शराब के नशे में झूमकर)** चुप रहो साला। अम ईसर वीसर किसी को मानटा नहीं। **(प्रस्थान)**

रामकृष्ण : हाय! आज अबला की रक्षा नहीं—

यह अति अत्याचार हिन्दुओ, देखो, देखो,
यह महान अपमान न मरने से कम लेखो।
सहकर यों अन्याय, तिरस्कृत होकर ऐसे,
दिखा रहे हो सभ्य जगत को मुँह तुम कैसे।
कितने ही जौहर व्रत हुए हैं सतीत्व के हित जहाँ,
हा! उसी देश की ही स्त्रियाँ दुःख पाती यों यहाँ।

नौकर : (रामकृष्ण को एक घूँसा मारकर) बस बक-बक करके अब और जी न जलाओ नहीं अबकी बार खोपड़ा फोड़ देंगे।

[रामकृष्ण और श्यामा को लिए हुए नौकर और मजदूरों का प्रस्थान]

[पटाक्षेप]

चौथा दृश्य

[वही खेत–दो भारतीय स्त्रियों का प्रवेश]

पहली : तो रामकिसुन को महीने भर की सजा हो गयी।

दूसरी : मैं क्या झूठ कहती हूँ।

पहली : किस बात पर?

दूसरी : यही कि उन्होंने श्यामा को बहकाकर न जाने कहाँ भगा दिया है और साहब के नौकर को खूब पीटा।

पहली : तो श्यामा ने यह कहकर रामकिसुन को क्यों न बचाया कि मैनेजर मेरा धर्म बिगाड़ना चाहता था। इसी से रामकिसुन ने मुझे नौकर के हाथ से छुड़ा कर भगा दिया था।

दूसरी : श्यामा है कहाँ? क्या तुझे कुछ भी खबर नहीं है। तू अभी तक सोती कहाँ थी?

पहली : मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम है। मैंने श्यामा को कई दिनों से देखा तो जरूर नहीं है। कह बात क्या है।

दूसरी : श्यामा तो स्वर्ग में है।

पहली : ऐं, श्यामा मर गयी। बेचारी बड़ी अच्छी थी। मुझे बड़ी बहिन-सा मानती थी। मुझसे अपना राई-रत्ती तक हाल कहा करती थी। उस दिन जब उसे देखा था तब कौन जानती थी कि अब इसे न देख पाऊँगी। बेचारी का पति न जाने कहाँ है। मरते समय वह उन्हें देख तक न पाई।

दूसरी : वे तो और पहले के स्वर्ग पहुँच चुके हैं।

पहली : हरलाल भी मर गये! (कुछ देर खेदपूर्वक नीरव रहकर) कैसे?

दूसरी : मैनेजर ने उन्हें श्यामा से अलग करके किसी दूसरी जगह के खेत पर काम करने के लिए भेज दिया था। वहाँ उनसे इतना ज्यादा काम लिया गया कि वे आठ-दस ही दिन में मर गये। मैनेजर श्यामा को बुरी नजर से देखता था। जब उसका नौकर श्यामा को उस

जंगल वाले बँगले को लिए जाता था तब वह दौड़कर कुएँ में कूद पड़ी थी।

पहली : अहा! बेचारी का धरम बच गया। बड़ी भागवान थी। जरा देखने में अच्छी थी। इससे बेचारी को कलेस तो बहुत सहने पड़े हैं, पर बेचारी का धरम बच गया तो अभी तक यह बात छिपी कैसे रही?

दूसरी : और क्या अभी यह बात खुल गयी है। अदालत तो अभी तक यह बात नहीं जानती है। रामकिसुन को इसी बात पर तो सजा हुई है कि उन्होंने एक मजदूरनी को बहकाकर लापता कर दी है। अभी-अभी दयाराम ये बातें कर रहा था तभी तो मुझे मालूम हुआ है।

पहली : बड़ा अन्धेर है।

दूसरी : क्यों क्या अनहोनी हुई? यहाँ ऐसा तो रोज होता रहता है।

पहली : सो तो ठीक है, पर श्यामा की अर्थी कैसे छिपाई गयी होगी?

दूसरी : मैनेजर ने उसे उसी दम निकलवाकर नदी में फिंकवा दी थी।

पहली : बड़े अचरज की बात है। ऐसा हो गया और किसी को मालूम न हुआ।

दूसरी : तुझे छोड़कर और सबको मालूम है। अदालत के साहब भी तो जानते होंगे।

पहली : झूठी बात। अगर ऐसा होता तो रामकिसुन को सजा ही क्यों दी जाती।

दूसरी : तू बड़ी भोली है। गोरों का मुलक गोरों का मुकद्दमा और गोरों की ही अदालत फिर ऐसा हुआ तो क्या अचरज की बात हुई?

पहली : अच्छा यह क्या बात है कि यही गोरे अपने मुलक में अच्छी तरह न्याय करते हैं और यही यहाँ ऐसा जोर जुलम करते हैं।

दूसरी : वे गोरे दूसरे हैं और ये दूसरे।

पहली : हाय! वह धरम का राज छोड़कर यहाँ क्यों आयी? सच जानों बहिन, जब मुझे अपने घर की खबर आती है तब न जाने कैसा जी हो जाता है। वे सखी-सहेली कैसी होंगी। न जाने वहाँ का घर कैसा पड़ा होगा। न जाने पड़ोस और गाँव की बड़ी बूढ़ी जो माता के समान प्यार करती थीं अब जीती हैं या मर गयीं। न जाने वहाँ गाँव में आज कल क्या होता है। हरेक बात जानने के लिए जी घबराता है। हजारों कोस दूर यहाँ पड़ी हुई हूँ। न जाने अब कभी जनमभूम देखने को मिलेगी या यहीं कभी श्यामा की तरह मर जाना होगा।

(आँखों से आँसू झरते हैं)

दूसरी : अरे तुम रोने क्यों लगीं? जो भाग में लिखा है वही होगा। यही बात रामायन की पोथी में भी लिखी है। तूने उस दिन सुना तो था। चलो अब काम करें, नहीं तो ओवरसियर बहुत तंग करेगा।

(दोनों जाती हैं)

पाँचवाँ दृश्य

[स्थान–दयाराम का घर। दयाराम और रामकृष्ण]

दयाराम : हाँ फिर?

रामकृष्ण : फिर मैं माँ को साथ लिए हुए पिताजी से मिलने के लिए जेल में गया। वे बीमार पहले ही से थीं। पिताजी के जेल जाने की बात सुनकर वे पागल सी हो गयी थीं। जेलर ने जब हमें पिताजी से मिलने की इजाजत न दी तब वे उसे मारने के लिए झपटीं, परन्तु बीच ही में ठोकर खाकर गिर पड़ीं। हाय फिर वे न उठीं।

दयाराम : राम! राम! भाई हम तुम्हें क्या समझावें? तुम स्वयं समझदार हो। जब भगवान की यही इच्छा थी तो फिर इस तरह शोक करने से क्या होता है?

रामकृष्ण : नहीं भाई, मैं इस बात से विशेष विचलित नहीं हूँ। उनके लिए तो यह और अच्छा ही हुआ। माँ और पिताजी दोनों बड़े भाग्यवान थे जो जल्दी ही उनका इस नरक से छुटकारा हो गया। पापी तो मैं ही हूँ जो अभी तक यह सब देख सुनकर भी जी रहा हूँ। **(आँखों से आँसू झरते हैं)**

दयाराम : क्या कहें कुछ समझ में नहीं आता। तुम तो स्वयं समझदार हो। तुम्हें तो इस तरह अधीर न होना चाहिए। तुम्हारा और उनका यहीं तक संयोग था। जो होना था हो गया। होनहार के ऊपर किसका वश है।

रामकृष्ण : मैं तो स्वयं इस तरह अधीर होना अच्छा नहीं समझता। जिस तरह हो सका धैर्य धरे रहा हूँ, किन्तु क्या करूँ जब से तुम्हें देखा तब से जी नहीं मानता। इच्छा होती है कि खूब जी खोलकर रोऊँ। हाय! क्या मैं माँ-बाप के लिए जी खोलकर रोऊँ तक नहीं। **(रोता है)**

दयाराम : (अपने आँसू पोंछता हुआ कुछ देर नीरव रहकर) हाँ, पिताजी के

सम्बन्ध में जो कुछ सुना है क्या वह ठीक है?

रामकृष्ण : हाँ, भाई वह भी सब अक्षरशः ठीक है। रामचन्द तो खुद उस समय वहाँ मौजूद था।

दयाराम : तो मैनेजर ने पिताजी के ऊपर प्रहार क्यों किया? क्या बात थी?

रामकृष्ण : बात और क्या थी, मैनेजर ने उनसे कहा कि काम पर अभी चलो। पिताजी ने कहा कि जेल में रहने से हमारी तबीयत और भी खराब हो गयी है। अभी हम काम पर न जा सकेंगे। इस पर उसने—"अबी टक टुमारा टवीयट ठीक नहीं हुआ" कह कर एक चाबुक ज़ोर से फटकार ही दी और फिर एक बूट की ठोकर। उनका जराजीर्ण और विपत्ति जर्जरशरीर यह न सह सका। वे धड़ाम से गिर पड़े और अस्पताल में पहुँचते पहुँचते ही स्वर्ग को पहुँच गये। हाय! (रोता है)

दयाराम : राम! राम! कैसा अन्याय है?

रामकृष्ण : फिर मुकद्दमा हुआ। जस्टिस ने यह कहकर अपराधी को साफ छोड़ दिया कि मैनेजर की बात कुली ने नहीं मानी इसलिए उसने उस पर क्रोध में सामान्य सा प्रहार कर दिया और क्रोध में ऐसा हो जाना कुछ विचित्र नहीं है।

दयाराम : मुकद्दमा भी हो गया। और मैनेजर निरपराधी समझा गया! नरघातक निरपराधी!

रामकृष्ण : विस्मित न हो भाई, विस्मित न हो। हम लोगों की गिनती आदमियों में नहीं है। इन लोगों के बूटों से हमारी तिल्लियाँ हमेशा ही फूटती रहती हैं। हम लोगों जैसी निस्तेज और मृतक जाति और इन लोगों जैसा स्वार्थी। हम लोग जो मरे हुए भी अब तक जी रहे हैं वह केवल इन्हीं लोगों के लिए। नहीं तो हम लोग कभी के दुनिया का बोझ हलका कर गये होते।

दयाराम : बड़ा विचित्र न्याय है—नरघातक निरपराधी।

रामकृष्ण : भाई विचित्र कुछ भी नहीं है। दुनिया में कमजोरों के लिए ठहरने के लिए कहीं जगह नहीं। हम लोग आदमी थोड़े हैं जो हम लोगों से आदमियों जैसा व्यवहार किया जाय। हम काले और वे सफ़ेद चमड़े के। हमारी और उनकी क्या बराबरी? इन सफ़ेद चमड़े वालों पर यदि कहीं ऐसा अन्याय होता तो संसार में हलचल मच जाती। पृथ्वी रण हुंकारों से काँपने लगती। चुपचाप कायरों की तरह सब कुछ सह लेने वाले तो हमीं लोग हैं।

दयाराम : बिलकुल ठीक है।

रामकृष्ण : हम लोगों के लिए सन्तोष की बात इतनी ही है कि हम वृटिश राज्य की प्रजा हैं। इस धर्म्म राज्य में अब हम पर बहुत दिनों तक अत्याचार नहीं हो सकता। हमारे सम्राट हमारा सब दुःख दूर करेंगे। महात्मा गाँधी ने निष्क्रिय प्रतिरोध का झण्डा फिर से उठाया है। हम भी उनके दल में मिलेंगे।

दयाराम : इस काम में भी तुम हमें अपना साथी समझना।

रामकृष्ण : इसी काम में क्या, तुम हमारे जीवन के चिर साथी हो। भाई, क्या कहें आजकल हमें चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा सूझ रहा है। इस समय एक तुम्हीं हमारे हृदय के आधार हो! हाय! जब मैं श्यामा का सतीत्व बचाने के अपराध में जेल जा रहा था उस समय मुझे खुशी होने पर भी जो उदासीनता हो रही थी, उसका कारण अब समझ में आया। हाय! मैं अभागा पिताजी को अन्तिम समय देख भी न पाया। पापी मैनेजर ने उन्हें जेल भिजवा कर खतम ही कर डाला।

दयाराम : चलो इन विचारों को जाने दो। जो होना था हो चुका है। अब तो तुम्हें धैर्य...

रामकृष्ण : धैर्य? धैर्य यदि मैं न धरे होता तो मेरी छाती कभी की विदीर्ण हो गयी होती। मैं भी जानता हूँ कि इस तरह शोक करना व्यर्थ है। परन्तु क्या करूँ जान सुनकर भी जी क्यों नहीं मानता। मेरे माता-पिता दोनों अन्याय के भेंट हो चुके हैं। मैं और धैर्य्य अब कैसे धरूँ सो समझ में नहीं आता।

दयाराम : किसी तरह धैर्य्य तो तुम्हें धरना ही होगा। चलो अब अतिकाल हो गया। विश्राम के लिए चलें।

रामकृष्ण : अब मेरे जीवन में विश्राम कहाँ? यदि चिर विश्राम के बाद हो तो चाहे हो।

[दोनों जाते हैं]

छठवाँ दृश्य

[स्थान–एक मार्ग। दो भारतीयों का प्रवेश]

पहला : तुमने सुना महात्मा गाँधी निष्क्रिय प्रतिरोध करने के लिए फिर तैयार हो गये हैं।

दूसरा : हाँ सुना तो है।

पहला : निष्क्रिय प्रतिरोध का कुछ मतलब भी जानते हो?

दूसरा : ठीक-ठीक नहीं जानता।

पहला : तो तुम हमसे क्यों नहीं पूछ लेते? तुम्हें जब जो बात जानना हो हमसे पूछ लिया करो। हम रोज अखबार पढ़ते हैं। हमें दुनिया के सब हालात मालूम रहते हैं। क्या तुम अखबार नहीं पढ़ते? हाँ, तुम तो पढ़े-लिखे ही नहीं हो।

दूसरा : हाँ भैया, मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ। बाप की तो बड़ी इच्छा थी कि मैं पढ़ जाऊँ, परन्तु सब भाग्य की बात है।

पहला : निष्क्रिय प्रतिरोध का मतलब है कि कामकाज छोड़कर किसी बात का प्रतिरोध करना। प्रतिरोध यानी क्या बतलावें, हम तो जानते हैं, लेकिन तुम्हें क्या कहकर समझावें। **(कुछ सोचकर)** हम लोग जो हड़ताल वगैरह करने वाले हैं वह यही है। समझ गये।

दूसरा : इन बेईमान मालिकों और कल कारखानों के मैनेजरों को दुरुस्त करने के लिए यह बड़ी अच्छी तरकीब है।

पहला : हाँ बड़ी अच्छी तरकीब है। आज के अखबार में भी यही लिखा है कि—

दूसरा : गाँधीजी तो पहले बैरिस्टरी करते थे?

पहला : पहले अखबार की बात तो सुन लो, फिर हम सब बता देंगे। इस तरह तो हम कुछ भी न बता सकेंगे, हम चतुरानन तो हैं नहीं। **(पहले व्यक्ति के मुँह की ओर देखकर)** चतुरानन ब्रह्मा को कहते हैं। उनके चार मुँह हैं।

दूसरा : अच्छा वही कहो।

पहला : अखबार में लिखा है कि महात्मा गाँधी कोई ढाई हजार हिन्दुस्तानी मजदूर साथ लेकर इस जोहान्सबर्ग शहर की ओर आवेंगे। वे नेटाल में रहते हैं, इस कारण वे बिना सरकारी परवाने के यहाँ ट्रान्सवाल में कानूनन नहीं आ सकते हैं। परन्तु वे कहते हैं कि हम लोग बिना सरकारी परवाने के जबर्दस्ती ट्रान्सवाल में घुसेंगे। यहाँ हम लोग जो बिना सरकारी परवाने के एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए रोके जाते हैं यह सरासर अन्याय है। हम इसे तोड़ डालेंगे। देखें हमें सरकार कहाँ तक दण्ड देती है। हम उसके एक भी अन्याय काननू न मानेंगे। लाचार होकर उसे ऐसे कानून रद्द करने ही होंगे। हमीं लोगों के ही द्वारा तो इस देश की श्रीवृद्धि **(पहले व्यक्ति के मुँह की ओर देखकर)** अर्थात् धन-दौलत की बढ़ती हुई और हमीं लोगों को चोर बदमाशों की तरह एक जगह से दूसरी जगह

जाने के लिए सरकारी इजाजत लेनी पड़े यह अन्याय अत्याचार नहीं तो क्या है?

दूसरा : हाँ ठीक तो है।

पहला : अच्छा, अब पूछ लो तुम क्या पूछा चाहते थे? हाँ महात्मा गाँधी पहले बैरिस्टर थे। पहले-पहल वे एक मुकद्दमे की पैरवी करने के लिए हिन्दुस्तान से यहाँ आये थे। यहाँ अपने देश भाइयों की दुर्दशा देखकर वे द्रवित हो गये। तब से वे यहीं रहने लगे। देश पर वे सर्वस्व निछावर कर चुके हैं। राजमन्त्री के श्रीमान् पुत्र होकर भी वे देश के लिए कुली बने हुए हैं। अब वे कुलियों की तरह रोज केवल चार आने में ही अपनी गुजर किया करते हैं। घर के मामूली से भी मामूली काम खुद अपने हाथों से किया करते हैं।

दूसरा : धन्य है ऐसे आदमी को।

पहला : ऐसे मनुष्य, मनुष्य नहीं देवता होते हैं। पहले वे बैरिस्टरी से 45 हजार सालाना पैदा किया करते थे। जानते हो 45 हजार कितने होते हैं? पाँच बीसियों का एक सौ, और दस सौ का एक हजार होता है। बीस बीस चालीस और पाँच, इस तरह 45 हुए। चार हजार के करीब महीना पड़ा। चार हजार में एक कोठड़ी भर सकती है। चार हजार!

[बातें करते हुए जाते हैं]

[तीन बोरों का प्रवेश]

पहला : भाई हम तो कल शिकार खेलने के लिए जायँगे। तुम भी चलना।

दूसरा : हम तुम जैसे पागल थोड़े ही हैं। क्या यहाँ शहर में हिन्दू जानवरों की कमी है जो जंगल में जानवरों के शिकार के लिए जायँ।

तीसरा : कही तो यार तुमने लाख रुपये की बात, जंगली जानवरों का शिकार करने के लिए भी किसी स्थान विशेष में जुरमाना देना पड़ता है। हिन्दू जानवरों का भी यदि शिकार किया जाय तो भी दो चार पौण्ड जुरमाना देना पड़ता है। जुरमाने दोनों जगह देने पड़ते हैं। तो फिर हिन्दू जानवरों का ही शिकार एक आध बार क्यों न खेला जाय।

पहला : इस काम में लोभ तो हमें भी होता है। कोई हमें बुजदिल न समझना।

दूसरा : तुम भी इसी काम को पसन्द करते हो और, यह भी इसी को। यदि हम भी इसी को करना चाहें तो हमारी सपूती ही क्या रही? हम किसी हिन्दू की औरत को जबर्दस्ती छीन लेंगे।

तीसरा : यार है तो यह भी बड़ी अच्छी बात। इस काम में तो हम सबसे

आगे चलने के लिए तैयार हैं। इसमें न कोई झगड़े की बात न झंझट की। और मजे का मजा। उस दिन कुलियों का एक ओवरसियर जो हमारे पड़ोस में रहता है—एक कुली की औरत से जबर्दस्ती करने के लिए उसे अकेले में घसीटे लिये जा रहा था। औरत के खाबिन्द ने ओवरसियर को इसके लिए रोका, परन्तु वह उस कुली को बूट की एक ही ठोकर में बेहोश करके औरत को पकड़ कर ले गया। पीछे उस कुली ने ओवरसियर पर दावा किया। परन्तु ओवरसियर साफ-साफ छूट गया। उल्टा कुली को ही ओवरसियर के ऊपर झूठा दावा करने के कारण जुरमाना देना पड़ा।

दूसरा : उस बहादुर ओवरसियर को शाबास है। हिन्दू कुत्तों की इसी तरह खबर लेनी चाहिए।

पहला : हमें तो शिकार वाली ही बात पसन्द आयी। हम उस हिन्दू कुली का शिकार खेलेंगे कि जिसकी औरत बहुत खूबसूरत हो। इस तरकीब से हमारी दोनों ख्वाहिशें पूरी हो जायँगी।

तीसरा : यह भी ठीक है। तो यार उसमें हमारा भी कुछ हिस्सा अभी से रहा।

दूसरा : और कुछ हमारा भी।

पहला : यह ठीक रहा। मेहनत करें हम और मजा उड़ाओ तुम।

दूसरा : सो क्या हुआ? क्या हम तुम्हारे मित्र नहीं हैं।

तीसरा : कुछ हो उस समय मजा जरूर बहुत आयगा जब किसी कुली के सिर में गोली मारी जायगी और धड़ाके के साथ ही वह जमीन पर गिरकर अपनी जंगली जबान में चिल्लाकर न जाने क्या कहकर छटपटाता हुआ ठण्डा पड़ जायगा।

पहला : नहीं यार, हँसी की बात नहीं, अब जरूर इन लोगों को गोलियों से ही उड़ा देना चाहिए। अब ये साले बहुत सिर उठाने लगे हैं। कहते हैं हम पर यहाँ बहुत जुल्म होता है। हमारी बहिन, बेटियों और स्त्रियों पर भी यहाँ मनमाने अत्याचार किये जाते हैं। किये जाते हैं तो क्या हुआ। आखिर हो तो तुम कुली ही। जब तुम हमारे नौकर हो तो हमारा तुम्हारे ऊपर पूरा अधिकार है। हम चाहे जो कुछ कर सकते हैं।

तीसरा : ठीक तो है।

दूसरा : अब ये साले मिल जुल कर हड़ताल वगैरह किया चाहते हैं। कहते हैं जब तक हमारी तकलीफें दूर न की जायँगी तब तक हम काम

पर न जायँगे। जो कानून गैर मुनासिब हैं हम उनकी भी पाबन्दी न करेंगे।

पहला : अजी तभी तक ये बातें हैं जब तक इनकी पीठों पर हंटर नहीं पड़े और जब तक बड़े घरों की हवा नहीं खाई। पहले भी तो इन लोगों ने दो एक दफे यही उपद्रव किया था, पर कुछ फल हुआ? कहते हैं कि यहाँ की सरकार ने वादा किया था कि अन्याय कानून आदि उठा देंगे। इसी से हमने हड़ताल आदि तोड़ दी थी, पर बेईमानों की ये सब बातें सरासर झूठ हैं।

[बातें करते हुए जाते हैं]

सातवाँ दृश्य

[शहर का प्रान्त भाग, एक मैदान; रामकृष्ण, दयाराम और कुछ भारतीय कुलियों का प्रवेश]

रामकृष्ण : इस देश के नीचाशय निवासी चाहते हैं कि अब यहाँ हिन्दुस्तानियों की छाया भी न रहने पावे। मानों ईश्वर के यहाँ से इस भूमि के स्वत्व की रजिस्ट्री उन्हीं के नाम हो चुकी है। यद्यपि हम लोगों के ही परिश्रम से इस देश का व्यापार चमक सका है। हमीं लोगों ने अपने खून और पसीने से सींच कर इस भूमि को उर्वरा बनाया है, परन्तु–

कैसा अत्याचार है, है कैसा अन्याय
रहना दुष्कर हो रहा, यहाँ हमें ही हाय!

इन अन्याय, अत्याचारों के कारण हमारी ईमानदारी और सद्व्यवहार आदि गुण ही हुए। इन्हीं गुणों से हमारा व्यापार आदि कुछ-कुछ चमकने लगा था। जिस कुली रूप में हम यहाँ आये थे उसी रूप में न रहकर हम कुछ कुछ उन्नत हो चले थे। यह उन्नति यहाँ के यूरोपियन व्यापारी आदि को बहुत खटकने लगी। उन्होंने सोचा कि इस तरह तो यहाँ हिन्दुस्तानियों की बहुत पक्की जड़ जम जायगी। इन हिन्दू लोगों के सामने जिन्हें वे कुत्ता और सूअर कहा करते हैं–हम कुछ न रहेंगे। बस, तभी से अन्याय, अत्याचार का सहारा लिया गया। इस तरह के कानून बनने लगे कि जिसमें हम यहाँ स्वतन्त्रपूर्वक न रहने पावें। रहें तो उस घृणित दासत्व प्रथा, दूसरे रूप कुली प्रथा की जंजीरों से जकड़ कर रहें या अन्याय,

अत्याचार न सह सकने के कारण हम लोग स्वयं ही इस देश को छोड़कर भाग जायँ।

दयाराम : परन्तु हम लोग भागने वाले नहीं हैं। हम अपने स्वत्वों के लिए लड़ते हुए चाहे मर भले ही जायँ परन्तु अपने स्वत्वों को छोड़कर यहाँ से भागेंगे कदापि नहीं। यदि हम यहाँ से भागे तो संसार की उँगली हमारी ओर उठेगी और हमें धिक्कार के साथ सुनना पड़ेगा कि यही हैं वे नीच भारतीय जो दूसरों से पद्दलित होकर अपनी स्वत्वमयी भूमि को छोड़कर अपने घरों के कोनों में कायरों की तरह आ छिपे थे।

एक भारतीय : वे मनुष्य, मनुष्य ही कैसे जो खास अपने ही स्वत्वों की रक्षा न कर सकें। उनमें और पशुओं में आकार-प्रकार के सिवा और कोई फर्क ही न समझना चाहिए।

रामकृष्ण : इसी से तो मैं कहता हूँ कि महात्मा गाँधी का आदेश मानकर इस शहर के भी भारतीयों को निष्क्रिय प्रतिरोध में सम्मिलित हो जाना चाहिए। कुलियों को हड़ताल कर देनी चाहिए। कानून की परवा न करके व्यापारियों को वहाँ माल बेचना चाहिए जहाँ माल बेचना उनके लिए जुर्म में शामिल है। जहाँ-जहाँ हमारे जाने के लिए निषेध हैं वहाँ-वहाँ सरकार की इस अन्यायपूर्ण आज्ञा की अवहेलना करके हमें ज़रूर जाना ही चाहिए। इसी प्रकार के व्रत में दीक्षित करके महात्मा गाँधी ढाई हजार भारतीयों को नेटाल से यहाँ ट्रान्सवाल में ला रहे हैं। उनके आने के पहले ही हमें भी उसी व्रत में दीक्षित हो जाना चाहिए।

अन्यायी कानून सब जब तक हो न विनष्ट।
तब तक हम लड़ते रहें सहकर सौ-सौ कष्ट।

बिना इसके हमारे देश की इज्जत मिट्टी में मिल जायगी। हमें जेल जाने के लिए तैयार रहना होगा। मार-पीट सहने के लिए तैयार रहना होगा। मर जाने तक के लिए तैयार रहना होगा। तभी सफलता की आशा भी की जा सकती है अन्यथा नहीं, किसी तरह भी नहीं।

एक दूसरा भारतीय : हम सब कुछ सहने के लिए तैयार हैं। परन्तु अपने स्वत्व छोड़ देने के लिए तैयार नहीं। जियेंगे तो आदमियों की तरह। अपमानित और लांछित होकर जीते हुए मरना हमें स्वीकार नहीं है।

तीसरा : मरने से बढ़कर तो और कोई भय है नहीं। सो इसका भय तो हमें हमेशा बना ही रहता है। बीसों भारतीयों को यहाँ के साहबों की बूटों की ठोकरों से प्राण खोना पड़ता है, और नर हत्या करने

पर भी वे लोग निरपराधी कहकर छूट जाते हैं।

चौथा : यहाँ हम लोगों पर ही नहीं हमारी स्त्रियों पर भी मनमानी जबर्दस्ती की जाती है। या तो ऐसे अत्याचारों को ही मिटा देना चाहिए या अपने आप को ही।

रामकृष्ण : तो तुम सब निष्क्रिय प्रतिरोध में शामिल होने के लिए तैयार हो।

सब : हम सब तैयार हैं, जी जान से तैयार हैं।

रामकृष्ण : *तो फिर भाई करें व्यर्थ ही अब क्यों देरी,*
शीघ्र बजा दें विश्व बीच अपनी जयभेरी।
चलो, चलें, अवलम्ब किये शुभ सदुपायों का
करने को प्रतिरोध अनादर, अन्यायों का।
हम लग जावें कर्त्तव्य में,
दिखला कर संसार को।
होंगे हम शान्त उखाड़कर
जड़ से अत्याचार को।

[सब चलो, चलो, कहकर उत्साहपूर्वक चल पड़ते हैं। सबका गान]

जय जय भारत जय जय,
स्वर्ग धाम हो तुम्हीं हमारे
हे अनन्त महिमामय!
जहाँ रहें हम वहीं तुम्हारे,
तुमसे नहीं कभी हम न्यारे,
हो तुम प्यारे देश हमारे
हे सम्पूर्ण सुखालय!
यद्यपि हीन हुए हम अब हैं।
किन्तु तुम्हारे ही हम सब हैं।
किस भय से डरते हम कब हैं।
है हममें दृढ़ निश्चय।
हम स्वदेश पर मर जावेंगे,
पुण्य पयोनिधि तर जावेंगे,
वही काम हम कर जावेंगे,
हो तुम जिसमें निर्भय,
जय जय भारत जय जय।

[सब जाते हैं]

[भागती हुई एक भारतीय कुली स्त्री का प्रवेश]

स्त्री : बचाओ, कोई मुझको बचाओ। अरे वह ओवरसियर आया। उसकी

कुकर्म्म की बातों में मैं राजी न हुई इससे उसने मुझे पर दलेल बोल दी थी। पापकर्म करने के लिए उसने अकेले में जंगल में काम करने के लिए मुझे भेज दिया था। वह ज्यों ही मेरी ओर को आया मैं भाग आयी। वह मेरा पीछा सा किये आ रहा है। अरे कोई मेरा धर्म बचाओ। अरे राम, मेरा धर्म बचाओ।

[कुछ दूर रामकृष्ण का प्रवेश]

रामकृष्ण : इन लोगों को तो सत्याग्रह अनुरक्त कर चुका हूँ। इन लोगों के साथ दयाराम रहेगा। तो अब मुझे और भी कुछ काम करना चाहिए।

स्त्री : **(और जोर से भागती हुई)** अरे, यह ओवरसियर आ ही गया। कोई मुझे बचाओ, अरे कोई मुझे बचाओ।

रामकृष्ण : अरे क्या है, तुम क्यों इस तरह घबरा कर भाग रही हो।

स्त्री : **(पीछे की ओर देखकर)** यह तो ओवरसियर नहीं मालूम होता है। **(रुकती है)**

रामकृष्ण : **(स्त्री के पास पहुँचकर)** अरे क्या है। तुम क्यों इस तरह घबराई हुई हो।

स्त्री : इस ओर से कोई साहब तो नहीं आ रहा है?

रामकृष्ण : हम अपने विचारों में डूबे हुए चले आ रहे थे, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं इस ओर से कोई नहीं आ रहा है।

स्त्री : तुम्हें अच्छी तरह खबर है कि कोई इस ओर से नहीं आ रहा है।

रामकृष्ण : हाँ हम इसी ओर से तो आ रहे हैं।

स्त्री : तो इधर से कोई साहब तो नहीं आ रहा है?

रामकृष्ण : हाँ, बात तो बताओ क्या है?

स्त्री : मैं अब बची। **(दीर्घ निश्वास छोड़ती है)**

रामकृष्ण : क्यों?

स्त्री : क्या बताऊँ भैया! बदमाश ओवरसियर मेरा धर्म बिगाड़ा चाहता था। इतने ही में मैं वहाँ से भाग आयी। बताओ भैया अब मैं क्या करूँ।

रामकृष्ण : ऐं यह बात। हाय! तुम इस रावण की लंका में आयी किसलिए थीं।

स्त्री : क्या बताऊँ एक आरकाटी की बातों में आकर मेरे सास-ससुर और स्वामी यहाँ आये थे। उन्हें उस समय यह कुछ भी न मालूम था कि वहाँ हमें इस तरह गुलामी करनी पड़ेगी। उसने तो यही कहा था कि वहाँ मामूली लिखा-पढ़ी का काम करना पड़ेगा और नौकरी यहाँ से दूनी-तिगुनी मिला करेगी। यहाँ आने के पहले हमारे

ससुर को यह तक तो मालूम न था कि जहाँ जा रहे हैं वह जगह हिन्दुस्तान से है कितनी दूर। काम करते करते और तो सब मर गये मुझे ही मौत नहीं आती।

(रोती है)

रामकृष्ण : जरूर तुम्हारे देश भाइयों ने ही तुम्हें इस तरह कुएँ में ढकेल दिया, परन्तु अब तुम रोती क्यों हो। इस तरह रोने से क्या हो सकता है। अब तुम कहाँ जा रही हो।

स्त्री : जहाँ परमेश्वर ले जाय, पर अब वहाँ तो मैं न जाऊँगी।

रामकृष्ण : तो तुम हम लोगों में शामिल हो सकोगी।

स्त्री : तुम कौन हो?

रामकृष्ण : हम लोग हड़ताल करने वाले हैं। निष्क्रिय प्रतिरोधी, सत्याग्रही।

स्त्री : हाँ मैं तुम लोगों में मिल सकूँगी।

रामकृष्ण : हम लोगों के साथ मिलने में तुम्हें तंग बहुत होना पड़ेगा। शायद जेल भी जाना पड़े।

स्त्री : अब और कोई क्या तंग कर सकता है। काम पर जाने से भी तो बिना आज्ञा के भाग जाने के जुर्म में पीटी जाऊँगी। भूखी रक्खी जाऊँगी। धर्म्म भी जायेगा।

रामकृष्ण : अच्छी बात है। तो चलो तुम्हें अपने साथियों के पास पहुँचा आवें। वे अभी बहुत दूर न पहुँचे होंगे। वे तुम्हारे खाने-पीने का भी इन्तजाम कर देंगे।

स्त्री : कहाँ?

रामकृष्ण : महात्मा गाँधी के टाल्सटाय फार्म नामक स्थान में वे तुम्हें ठहरा देंगे। तुमने महात्मा गाँधी का नाम तो सुना ही होगा।

स्त्री : उन्हें कौन नहीं जानता। सुना है उन्होंने बड़ी-बड़ी पोथियाँ पढ़ डाली हैं जिन्हें अँगरेज भी नहीं पढ़ सकता है। वे तो बड़े भारी विद्वान हैं। फिर भी वे अपने देश के लोगों की भलाई के लिए कुली बने हुए हैं। दो-तीन बार तो उन्हें यहाँ की सरकार जेल भी भेज चुकी है, परन्तु वे कहते हैं कि तुम चाहे जो करो हम अपने भाइयों की भलाई ही करेंगे। मैं तुम्हारा बड़ा गुन मानूँगी जो तुम हमें उनके साथियों में मिला दो।

रामकृष्ण : अच्छा तो चलो।

आठवाँ दृश्य

[एक खेत के समीप निष्क्रिय प्रतिरोधियों का एक दल]

[गान]

हम सब हैं सत्याग्रहकारी,
रक्खेंगे हम मान देश का बन ध्रुव निश्चय धारी।
धर्म युद्ध में डटे रहेंगे शक्ति लगाकर सारी।
हमें न पीछे हटा सकेंगे दुख भय भारी-भारी।
हममें दृढ़ता देख जयश्री होगी शीघ्र हमारी।
यदि न हुई तो जन्मान्तर में रह न सकेगी न्यारी।

[गाते हुए सब का प्रस्थान]

[रामकृष्ण का प्रवेश]

रामकृष्ण : अहा! आज हम निर्जीव भारतवासियों में कैसी संजीवनी शक्ति का संचार हो गया है। हिन्दू, मुसलमान, जैन, सिख, पारसी और ईसाई सब आज एक ही मन्त्र से दीक्षित होकर अपनी मातृभूमि का मुख उज्ज्वल करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। आज हमें फिर विश्वास हो रहा है कि हमारे देशवासियों में आज भी अपने पूर्वजों का रक्त संचालित हो रहा है। अब भी हम बिलकुल ही नीच नहीं हो गये हैं। अब भी हमें कर्त्तव्य पालन के लिए जेल जाने, मार खाने और मर जाने तक की भी परवाह नहीं है। केवल पुरुष ही नहीं हमारी देवियाँ तक भी इस राष्ट्रीय संग्राम में सम्मिलित हो चुकी हैं। आज ही श्रीमती गाँधी के साथ कितनी ही स्त्रियाँ ट्रान्सवाल की सरहद लाँघने के कारण सहर्ष जेल जा चुकी हैं।

(मैनेजर का प्रवेश)

(देखकर) अरे, मैं भूल ही गया था कि मुझे मैनेजर से मिलना है।

मैनेजर : आप क्यों व्यर्थ ही हमारे कुलियों को भड़काते फिरते हैं। कानूनन यह बड़ा भारी अपराध है।

रामकृष्ण : **(उत्तेजित होकर)** हाँ, मैनेजर साहब, आपकी राय में कुलियों से हड़ताल कराना तो बड़ा भारी अपराध है और यह क्या है जो आप भारतीयों को पशुओं से भी नीच समझकर उनसे निरन्तर पशुओं की तरह काम लेते रहते हैं। अशक्त हो जाने के कारण काम न कर सकने पर उन्हें हण्टरों, कोड़ों और बूटों से मारते हैं। फिर भी उन्हें मजदूरी और भोजन कम ही दिया जाता है। तबीयत खराब हो जाने से काम पर न जा सकने के कारण भी, कभी-कभी आप

उन्हें झूठ बहाना बनाने का अपराध लगाकर जेल भिजवा देते हैं। आप लोगों के ओवरसियर भारतीय स्त्रियों पर जो पाशविक अत्याचार करते हैं उनकी तो आप शिकायत तक सुनना पसन्द नहीं करते हैं फिर आपने हड़ताल की बात इतनी जल्दी कैसे सुन ली।

मैनेजर : आप नाराज क्यों होते हैं। इन बातों में सुधार हो चला है और शीघ्र हो भी जायगा, परन्तु—

रामकृष्ण : परन्तु क्या—

जब हम लड़ने के लिए हैं सब विध तैयार,
तब इन बातों में न क्यों होगा शीघ्र सुधार॥

मैनेजर : खैर, इस समय इन बातों को जाने दीजिए। हम चाहते हैं कि आप ने हमारे जिन कुलियों को भड़का दिया है उन्हें आप समझा दें। हड़ताल करने से हड़ताल करने वालों की ही हानि होती है। हड़ताल करने वालों की उतने दिनों की तनख्वाह मारी जायगी। नाहक ही वे बाल-बच्चों के साथ तंग होते फिरेंगे। इसलिए हड़ताल तोड़ देने में भारतीयों की ही भलाई होगी। आप लोगों की जो जो शिकायतें हैं उन पर तो विचार किया ही जायगा चाहे हड़ताल टूट जाए या जारी रहे।

रामकृष्ण : हमारे लोकमान्य नेता गाँधीजी की आज्ञा है कि जब तक हमारी तकलीफें दूर न कर दी जायँ तब तक निष्क्रिय प्रतिरोध से पीछे न हटो। न हटो। झूठी प्रवंचना की बातों में फँसना ठीक नहीं।

मैनेजर : अगर आप हमारी बात ध्यानपूर्वक सुनते तो ऐसा न कहते। हमारी बात मानने से आपको बहुत कुछ लाभ भी हो सकता है।

रामकृष्ण : आप अपना बहुत कुछ लाभ अपने ही पास रखिये। हमें उसकी कुछ भी जरूरत नहीं है। हम ऐसे नराधम नहीं कि हम लाभ के पीछे अपना धर्म छोड़ दें।

मैनेजर : अच्छा, आप इसे जाने दीजिए। आप अपने देश भाइयों का उपकार किया चाहते हैं, तो भी आपको उचित है कि आप हड़ताल रोकने का प्रयत्न करें। हड़ताल करने वाले पिटेंगे, भूखों मरेंगे और जेल जायँगे। वहाँ उनसे बुरे से बुरा काम कराया जायगा। आप ही कहिए इसमें आपके देश की क्या इज्जत रहेगी? आपको तो भले आदमियों की तरह काम निकाल लेना चाहिए।

रामकृष्ण : आज तो आप हम लोगों पर बहुत दयालु दिखाई देते हैं, परन्तु हमारे देश की इज्जत जेल जाने में ही रहेगी। और—

कहीं किसी से स्वत्व निज मिलते बिना प्रयास,
बिना जलाये दीप भी देता नहीं प्रकाश॥

मैनेजर : **(रामकृष्ण की बात अनसुनी करता हुआ)** आज तो हमने कुलियों को भोजन दे दिया है, परन्तु अब यदि सबेरे से वे काम पर न आये तो उन्हें हम भोजन न दे सकेंगे।

रामकृष्ण : हमें इस बात की कुछ भी परवाह नहीं है। क्या आप नहीं जानते कि हमारे देश भाई तीस करोड़ हैं। हमें किसी बात की भी कमी न रहेगी।

मैनेजर : अगर आप कहने पर राजी नहीं हैं तो हम आपको अभी गिरफ्तार कराये देते हैं।

रामकृष्ण : यदि आप ऐसा करें तब तो हम आपके बहुत ही कृतज्ञ होंगे। हम तो यह चाहते ही हैं।

मैनेजर : **(सक्रोध)** तो अभी लो। **(सीटी बजाता है)**

[दो पुलिसमैनों का प्रवेश]

रामकृष्ण : *यह मिला हमें अवसर अनन्य*
हैं हम निश्चय ही धन्य, धन्य!
हम कर कारागृह में निवास
होंगे कृतकृत्य बिना प्रयास॥

[पुलिसमैन रामकृष्ण को पकड़कर ले जाते हैं]

मैनेजर : इन हरामजादे इण्डियनों का दिमाग आसमान में चढ़ रहा है। ये बिना दुरुस्त हुए न मानेंगे। खैर, देखा जायगा। जा कहाँ सकते हैं।

[प्रस्थान]

विसर्ज्जन

विसर्ज्जन

पात्र

रामदीन
जवाहिरलाल
रामप्रताप
कौंसा
पार्वती
किसुन
गुलाबसिंह
हरलाल
एक नौकर
मुनीम
पहला
दूसरा
पड़ोसिन
विश्वम्भरनाथ
धन्ने
पहली स्त्री
दूसरी स्त्री
पहला आदमी
दूसरा आदमी
तीसरा आदमी
चौथा आदमी
पाँचवाँ आदमी
एक स्त्री
एक आदमी
पहला स्वयंसेवक
दूसरा
तीसरा
चौथा
सब
सावित्री
एक डाकू
जगदीश
सरदार

श्रीराम

विसर्ज्जन

प्रथम दृश्य

[सेठ हरलाल की हवेली के सामने बगीची]

[पौधों को सींचता हुआ रामदीन]

रामदीन : (स्वगत) सूरज डूबने को आया। दिनभर हो गया। न जाने घर के लोग जीते हैं या मरते हैं। वे जानते होंगे कि मैं मजूरी लेकर आता होऊँगा, परन्तु मजूरी कहाँ, यह तो सेठ जी के यहाँ का काम है। बिना किसी का कुछ बिगाड़े दिन भर की क़ैद है। क़ैदखाने में तो दिन भर काम कर चुकने पर खाने को भी दिया जाता होगा, पर इस कैदखाने में तो इतना भी नहीं है। अब तो थकान के मारे अंग काम नहीं करते। तो छुट्टी लेकर घर चलूँ। हाय! वहाँ भी क़ैदखाने से ज्यादा दुःख, वह कहती थी कि आज घर में खाने के लिए कुछ भी नहीं है। तो भी सेर आध सेर आटा जरूर छिपाये रखे होगी, परन्तु कई दिन तो इसी तरह हो गये हैं; कहीं आज कुछ न बचा हो तब? तो क्या किसुन अभी तक भूखा ही होगा। हाय राम! गरीबों को क्यों दुःख देते हो। सेठ-साहूकार, हाकिम-हुक्काम भूखे थोड़े ही हैं जो गरीबों के मुँह की रोटी खींचकर उनके सामने डालते हो। हम तो आने दो आने के बिना घर भर भूखों मर सकते हैं, परन्तु बड़ों का इतने में क्या बन बिगड़ सकता है जो वे गरीबों की रोटी इस तरह छीनते हैं।

[जवाहिरलाल का प्रवेश]

जवाहिरलाल : कौन है रमदीना! अरे यह फूल तोड़ दे।

रामदीन : अच्छा लल्ला कौन?

जवाहिरलाल : इधर वह, यह।

[रामदीन जवाहिरलाल की तरफ पीठ करके एक फूल तोड़ने को उद्यत होता है]

जवाहिरलाल : अरे यह नहीं, वह।

[एक कंकड़ रामदीन की पीठ पर मारता है]

रामदीन : **(फूल तोड़ने के लिए आगे बढ़ता हुआ पीठ पर हाथ फेरकर)** यह क्या लल्ला? कौन फूल तोड़ूँ यह? **(एक फूल तोड़ता है)**

जवाहिरलाल : साले वह फूल क्यों तोड़ डाला। बदमाश, पाजी। वह फूल क्यों नहीं तोड़ देता?

(रामदीन एक दूसरा फूल तोड़ने को बढ़ता है और एक बड़ा सा कंकड़ उसकी पीठ पर मार कर एक ओर लक्ष्यपूर्वक जवाहिरलाल कहता है) क्यों रामप्रताप किसी को छिपकर क्यों मारते हो।

रामदीन : लल्ला कैसा ऊधम करते हो। मैं मालिक से कह दूँगा। यहाँ रामप्रताप कहाँ है।

जवाहिरलाल : फूल तो तोड़ना नहीं है, साला, और बदमाशी करता है। तू दादा से कह देगा तो वे मेरा क्या कर लेंगे। **(मुँह बनाता है)**

रामदीन : देखो तुम नहीं मानते हो। अच्छा मैं तुम्हें पकड़कर मालिक के पास ले चलूँ?

[पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है और जवाहिरलाल एक बड़ा-सा कंकड़ मारकर मुँह बनाकर चिढ़ाता हुआ भाग जाता है]

रामदीन : सेठ जी के पास जाकर कल के लिए बेगार को अपने आप न्यौता देना है। तो सीधा घर ही चलूँ वहाँ के हालचाल भी देखना चाहिए। **(जाता है)**

[एक ओर से रामप्रताप पहले झाँक कर देखता है और फिर निकलता है।]

रामप्रताप : चला गया, साला, चला गया।

जवाहिरलाल : **(दूसरी ओर से निकलकर)** दादा से शिकायत करने गया होगा। चलो भाई, नदी किनारे खेलने के लिए भाग चलें। थोड़ी देर में आप ही ढुँढ़वाते फिरेंगे।

रामप्रताप : अच्छा। **(आगे बढ़ता है)** यह क्या! **(छड़ी से नीचे पड़ी हुई एक फतूही उठाकर ऊँची करता है)** यह उसी साले की मालूम होती है। भूल गया है।

जवाहिरलाल : **(रामप्रताप की छड़ी पर से अपनी छड़ी पर लेने की चेष्टा करता हुआ)** लाओ इसे बन्दरों की तरह चीड़-फाड़ डालें।

रामप्रताप : **(अपनी छड़ी दूसरी ओर करता हुआ जिसमें जवाहिरलाल उस पर से फतूही को, अपनी छड़ी पर न ले सके)** एक बात बताऊँ जिसमें रमदीना खूब पीटा जाय।

जवाहिरलाल : बतलाओ भाई बतलाओ।

रामप्रताप : **(धीरे से उसके कान के पास)** इसमें तुम अपनी हीरे की अँगूठी छिपाकर रख दो। वह इसे लेने अभी आता होगा। जब वह इसे उठाकर ले जाय तो दादा से कह दो कि बगीची में हमारी अँगूठी खो गयी है।

जवाहिरलाल : (उछलकर) वाह भाई, वाह, खूब अच्छी तरकीब बतलाई।
[अँगूठी उतारकर उस फतूही की जेब में रखता है]

रामप्रताप : अब इसे ज्यों की त्यों रखकर चलो एक तरफ छिप जावें। देखें वह साला अभी आता है या नहीं। **(वैसा ही करके दोनों जाते हैं)**

(रामदीन का प्रवेश)

रामदीन : **(फतूही देखकर)** यह वहीं की वहीं तो मिल गयी। जरा देर हो जाती तो शायद कोई उठा ले जाता। इसके कारण इतना और भटकना पड़ा।

(फतूही लेकर जाता है।)

द्वितीय दृश्य

[रामदीन का घर]
[कौंसा और पार्वती]

पार्वती : वे आज, अभी तक नहीं लौटे। क्या कहीं आज भी बेगार लग गयी।

कौंसा : हाँ दद्दा को अब तक आ तो जाना चाहिए था।

पार्वती : अगर आज भी बेगार में पकड़ गये होंगे तो कैसे काम चलेगा। कई दिन से एक पैसे की भी मजूरी नहीं कर सके हैं। अगर यही हाल रहा तो भूखों मरना पड़ेगा।

कौंसा : माँ, तुम कुछ खा लो। उनका कुछ ठीक नहीं वे कब तक आवेंगे। तुम्हारा जुर राम राम करके टूटा है कहीं फिर न आने लगे।

पार्वती : बिटिया, जुर तो आता है, परन्तु मौत नहीं आती। कहीं आज फिर थाने या तहसील वालों ने पकड़ लिया तो घर आकर रात को दो

रोटी खाकर पानी तो पी लेंगे। दिन भर के थके माँदे आयँगे। बेटी, तुझे भी तो आज दिन भर हो गया तूने कुछ नहीं खाया है। दो रोटी तू खाले दो उनके लिए पड़ी रहेंगी। एक आध सबेरे को किसुन के लिए बच रहेगी।

कौंसा : नहीं माँ मुझे भूख नहीं है। तुम कुछ खा लो। वे अभी तक नहीं लौटे हैं तो जरूर कुछ लेकर ही आयँगे। मैं फिर खा लूँगी। तुम तो मानती नहीं। तुम्हारी तबीयत फिर खराब हो जायगी।

पार्वती : बेटी, यह क्यों कहती हो कि मुझे भूख नहीं है। यह क्यों नहीं कहती कि खाने के लिए नहीं है इसलिए भूख नहीं है। हाय भगवान! न जाने ऐसा कौन-सा पाप किया है जो मुट्ठी भर अन्न भी नहीं जुटता।

[हाँफते हुए किसुन का प्रवेश]

किसुन : बिहारी के घर एक चपरासी गया है।

कौंसा : तो क्या हुआ। इस तरह डरते क्यों हो भैया।

किसुन : बिहारी कहता था कि चपरासी आदमियों को पकड़कर ले जाते हैं और दिन भर उन्हें भूखा रख के मार कर वे उनसे काम कराते हैं।

पार्वती : तुम नंगे क्यों फिरते हो। कौंसा तुम कुरता पहना दो, नहीं तो ठण्ड लग जायगी।

किसुन : नहीं, मैं वह फटा कुरता नहीं पहनूँगा। मैं उसे चीड़ डालूँगा, जला दूँगा।

बाहर से : रामदीन है?

[गुलाब सिंह का प्रवेश]

गुलाब : रामदीन कहाँ हैं?

[किसुन एक कोने में खड़ी हुई खाट के पीछे जाकर छिपता है]

कौंसा : गाँव में कहीं काम पर गये हैं।

गुलाब सिंह : तुम उनकी लड़की हो? तुम तो बहुत अच्छी हो। जब वे आवें तब उनसे कह देना कि चपरासी गुलाब सिंह दस्तूरी के लिए हो गये हैं। जब तुम्हारा विवाह होगा तब हमें खूब नजरें मिलेंगी।

[कौंसा को घूरता हुआ जाता है]

किसुन : **(खाट के पीछे से धीरे से)** जीजी, चपरासी चला गया? **(मुँह निकाल कर झाँकता है फिर निकलता है)** क्यों जीजी, अगर मुझे देख लेता तो दद्दा के बदले चपरासी मुझे पकड़ ले जाता? अब तो वह चला गया होगा। बाहर जाकर देखूँ वह किसे-किसे पकड़ ले गया है।

(जाने को उद्यत होता है)

कौंसा : अरे ठहर, कुरता तो पहने जा।

किसुन : (कौंसा की ओर विना देखे आगे बढ़ता हुआ) नहीं मैं वह फटा कुरता न पहनूँगा। (जाता है)

तृतीय दृश्य

[हरलाल की हवेली। रात्रि का समय]

[हरलाल, मुनीम और दो नौकर]

हरलाल : बगीची में अँगूठी अच्छी तरह देख ली?

पहला नौकर : हाँ सरकार।

दूसरा नौकर : लालटेन जलाकर चार-चार दफे अच्छी तरह से देख ली। जरूर यह उसी साले का काम है।

हरलाल : क्यों मुनीम जी रामदीन जाते समय तुमसे छुट्टी लेकर गया है?

मुनीम : नहीं, वह मेरे पास होकर नहीं गया।

दूसरा नौकर : देखिए सरकार कैसा पाजी है। आँख बचाकर इसीलिए ही वह भाग गया है; बड़ी तेजी से गया होगा।

मुनीम : चाहे जैसी तेजी से क्यों न गया हो, वह घर तक न पहुँच सकेगा; बीच में से ही पकड़ लिया जायगा।

पहला नौकर : मैं उसे ऐसा बेईमान नहीं जान्ता था।

दूसरा नौकर : रामलाल, तुम उसके गुन नहीं जानते। उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। सरकार के सामने मैं चुगली नहीं करना चाहता, जैसा वह है। वह अपने को नवाबजादे से कम थोड़े ही समझता है।

[दो आदमियों के साथ रामदीन का प्रवेश]

रामदीन : (हरलाल को झुककर राम-राम करके) किसलिए बुलाया है। मालिक साहब!

मुनीम : तुमने लल्ला की हीरे की अँगूठी देखी है?

रामदीन : नहीं साहब मैंने काहे को देखी है। शाम को जब मैं जाने लगा था तब उन्होंने मुझसे फूल तोड़ने के लिए कहा था। उस समय तो वे अँगूठी पहने हुए थे।

मुनीम : देखो, अगर देखी हो तो साफ-साफ बता दो, कोई हर्ज की बात नहीं है।

दूसरा नौकर : हाँ अगर देखी हो तो बता दो।

हरलाल : तुम अच्छी तरह बता दो। नहीं तुम्हारी बुरी तरह से दुर्गति की जायगी।

मुनीम : देखो हम तुमसे कहते हैं। तुम साफ-साफ कह दो। अगर तुमने अँगूठी देखी हो। नहीं फिर पीछे पछताओगे और अँगूठी बतलानी पड़ेगी।

रामदीन : नहीं मुनीम साहब, मैं ऐसा बेईमान नहीं हूँ। तुमसे झूठ कभी नहीं कहता।

हरलाल : **(रामदीन पर झपटता हुआ)** आया बड़ा ईमानदार का बच्चा। साले बतलाता है या नहीं?

रामदीन : देखिए मालिक, जबान सँभल कर बोलिए। गरीब आदमी बेईमानी नहीं जानते हैं।

हरलाल : सुना मुनीम जी, बड़े आदमी बेईमानी करना जानते हैं। ठोको तो इस ईमानदार के बच्चे को। अभी सब ईमानदारी निकली आती है।

[नौकर रामदीन को मारते हैं]

एक नौकर : **(रामदीन की जेब टटोलता हुआ)**, अरे इसमें तो कुछ मालूम होता है। **(जेब में हाथ डालकर अँगूठी निकाल कर)** देखिए सरकार अँगूठी साथ ही लिए है।

[रामदीन भौचक सा रह जाता है]

हरलाल : अरे यह तो अँगूठी साथ ही लिये है। मैंने तो समझा था कि कहीं छिपाकर रख दी होगी तभी तो ईमानदार का बच्चा बना फिरता है। अच्छा अब अच्छी तरह मरम्मत करो इसकी।

[नौकर रामदीन को फिर मारते हैं]

एक नौकर : इसने बहुत चाहा था कि न जाऊँ, परन्तु मैं साथ ही पकड़ लाया नहीं तो यह अँगूठी कहीं की कहीं कर देता।

रामदीन : भगवान की सौगन्ध मालिक, मैंने अँगूठी नहीं चुराई। न जाने किसने मेरी जेब में रख दी।

मुनीम : आकाश से देवता उतरकर रख गये होंगे। रामलाल, इसे पुलिस के हवाले कर दो। यह अब भी अपनी ईमानदारी छाँटता है।

रामदीन : **(गिड़गिड़ाता हुआ)** नहीं मुनीम जी मैं वहाँ मर जाऊँगा। मैंने चोरी नहीं की।

हरलाल : **(नौकरों से)** खड़े क्यों हो? कह तो दिया, ले क्यों नहीं जाते। हवालात में ही इसे हमारी ईमानदारी मालूम होगी। **(आदमी रामदीन को धक्के देते हुए ले जाते हैं)** मुनीम जी, तुम जाकर थानेदार साहब

से मेरा सलाम बोलकर कह देना कि वे इसका बदमाशी में चालान कर दें। अँगूठी की चोरी की रिपोर्ट न लिखें नहीं तो गवाही में जाना आना पड़ेगा। इसकी जमानत कोई न दे सकेगा। इसका इन्तजाम कर दिया जायेगा।

मुनीम : अच्छा। जाता है।

चतुर्थ दृश्य

स्थान–

[विश्वम्भर, पहला, दूसरा, रामप्रसाद]

विश्वम्भरनाथ : सुनो भाई, इस कूटनीति वाले शासन ने हमें सब तरह से निकम्मा कर दिया है। हथियार छिन जाने से हम लोग कायर हो गये हैं और इस दूषित शिक्षा ने हमारा नैतिक पतन कर दिया है। हमारे आपसी झगड़ों को उत्तेजना देने वाले वकीलों और आफिस के कुली क्लर्कों की आवश्यकता न होती तो शायद इतनी भी शिक्षा यहाँ न दी जाती। हमारे व्यापार नष्ट हो जाने से हम परमुखापेक्षी और कंगाल हो गये हैं। ऐसी अवस्था में हमारा पतन अवश्यम्भावी है। हम अशिक्षित हों अथवा इस दूषित शिक्षा से शिक्षित हों पेट की चिन्ता हमारा पिण्ड नहीं छोड़ती। यही इस शासन की विशेषता है! हाकिमों पर हुकूमत का भूत सवार है और हम गुलामी के आदी हो गये हैं। छोटे आदमी ही नहीं, हमारे बड़े आदमी भी गुलामाना बर्ताव की तरफ झुक गये हैं। वे तो एक तरफ से हाकिमों के हाथ के खिलौने ही हो रहे हैं। उनकी हालत भी बहुत ही बुरी है। बेचारे कर्ज देते मरे जाते हैं। उन पर भी अत्याचार होते हैं पर वे उसका विरोध नहीं कर सकते, चुपचाप उन्हें सहन करते हैं।

दूसरा : भैया, देश की दशा देखकर बड़ा दुःख होता है। भगवान कब इससे उद्धार करेंगे?

विश्वम्भरनाथ : जब हम लोगों में साहस और पारस्परिक सहानुभूति, आत्मगौरव कुछ करने की शक्ति होगी तभी भगवान भी सहायता करेंगे। जब तक हम बातूनी जमा खर्च करते रहेंगे तब तक कुछ न होगा। शासकों ने जिस प्रकार हम लोगों के हथियार छीनकर हमें नामर्द बना दिया है उसी प्रकार दूषित शिक्षा देकर हमारा नैतिक ह्रास भी कर दिया है। आपस में लड़ाई-झगड़ों में उत्तेजना देने वाले

वकील और विदेशी शासन के पाये मजबूत करने वाले क्लर्कों की आवश्यकता न होती तो शायद हम लोगों को शिक्षा ही न दी जाती। हमारा व्यापारिक नाश करके हमें बुभुक्षित बना दिया गया है। ऐसी अवस्था में दूषित शिक्षा पाकर यदि हम अपने भाई का गला काटने के लिए तैयार न रहें तभी आश्चर्य की बात है। पचास साठ रुपया मासिक वेतन पाने वाला दरोगा जिसके कुटुम्ब में दस प्राणी हैं—रिश्वत लेगा या हजारों पाने वाला विदेशी मजिस्ट्रेट? फिर भी ये बेगार में गरीबों को पकड़कर मुफ्त काम कराते हैं। हाकिम भी डलियाँ लेते हैं। गरीब दुक़ानदारों से आधे दामों में रसद लेते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में हमारी दृष्टि शक्ति भी मन्द पड़ गयी है। इसी से हमें यथार्थता की परख नहीं होती।

इस जुल्म को बदलना चाहिए। अँगरेज अपनी संस्कृति इस तरह दे जाते हैं कि उन पर प्रेस्टीज का भूत सवार रहता है, शिक्षा तो दूषित है ही परन्तु बेगार के लिए वह जिम्मेदार नहीं है। छोटे आदमी की बेगार के कारण बड़े आदमी भी गुलामाना बर्ताव की तरफ झुकते हैं।

दूसरा : हम लोग कायर बन गये हैं। इसीलिए हम लोग अन्याय अत्याचार का विरोध नहीं कर सकते हैं। सिर्फ बातूनी जमा खर्च करते हैं।

[रामप्रताम खेलता हुआ आता है]

पहला : देखो, इस लड़के को बुलाकर अँगूठी वाली बात पूछो।

दूसरा : रामप्रताप जरा इधर तो आओ। **(रामप्रताप पास आता है)** यह लड़का बड़ा होशियार है। देखो भाई, एक बात हमें बताओगे?

रामप्रताप : क्या?

पहला : उससे जो पूछोगे, अभी बता देगा। वह ऐसा मूर्ख नहीं है कि शरमा जाय।

दूसरा : तुमने ही रामदीन की जेब में अँगूठी रख दी थी?

रामप्रताप : नहीं मुझे नहीं मालूम है। **(छूटकर भागने की चेष्टा करता है)** छोड़ दो, मुझे जाना है।

पहला : अच्छा इसे मिठाई खाने के लिए पैसा दो। यह बड़ा होशियार है। अभी सब सच-सच बता देगा।

दूसरा : **(जेब से पैसा निकालकर)** देखो भाई हमें बता दो। तुम हमारे मित्र नहीं हो?

रामप्रताप : जवाहिरलाल के दादा ने तो रोक दिया है कि किसी से न कहना।

पहला : तो हमें किसी दूसरे से थोड़े ही कहना है।

दूसरा : तुमने रामदीन की फतूही में अँगूठी नहीं रख दी थी।

रामप्रताप : उस समय तुम कहाँ थे? **(सब हँस पड़ते हैं)** नहीं मैं कुछ नहीं जानता हूँ। कल जवाहिरलाल ने रामलाल से कह दिया था तो उसने सेठ जी से कह दिया। वे सुनकर बहुत नाराज हुए थे। उन्होंने किसी से कुछ कहने को रोक दिया है।

[छूटकर एकदम भाग जाता है]

विश्वम्भरनाथ : देखो, लड़कों ने शैतानी करके कैसा अनर्थ किया।

[बातें करते हुए जाते हैं]

पंचम दृश्य

[स्थान–रामदीन का घर]

[पार्वती, कौंसा और एक पड़ोसिन]

कौंसा : जब से दद्दा जेल गये हैं तब से इनकी तबीयत दिन पर दिन बिगड़ रही है। काकी तुम इन्हें समझाओ। विश्वम्भरनाथ दवाई दे जाते हैं, ये उसे भी नहीं खाती हैं।

पड़ोसिन : जीजी, तुम दवाई क्यों नहीं खातीं? इस तरह शरीर कै दिन टिकेगा। जैसे इतने दिन बीत गये हैं, बाकी दिन भी बीत जायेंगे। भाग्य पर किसका वश है।

पार्वती : मन को बहुत समझाती हूँ, फिर भी नहीं मानता। वे ऐसा कलंक लेकर क्या जेल से जीते निकलेंगे? जाने मुझ अभागिन को मौत कब आयगी। रोज ठण्ड देकर जुर आता है। खाने के लिए अन्न नहीं और ओढ़ने के लिए कपड़े नहीं हैं, फिर भी मौत नहीं आती।

किसुन : **(रोनी सी आवाज में)** बाई अब दद्दा कब आयेंगे? मुझे उनके पास जाना है।

कौंसा : धीरज धर भैया, धीरज धर! भगवान दद्दा को जल्दी छुड़ा देगा।

पार्वती : देखो तो इस नन्हे की भी कैसी हालत हो गयी है। सब खेल-कूद भूल गया है। दिन-रात दद्दा-दद्दा की रट लगाये रहता है। हाय! भगवान ऐसे दुख किसी बैरी को भी न दियो।

[दवाइयों का बक्स लिये हुए विश्वम्भरनाथ का प्रवेश]

विश्वम्भरनाथ : रात को इनकी तबीयत कैसी रही।

कौंसा : ये दवाई ही नहीं खातीं, रात को बड़े जोर का जुर चढ़ा था। बेहोशी की-सी बातें करने लगी थीं।

विश्वम्भरनाथ : तो दवा नहीं खाई? दवा तो खानी चाहिए थी।

पार्वती : भैया, अब इन दवाइयों की जरूरत नहीं है। अब तो कोई ऐसी दवाई बताओ कि जिसमें सब झगड़ा जल्दी ही मिट जाये।

विश्वम्भरनाथ : कौंसा तुम इन्हें दवाई जरूर खिलाना। आज यह दूसरी दवाई दिये जाता हूँ। दिन भर में तीन बार खिलाना। **(दवा निकालकर देता है)**

कौंसा : **(दवाई लेकर)** अच्छा देखूँगी आज ये दवा कैसे नहीं खाती हैं। अगर ये कुछ न खायँगी तो मैं भी भूखी रहूँगी, कुछ न खाऊँगी।

विश्वम्भरनाथ : **(पार्वती से)** नहीं तुम मेरे कहने से खाना। **(जाने को उद्यत होता है फिर मुड़कर)** यह एक रुपया ले लो। पथ्य के लिए सामान मँगा लेना।

पार्वती : नहीं भैया, हम किसी का दान नहीं लेंगी। तुम्हारी इतनी ही दया बहुत है जो दवाई दे जाते हो। खबर ले जाते हो। नहीं हम गरीबों की कौन सुध लेता है। भगवान तुम्हारा भला करे।

विश्वम्भरनाथ : नहीं जब तुम्हारे पास सुभीता हो जाये तब हमें हमारा रुपया लौटा देना। यह रुपया सेवा समिति के रुपयों में से दे रहा हूँ। इस पर ब्याज नहीं लगेगा।

[रुपया देकर जाता है]

षष्ठ दृश्य

[स्थान—एक मार्ग]

[दो चपरासी—धन्ने और गुलाब सिंह]

गुलाब सिंह : न मालूम आज सबेरे किस बेईमान का मुँह देखकर उठे थे कि आज एक पाई भी नहीं मिली। अगर सब जगह के दौड़ों का यही हाल रहा तो हम लोगों का काम कैसे चलेगा। अब साले लम्बरदार बड़े बेईमान हो गये हैं।

धन्ने : तुम आये बड़े चपरासी, चपरासी हो कि भिखमंगे? उस गजाधरिये से तुमने दो आने कैसे लिए? मैं होता तो वहीं फेंक देता। ऐसी चपरासगिरी से तो भीख माँग खाओ सो बेहतर है। करीम कहता था कि तुमने दो आने नहीं, दो रुपये लिये हैं। शायद हिस्सा न देने के लिए बातें बनाते फिरते हो।

गुलाब सिंह : ऐं, क्या कहा? सोच समझ कर कोई बात मुँह से निकाला करो।

उस साले गजाधरिये से जाकर क्यों नहीं पूछ लेते कि उसने दो ही आने दिये हैं या और कुछ।

धन्ने : ऐसे गरम कुछ न हो। हमने भी सरकार की नौकरी की है; हम भी चपरासी ही हैं। हम तुम्हारी तू तड़ाक नहीं सह सकते। चोरी और शहजोरी! भला आज तक किसी दूसरे लम्बरदार ने भी किसी जंट के चपरासी को दो आने दिये हैं? या तुम्हीं अनोखे चपरासी हो जो दो-दो आने भीख सी लेते फिरते हो। हम तो दो रुपये से कम न लेते। उसकी हजार बार गरज होती तो मेरे हाथ पैर जोड़ता, मनाता और इनाम देता। अच्छा देखा जायगा। हम भी अब कभी अपनी इनाम में से तुम्हें कौड़ी न देंगे।

गुलाब सिंह : अगर तुम न दोगे तो हम कौन भूखों मर जायेंगे।

धन्ने : हाँ, हाँ, भूखों न मर जाओगे। हमसे तुमसे कुछ वास्ता है।

(जाता है)

गुलाब सिंह : **(स्वगत)** चपरासी जान गये हैं कि हमने झूठ बताया है। गलती हो गयी जो मुँह से दो आने निकल गये; कम से कम आठ आने बताने चाहिए थे। चपरासी बड़े बदमाश हैं ताड़ गये हैं और ताड़ क्यों न जावें क्या वे साले ऐसा नहीं करते हैं? तो जाकर गजाधरिये को समझा आवें कि वह किसी को ठीक-ठीक बता न दे। अगर उस साले ने बता ही दिया, न माना, मानेगा कैसे नहीं, देख लेंगे साले को। वह बदमाश है तो हम भी कम नहीं हैं। जंगी घोड़े को मंगी सवार।

(एक ओर कौंसा का प्रवेश)

कौंसा : **(जाती हुई स्वगत)** आज अढ़ाई आने मजूरी में मिल गये हैं। बाजार से अब कुछ सौदा खरीद ले चलना चाहिए। जाने माँ की तबीयत कैसी है। जब से दद्दा जेल गये हैं तब से उनकी तबीयत बराबर बिगड़ती जाती है। अब उन्हें बुखार चढ़ना शुरू हो गया होगा। उन्हें ठण्ड बहुत लगती है। जाते ही आग जला दूँगी।

गुलाब सिंह : **(स्वगत, एक ओर)** यह वही रमदीना की लड़की है। यह देखने में कैसी अच्छी है। आज इसे बेगार में पकड़ ले चलूँ। रात भर वहीं रखूँगा। अरे कौन साला झगड़ा कर सकता है। वह ससुरा जेल में सड़ ही रहा है। इन कमीनों में भी कोई-कोई बहुत सुन्दर होती हैं।

कौंसा : अरे यह वही चपरासी है। यह बहुत घूर-घूर कर देख रहा है। जल्दी निकल चलूँ।

(जल्दी चलती है)

गुलाब सिंह : **(उसके पीछे बढ़ता हुआ)** अरे जरा साहब के बंगले पर तो चलो। पानी भरना है।

कौंसा : **(बिना ठहरे)** और किसी को पकड़ लो। मेरी माँ बीमार है। उनके लिए खाने को ले जाना है।

गुलाब सिंह : अरे, ठहरकर सुनो तो। मुझे तो इस गाँव में ऐसा कोई नहीं मिला जो बीमार न हो, जिसे कुछ काम न हो। तुम्हें चलना है या नहीं, नहीं तो फिर वैसा इन्तजाम करूँ।

कौंसा : मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। पानी भरने के लिए किसी और को पकड़ लेना। मेरी माँ भूखों मर जायेगी।

गुलाब सिंह : अभी-अभी तुम्हारी माँ बीमार थी और अब भूखों मर जायेगी। **(कौंसा को दपट कर)** अरे जाती कहाँ हो। तुम्हें अच्छी तरह चलना है या गालियाँ सुनकर जाना है।

कौंसा : कितनी देर काम है।

गुलाब सिंह : अरे थोड़ी ही देर का काम है। हम चपरासी हैं; तुम्हें हमको खुश रखना चाहिए! हम लोग साहब से सिफारिश करके कभी बड़े-बड़े सजायाफ्तों को भी छुड़वा देते हैं।

[दोनों जाते हैं]

सप्तम दृश्य

[स्थान–हाकिम परगना के कैम्प से कुछ दूर एक मैदान]
[बेगार में आये कुछ आदमी और स्त्रियाँ]

पहली स्त्री : मैं तो चारे के ढेर के पिछाईं दुक रईली तोउ साना ने ढूँढ़ के पकड़ लईं।

दूसरी स्त्री : वे हारे गये हते। मैं उन्नो रोटी लैइ जाएँ चाउत्ती तौं नो पूत मरे चपरासी ने मोय पकर लई।

पहला आदमी : हमाये ह्यां से तो चपरासी दो सेर भैंस का दूध को दूद लियाओ और हमें पकर लए।

दूसरा आदमी : अरे हमाये ह्यां सोउ वाने जोइ हाल करो।

तीसरा आदमी : अकेले तुमापेइ नां से काये, वो तौ जानें कितने जनन के नां से दूध उगाओ गयी हू हैं। कछू तो चपरासियन के हक्कै लग है और कछू नम्बरदार के नां जमाव जै हैं। अरे साब लोग कउँ दूध थोड़ेइ

खात हैं।

चौथा आदमी : साब लोग तो ढेर के ढेर मांस और अण्डा खा जात हैं। वे रोटी सोऊ खात हैं। का कत हैं, वासें—

पाँचवाँ आदमी : डबल रोटी कत हैं डबल रोटी।

चौथा आदमी : हाँ हाँ, डबल रोटियइ तौ कत हैं। काये भैया का वा रोटी एक डब्बल में एक आऊत हैं?

[कौंसा के साथ गुलाब सिंह का प्रवेश]

गुलाब सिंह : **(सबसे)** अब तुम सब लोग आओ, बड़े सबेरे फिर आ जाना।

[सब लोग उठकर जाना चाहते हैं]

कौंसा : यहाँ इतने आदमी तो हैं। इन्हीं में से किसी से पानी भरवा लो। मेरी माँ तो भूखी पड़ी होगी। अरे जसोदा की बाई तुम जरा ठहर कर पानी तो भर दो। ये मुझे पानी के लिए पकड़ लाये हैं। मेरी माँ अकेली पड़ी होगी।

एक स्त्री : **(दूसरी स्त्री से)** नेंक तुम ठैर जाव। मैं तनक पानी और भर देऊँ। जाव कौंसा तुम।

गुलाब सिंह : कैसी नवाबजादी सी बोली। **(विकृत अनुकरण करता हुआ)** मैं तनिक पानी और भर देऊँ, जाव कौंसा तुम। हरामजादी तुमसे किसने कहा सो लाट साहब की तरह हुक्म दे दिया—जाव कौंसा तुम। **(कौंसा से)** इन लोगों के भी जान हैं, ये कुछ हैवान तो हैं ही नहीं जो दिन भी काम करें और रात को भी। जाओ तुम लोग तुम्हें दिन भर हो गया। यह तो मुझे चकमा देना चाहती है।

एक आदमी : **(उसी स्त्री से)** चल ह्यां से, तोये का कन्ने। **(वे सब जाते हैं)**

गुलाब सिंह : यह घड़ा लेकर उस कुआँ से पानी भर ला।

[घड़ा लेकर कौंसा जाती है]

गुलाब सिंह : कैसी अच्छी चीज हाथ लगी। इसे वश में न कर लूँ तो मेरा नाम गुलाब सिंह नहीं। कहाँ तक नखरे करेगी। साहब दूसरे गाँव से पड़ताल करके दस बजे रात के पहले आ ही नहीं सकते हैं और लोगों को हटा ही दिया है।

[स्थान—दूसरी ओर एक कुआँ]

कौंसा : चपरासी ने उन लोगों को क्यों भगा दिया? उसके मन में कुछ मैल सा मालूम होता है। वह अब आता ही होगा। अँधेरा सा हो चला है और यहाँ कोई है भी नहीं। तो मैं भाग ही न जाऊँ। **(पास से ही एका-एक हिरन निकल जाता है)** अरे यह हिरन है।

[अकस्मात् बन्दूक की आवाज होती है और कौंसा धड़ाम से गिर

पड़ती है और छटपटा कर मर जाती है। कुछ दूर शोर होता है अरे पकड़ो पकड़ो भाग जाता है। फिर एक यूरोपियन शिकारी को पकड़े हुए कुछ लोग आते हैं]

यूरोपियन : अम नेई मारा। मत पाकड़ो अमको, अम फायर कर देगा। (लोग यूरोपियन को पकड़े हुए जाते हैं)

अष्टम दृश्य

[स्थान–सेवा समिति का कार्यालय]

[विश्वम्भरनाथ और कुछ स्वयं सेवक]

विश्वम्भरनाथ : उस यूरोपियन के मुकद्दमे के फैसले का हाल तो तुमने सुन ही लिया होगा। हाकिम और ज्यूरियों ने उसे हत्या में निर्दोष और महज असावधानता का दोषी ठहराकर 200/ जुर्माना किया है।

पहला स्वयं सेवक : हत्या और निर्दोषित का कैसा मेल है, परन्तु एक तरह से यह फैसला ठीक ही हुआ है। काले आदमी मुर्दा हो गये हैं, यह बात काले आदमियों को भी अमान्य नहीं है। फिर यदि एक जिन्दा आदमी ने एक मुर्दा को मार दिया तो कोई हर्ज की बात थोड़े ही है। कितने ही काले आदमी चिड़ियों का शिकार सिर्फ शौक के ही लिए करते हैं। उनकी रिपोर्ट तक नहीं की जाती। उस बेचारे को तो अदालत तक जाने का कष्ट उठाना पड़ा।

दूसरा : उसके साथ बेशक अन्याय हुआ। उसे तो उसी लड़की पर नहीं हो सकती तो–रामदीन पर इस रूहानी तकलीफ के लिए नालिश करनी चाहिए।

विश्वम्भरनाथ : मुझे यह हँसी अच्छी नहीं जान पड़ती है। यदि राजनैतिक स्थिति ने हमें कायर न बना दिया होता तो एक दिन में ही यह भेदभाव जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया जा सकता है। अधिक नहीं सिर्फ एक दिन में।

तीसरा : तो क्या आप इस मामले में कोई आन्दोलन करना चाहते हैं?

विश्वम्भरनाथ : नहीं, मेरा विश्वास हो गया है कि जब तक क्षेत्र पहले तैयार न कर लिया जाये तब तक कोई आन्दोलन जैसी चाहिए वैसी सफलता नहीं पा सकता है। इसी उद्देश से मैं पहले राष्ट्रीय शिक्षा प्रचार के काम में हाथ लगाना चाहता हूँ। राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार ही हमें किसी भी श्रेयस्कर आन्दोलन करने के योग्य बना सकेगा।

चौथा : परन्तु यह शिक्षा प्रचार का कार्य बहुत कठिन है। हमारी शक्तियाँ अत्यन्त परिमित हैं और कार्य की विस्तीर्णता अनन्त है।

विश्वम्भरनाथ : भाई ऐसा विचार न करना चाहिए। महत् शक्तियाँ अज्ञात रूप में थोड़े ही घेरे में रहती हैं। प्रकाण्ड वट वृक्ष छोटे से बीज में ही निहित रहता है। एक-एक बूँद में ही समुद्र की व्याप्ति रहती है और, हमारे छोटे से हृदयों में ही परमात्मा की अनन्त और असीम ज्योति छिपी रहती है। केवल विकास की ही आवश्यकता है और उसी विकास के ही लिए हम प्रयत्नशील होना चाहते हैं।

पहला : तो आप किस प्रकार क्या किया चाहते हैं?

विश्वम्भरनाथ : मैं एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रचारक मण्डल की स्थापना का विचार कर रहा हूँ। स्वयंसेवकी की चपरास डालकर स्टेशन आदि पर सभ्यों के बिस्तर आदि ढोकर बहुत धन्यवाद ले चुका हूँ। अब उस जनता के सामने खड़े होने की इच्छा है, जिसे वास्तव में सेवा की आवश्यकता है।

दूसरा : मण्डल के लिए यथेष्ट धन कैसे और कहाँ से प्राप्त होगा।

विश्वम्भरनाथ : मुझे धन और जन के प्रभाव की बाधाएँ ईप्सित संकल्प से न हटा सकें यही परमात्मा से मेरी प्रार्थना है। अपने मण्डल का पहला सदस्य मैं ही बनूँगा और मेरा विश्वास है कि यदि मैं शुद्ध अन्तःकरण से शुद्ध कार्य करूँगा तो मुझे किसी भी सहायता का अभाव न रहेगा। अपने मण्डल का काम करने के लिए मुझे—मैं ही—एक आदमी मिल चुका हूँ और मैं एक की संख्या को कम महत्त्व नहीं देता हूँ।

तीसरा : आप तो बहुत बड़े आशावादी जान पड़ते हैं।

चौथा : तो आप कार्यक्रम कैसा रखना चाहते हैं?

विश्वम्भरनाथ : जो आदमी सालभर में कम से कम पाँच लड़कों या आदमियों को अक्षराभ्यास और सौ देहातियों अथवा अशिक्षितों को इस विषय का ज्ञान करा दे कि उनका हित और अहित क्या है और देश किस ओर अग्रसर हो रहा है और होना चाहता है, वही मण्डल का सदस्य हो सकेगा। यदि समस्त सेवा समितियों के स्वयंसेवक अपना यह उद्देश बना लें तो आजकल की अपेक्षा उनके द्वारा देश की बहुत बड़ी सेवा हो एवं दो चार ही साल में लाखों ऐसे व्यक्ति ही जायँ तो मामूली लिखना पढ़ना सीख जायँ एवं ऐसा कोई भी भारतीय न रहे कि जिसके पास भारत का यथार्थ सन्देश न पहुँच जाए। मैं अपने संकल्पित मण्डल के उद्देश्यानुसार काम शुरू कर

देने वाला हूँ। रामदीन का अनाथ लड़का किसुन मुझे एक विद्यार्थी मिल गया है। बेचारे की माँ भी लड़की के शोक को न सह सकने के कारण मर गयी है।

सब : आपका उद्देश बहुत ऊँचा है। हम सब आपका साथ देने को तैयार हैं।

विश्वम्भरनाथ : इसके साथ ही मैं एक ऐसे राष्ट्रीय महाविद्यालय के लिए भी उद्योग करूँगा कि जहाँ स्वदेशी भावापन्न लड़के कई तरह के हुनर एवं उद्योग धन्धे सीख कर और स्वतन्त्रतापूर्वक उपार्जन करने योग्य होकर निकलें। अब कल इस विषय पर अच्छी तरह विचार करके मसविदा तैयार किया जाय।

[सब जाते हैं]

नवम दृश्य

[स्थान–विश्वम्भरनाथ का घर]

[विश्वम्भरनाथ और सावित्री]

सावित्री : मैं इतना भार कैसे उठा सकूँगी यह मेरी समझ में नहीं आता है।

विश्वम्भरनाथ : क्यों तुम क्या नहीं कर सकती हो। तुम पढ़ने वालियों को कपड़ा सीना, मोजे-गुलूबन्द बुनना आदि तथा साधारण लिखना-पढ़ना, भूगोल हिसाब आदि सब कुछ सिखा सकती हो। मुझे सामने एक विशाल कर्म क्षेत्र दिखाई दे रहा है। ऐसा कोई नहीं है जो मातृभूमि के इन दुर्दिनों में उसका सहायक नहीं हो सके। इस महान कर्मयज्ञ में अशिक्षित गँवार से लेकर महापण्डित तक सबकी आवश्यकता है। यदि तुम्हीं को इस पवित्र कार्य में नियोजित न कर सका तो मैं दूसरों की क्या आशा करूँ!

सावित्री : तुम्हारी जो आज्ञा होगी मैं उसे करने के लिए तैयार हूँ, परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता कि पढ़ने के लिए लड़कियाँ या स्त्रियाँ आयँगी।

विश्वम्भरनाथ : यदि पढ़ने के लिए एक लड़की या एक स्त्री भी तैयार हो तो वही यथेष्ट है। यदि तुम किसी एक लड़की या स्त्री को कर्त्तव्य ज्ञान कराकर उसके हृदय में शिवाजी की माता, अहल्याबाई या लक्ष्मीबाई की आत्मस्मृति जागरूक कर सकीं तो देश कृतकृत्य हो

जायगा, हम और तुम भी धन्य हो जायँगे।

सावित्री : इन बातों से एक अलौकिक आशा का संचार होता है। देखें भगवान सफल मनोरथ करता है या नहीं।

विश्वम्भरनाथ : सफलता हमें अवश्य होगी। चाहे वह इस जन्म में न होकर पर जन्म में ही क्यों न हो। मैं कल से चन्दे के लिए निकलूँगा।

[पटाक्षेप]

दशम दृश्य

[स्थान—एक वन]

[रामदीन]

रामदीन : साले हरलाल ने दारोगा से कहकर मुझे बदमाशी में सजा करा दी। किसी तरह साल भर कट गया, परन्तु इसी बीच में कौंसा एक शिकारी की गोली से मर गयी। पार्वती भी तड़प-तड़प कर मर गयी। चलो, अच्छा हुआ, रोज रोज भूखों मरने से एक दिन हमेशा के लिए मर गयी, झगड़-साफ हो गया! साफ हो गया!! साफ हो गया!!! सुना है किसुन विश्वम्भरनाथ के यहाँ हैं, वे उसे पढ़ाते-लिखाते हैं। अभागे तू भी मर जा; मर क्यों नहीं जाता; मर जा। यह संसार गरीबों के लिए नहीं है। मैं भी क्यों नहीं मर जाता, इस सूने संसार में रहने से तो मर जाना ही अच्छा है, परन्तु नहीं मैं अभी नहीं मरूँगा! नहीं मरूँगा! कह दिया नहीं मरूँगा! जब तक ईमानदारों को ईमानदारी का मजा नहीं चखा दूँगा तब तक नहीं मरूँगा!

[एक डाकू का प्रवेश]

डाकू : (स्वगत) यह पागल तो नहीं है। मालूम तो मामूली आदमी ही होता है। देखूँ। (**रामदीन से**) क्यों जी तुम कौन हो?

रामदीन : क्यों तुम्हें क्या करना है?

डाकू : बतलाते हो कि नहीं?

रामदीन : अरे, तुममें तो जमींदारों और थानेदारों जैसी गुस्सा है। तो मैं नहीं बताऊँगा, नहीं बताऊँगा। चाहे मार डालो।

डाकू : अजी, तुम जानते हो मैं कौन हूँ। मैं चाहूँ तो तुम्हें मैं अभी लूट लूँ।

रामदीन : तुम डाकू हो? तो मैं भी डाकू बनूँगा। उसका घर लूटूँगा उसे जला जलाकर कर मारूँगा। तुमने मुझे अच्छी तरकीब सुझाई। क्यों जी, तुम कुज्जर सिंह तो नहीं हो।

डाकू : **(रामदीन को ऊपर से नीचे तक तीखी नजर से देखकर)** क्या तुम पुलिस के भेदिये हो या किसी के सताये हुए हो? अच्छा; कुछ परवाह नहीं, चलो मैं तुम्हें कुज्जर सिंह से मिला ही दूँ। तुम कोई भी क्यों न हो तुम सरदार का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

रामदीन : चलो, मैं कुज्जर सिंह के पास चलूँगा। जरूर चलूँगा। मैं ईमानदारों की ईमानदारी देखकर ही मरूँगा, अभी नहीं, अभी नहीं।

[दोनों जाते हैं]

एकादश दृश्य

[स्थान–हरलाल की हवेली। रात्रि का समय]

[हरलाल, उनका मुनीम, विश्वम्भरनाथ और जगदीश]

हरलाल : तो तुम रुपया इकट्ठा करके करोगे क्या?

विश्वम्भरनाथ : मैंने अभी आप से कहा नहीं है कि एक राष्ट्रीय औद्योगिक महाविद्यालय के लिए रुपये की ज़रूरत है।

हरलाल : जब किसान और नीचे के आदमी पढ़-लिख जायँगे तो हमारे यहाँ काम कौन करेगा। वे लोग तो बेगार करने से इनकार कर जायँगे। सब लोग बात-बात में कानून छाँटेंगे।

विश्वम्भरनाथ : कानून तो ऐसी कोई बुरी चीज नहीं है। धर्मशास्त्र भी तो एक तरह का कानून ही है। यदि गरीब लोग बेगार न देंगे तो अच्छा ही करेंगे। बेगार तो स्वयं आपको ही न लेनी चाहिए।

हरलाल : सरकार तक के लिए जब बेगार ली जाती है तब हम किस गिनती में हैं।

विश्वम्भरनाथ : सरकार बेगार नहीं लेती है, बल्कि यह कहिए कि कुछ सरकारी नौकर बेगार लेते हैं।

मुनीम : क्या कहा? कलेक्टर और जंट सब नौकर हैं–

विश्वम्भरनाथ : हाँ सरकारी नौकर ही हैं। यदि ये लोग बेगार लेते हैं तो कानून के विरुद्ध काम करते हैं।

मुनीम : तुम कितने रुपयों में कुल हिन्दुस्तान को पढ़ा-लिखा दोगे? जानते

हो यह हिन्दुस्तान कितना बड़ा है?

विश्वम्भरनाथ : जी हाँ जानता हूँ। मैं यह नहीं कहता कि सारे हिन्दुस्तान में मैं ही यह काम करूँगा। एक, दो, दस, पचास जितने भी मनुष्य जीवों को मैं इस विषय में सहायता दे सकूँ वह भी कम नहीं है और आप यह क्या कहते हैं, सिर्फ एक ही मनुष्य हाँ वह मनुष्य सच्चा होना चाहिए—सारे भारतवर्ष के प्रारम्भिक राष्ट्रीय शिक्षा प्रचार के लिए धन एकत्र कर सकता है। मैंने हिसाब लगाया है कि वार्षिक पच्चीस-तीस लाख रुपयों से ही यह काम शुरू किया जा सकता है। इतना तो हमारे देश में लड़कों की विवाह शादियों के व्यर्थ के आमोद-प्रमोद में ही खर्च हो जाता होगा।

मुनीम : पच्चीस-तीस लाख रुपये की रकम को तुम मामूली समझते हो? कभी तुम्हारे बाप रघुनाथप्रसाद ने दस हजार रुपये भी देखे हैं?

जगदीश : इनका व्यवहार बहुत अभद्रता का है। चलो, विश्वम्भरनाथ, यहाँ से चलें।

हरलाल : नहीं साहब, ऐसा न करो। हम गरीब आदमी हैं, इतने नाराज न हों। मुनीम जी आप क्या कहते हैं। इन लोगों के लिए दस पचास लाख कोई बड़ी बात है। इतने तो इन लोगों के कोनों में पड़े रहते होंगे।

विश्वम्भरनाथ : आप लोग चाहे जैसी खिल्लियाँ उड़ावें, मुझे परवाह नहीं है। मैं तो यही कहता हूँ कि कोई एक ही यथार्थात्मा उठ खड़ा हो तो उसके लिए ऐसे शुभ कार्य के लिए ऐसे महान् अनुष्ठान के लिए पचीस-तीस लाख रुपये सालाना इकट्ठा करना कठिन नहीं है। कई लाख तो विद्यालयों में उद्योग-धन्धों अथवा तरह-तरह के कला-कौशलों की शिक्षा देकर, उन्हीं के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। पचीस-तीस लाख की तो सिगरेटें और तम्बाकू ही हम लोग फूँक डालते होंगे। यदि साढ़े इकतीस करोड़ मनुष्य नामधारी प्राणियों में से सिर्फ तीस लाख आदमी ही पाँच-पाँच पैसे माहवारी ही इसके लिए दें तो भी हम अपनी राष्ट्रीय प्रारम्भिक शिक्षा का यथेष्ट विस्तार कर सकते हैं।

हरलाल : शाबास, बहादुर शाबास! खूब दूर की सोची!

विश्वम्भरनाथ : यदि दूर की बातें न सोची जातीं तो आपको मोटरों, रेलों और हवाई जहाजों का अस्तित्व ही न दिखाई देता।

[जवाहिरलाल का प्रवेश]

जगदीश : तो आप इसमें कुछ सहायता कर सकते हैं?

हरलाल : मुनीम जी, इन्हें चार आने दे दो। बस साहब और ज्यादा देने की हमें श्रद्धा नहीं है।

जवाहिरलाल : (**मुँह बनाकर विकृत अनुकरण करता हुआ**) बस साहब, और ज्यादा देने की हमारी श्रद्धा नहीं है।

विश्वम्भरनाथ : हाँ साहब, आप हमें चार आने ही दिला दीजिए। चार आनों में तो पूरे सोलह पैसे होते हैं। मैं तो एक-एक पैसा लेने के लिए पैसा-कोष स्थापित कर रहा हूँ।

हरलाल : क्यों जवाहिरलाल, तुम नहीं मानते? तुम पीटे जाओगे।

जवाहिरलाल : (**पहले की तरह**) तुम पीटे जाओगे। ई-ई-ई-ई—(**भाग जाता है**)

हरलाल : (**हँसकर**) यह बड़ा शैतान हो गया है।

मुनीम : इसे रामप्रताप ने बिगाड़ रखा है।

जगदीश : बड़ों के सुपुत्र हैं, ऐसे ही होने चाहिए।

[बाहर बन्दूकों के फायर और शोर होता है]

हरलाल : (**चौंककर**) देखो तो मुनीम जी यह कैसा शोर है।

[मुनीम उठकर जाता है]

विश्वम्भरनाथ : अरे, यह शोर तो बढ़ता ही जाता है। मैं भी देखूँ क्या बात है।

[सब उठकर खड़े होते हैं]

[एक आदमी का प्रवेश]

आगन्तुक : सरकार, भागिए। डाकू आ गये।

[सशस्त्र डाकुओं का प्रवेश]

एक डाकू : सरकार, कहीं न भागिए। हमारे पहरे में रहिए।

[डाकू सबको घेर लेते हैं]

डाकुओं का सरदार : हरलाल कौन है?

हरलाल : यह है। (**विश्वम्भरनाथ को देखाकर**) मुझे जाने दीजिए मैं तो इनके यहाँ काम से आया था। (**जाने को उद्यत होता है**)

एक डाकू : अगर किसी ने भागना चाहा तो गोली मार दी जायगी। सब जहाँ के तहाँ खड़े रहो।

[डाकू अपनी बन्दूक सँभालते हैं]

दूसरा : अरे यही तो है हरलाल जो दूसरे को बताकर आप चम्पत होना चाहता है।

सरदार : अरे यह तो बड़ा बदमाश मालूम होता है। देखो, लूटलाट कर फिर इसे जान से मार डालो। बादलसिंह तुम भीतर जाकर सब औरतों को निकल जाने के लिए कहो। देखो उन्हें न सताया जाय।

एक डाकू : अच्छा।

[कुछ डाकुओं के साथ जाता है]

सरदार : तुम लोहे की सन्दूक की कुंजी बतलाओ।

हरलाल : मैं हरलाल नहीं हूँ। वह तो भाग गया है। राम दुहाई, मुझे छोड़ दीजिए। मैं कुछ नहीं जानता।

[बाहर बन्दूकों की आवाज़ और मारो लूटो की आवाज़ होती है]

सरदार : अभी तो इसे (विश्वम्भरनाथ को दिखाकर) हरलाल बताता था! अब वह भाग गया है? अच्छा इसे मशालों से जलाकर अच्छी तरह पीटो तो, तभी इसके होश ठिकाने आयँगे।

[डाकू वैसा ही करते हैं, हरलाल चिल्लाता है]

विश्वम्भरनाथ : सेठ जी जो कुछ हो बतला दीजिए नहीं तो ये लोग मार डालेंगे।

सरदार : तुम्हारा नाम? तुम्हें कहीं देखा सा है।

विश्वम्भरनाथ : मेरा नाम विश्वम्भरनाथ है।

सरदार : विश्वम्भरनाथ! वह कोई दूसरा होगा। हाँ, तुम कभी कीरतलाल के मेले पर स्वयंसेवक बन कर गये थे।

विश्वम्भरनाथ : हाँ एक बार गया तो था। क्यों?

सरदार : वहाँ तुमने किसी लड़की को डूबने से बचाया था।

विश्वम्भरनाथ : हाँ एक लड़की तालाब में गिर पड़ी थी। उस बात से मतलब? वह लड़की बड़ी भोली थी।

सरदार : वह मेरी ही लड़की थी। तुमने उस दिन उसे डूबने से बचा लिया था, किन्तु उसे मैं न बचा सका। अपनी अकेली बिना माँ की बेटी को न बचा सका। मैं बेगार में पकड़ लिया गया, कई दिन बाहर रहना पड़ा। बेचारी घर पर तड़प-तड़पकर मर गयी। मैं बीमारी के समय उसके पास न रह सका। इससे सेठ ने भी बेगार करा-करा कर जितना धन इकट्ठा किया होगा। वह लूट लूँगा, यह हवेली उजाड़ दूँगा और ऐसी ही हजारों हवेलियाँ मिट्टी में मिला दूँगा तभी कुछ चैन पाऊँगा।

विश्वम्भरनाथ : आपकी बात सुनकर आप से कुछ कहने की इच्छा है।

सरदार : हाँ, हाँ कहो, जल्दी कहो। फिर मैं जल्दी अपना काम कर करा डालूँ। ज्यादा समय नहीं है।

विश्वम्भरनाथ : तो आप यह लूटपाट बन्द कर दीजिए, यही मेरी प्रार्थना है।

सरदार : मैं यह बात नहीं मान सकता। यही लोग गरीबों को पकड़वाकर अपने यहाँ बेगार कराते हैं और अफसरों की बेगार करवाते हैं। जानते हो सामने की यह बगीची गरीबों के खून से सींची जाकर

हरी भरी की गयी है। इस हवेली की हरेक ईंट और पत्थर गरीबों के आँसुओं से सने हुए गारे से खड़े किये गये हैं। लूटने के समय मैं दया नहीं करूँगा। इन लोगों में भी दया नहीं है। ये लोग भी लुटेरे ही हैं और हम भी लुटेरे हैं। तुम इसके लिए कुछ मत कहो। हम आज अच्छी तरह से लूटेंगे, खूब लूटेंगे। तुम्हें और तो कुछ नहीं कहना है?

विश्वम्भरनाथ : जब आप कुछ सुनना ही नहीं चाहते तो आप से कुछ कहना ही व्यर्थ है। मैंने समझा था कि मैं आप से कुछ कह सकता हूँ।

सरदार : मेरे हृदय में इस समय आग सी धधक रही है। फिर भी तुमने एक बार मेरी लड़की बचाई थी, मैं तुम्हारी बात फिर सुनने को तैयार हूँ। इस बात के सिवा तुम जो कुछ कहोगे मैं मानने को तैयार हूँ।

विश्वम्भरनाथ : मैं और कुछ नहीं कहना चाहता। मेरी यही इच्छा है कि आप यह पाप कर्म न करें। आप सताये हुए मालूम होते हैं। आपको आत्मबल से दैवी बल से अत्याचारियों का मुकाबला करना चाहिए। हथियार उठाना पशुओं का बल है। आदमियों की तरह खड़े हो जाइए। गरीबों को समझा कर उन्हें अत्याचार या अन्याय की बात न मानने के लिए तैयार कीजिए। अपने आप तकलीफ सहकर अन्याय का विरोध कीजिए, फिर आपके ऊपर कोई अत्याचार न कर सकेगा। इस तरह तो आप जिस अत्याचार से ऊब गये हैं वह भी दूर न हो सकेगा और आप भी कानून की बलवान भुजाओं से जबरन बैठा दिये जायँगे। आपको जब बेगार अन्याय युक्त मालूम होती थी तो किसी भी दबाव में आकर बेगार के लिए न जाना चाहिए था। मर जाना अच्छा था, परन्तु बेगार के लिए न जाना था। यदि बलवानों के हाथों अत्याचार का विरोध करते हुए आप आत्म बलिदान कर सके होते तो ईश्वर का सिंहासन डोल उठता और वह अत्याचार जड़ से मिट जाता। अत्याचार को रोकने के लिए आप तो दूसरा अत्याचार करते हैं। यह परमात्मा को कभी अच्छा नहीं लग सकता। पाप पुण्य के ही द्वारा जीता जा सकता है, पाप से ही पाप नहीं जीता जा सकता। इसीलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप यह काम छोड़ दीजिए।

सरदार : अच्छा तुम्हारे कहने से मैं, आज डाका नहीं डालूँगा। तुम्हारी इन बातों पर मैं फिर अकेले में विचार करूँगा।

[सरदार एक सांकेतिक सीटी बजाता है और सब डाकू लूटना

छोड़कर उसके पीछे तुरन्त चले जाते हैं।]

हरलाल : आज आपने मुझे बचा लिया। मैंने आपसे जो कुछ कहा सुना हो आप उसे भूल जाइए और उसके लिए क्षमा कीजिए।

[विश्वम्भरनाथ के पैरों पर गिर पड़ता है]

विश्वम्भरनाथ : अरे, अरे, आप यह क्या करते हैं। मैंने तो कुछ भी नहीं किया है। यह ईश्वर ही कृपा मालूम होती है कि आप इस प्रकार सकुशल बच गये। इसके लिए आपको बधाई!

हरलाल : आज मेरा तो सर्वस्व जा चुका था। आपने ही मुझे बचा लिया। अब मेरा विश्वास हो गया है कि आप जो कुछ करना चाहते हैं वह बहुत अच्छा है। मैं आपको विद्यालय के लिए 25,000 रुपये दूँगा।

विश्वम्भरनाथ : नहीं, नहीं, इतना आपसे नहीं चाहिए। आप आसानी से जितना दे सकें उतना ही दे दीजिएगा। हाँ मैं एक प्रार्थना अब अवश्य करूँगा कि आप आज से बेगार की प्रवृत्ति का विसर्जन कर दीजिए, क्योंकि आप इसके कुपरिणाम का एक बहुत बड़ा प्रमाण पा चुके हैं। यदि आप इतना ही कह दें तो मैं समझूँगा कि मैंने आपसे बहुत कुछ पा लिया।

हरलाल : अच्छी बात है मैं आपकी यह बात मानता हूँ, साथ ही पचीस हजार रुपये भी विद्यालय के लिए दूँगा। वास्तव में इतना दान तो कुछ भी नहीं है। न मालूम आज एक लाख का नुकसान होता या दो लाख का। पचीस हजार तो कल शेयर की दलाली के मुनाफे के ही कलकत्ते की कोठी से साझीदार ने भेजे थे। वे तो अलग ज्यों के त्यों ही रखे हैं।

विश्वम्भरनाथ : बड़ी प्रसन्नता हुई कि आज आप बहुत बड़े संकट से बाल-बाल बच गये। परमात्मा आपकी बुद्धि को सात्विक करके आपको कुशल पूर्वक रखे।

[पटाक्षेप]

मैथिलीशरण गुप्त द्वारा भास रचित नाटकों का अनुवाद

- स्वप्न वासवदत्ता
- प्रतिमा
- अभिषेक
- अविमारक

स्वप्न वासवदत्ता

स्वप्न वासवदत्ता

पात्र

पुरुष

राजा	:	वत्सदेश का राजा उदयन
यौगन्धरायण	:	उदयन का मन्त्री
विदूषक (वसन्तक)	:	उदयन का नर्मसचिव
ब्रह्मचारी	:	लावाणक ग्राम का निवासी
कंचुकी	:	राजकुल का एक सेवक
सम्भषक भट	:	पद्मावती के दो सेवक

स्त्रियाँ

वासवदत्ता	:	उदयन की पहली रानी (यही आवन्तिका है)
पद्मावती	:	मगधराज दर्शक की बहिन
तापसी		
चेटी		
मधुकरिका पद्मनिका	:	पद्मावती की सखी और परिचारिकाएँ
धात्री द्वय	:	पद्मावती और वासवदत्ता की उपमाताएँ
विजया	:	वत्सराज की प्रतिहारी

श्रीगणेशाय नमः

स्वप्न वासवदत्ता

[नान्दी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश]

सूत्रधार : *उदयन वेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।*
*पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तक्रमौ भुजौ पाताम्॥**
आर्यजनों से निवेदन है—यह क्या! मेरे निवेदन करने के समय यह शब्द कैसा? देखूँ, क्या बात है।

[नेपथ्य में]

हटिए, हटिए, सज्जनो हटिए!

सूत्रधार : समझ गया।
मगध-राज-कन्या मन भाई,
पद्मावती तपोवन आई।
नृप के प्रिय सेवक इस कारण
करते हैं लोगों को वारण।

[प्रस्थान]

इति स्थापना

प्रथमांक

[दो भटों का प्रवेश]

भट : हटिए, हटिए, सज्जनो हटिए!

---

* उदयकालीन नवीन चन्द्रमा के समान वर्ण वाली, आसव पान से उत्पन्न हुए विशेष बल (अथवा अवल-शैथिल्य) से युक्त, लक्ष्मी (शाभा) के आविर्भाव से परिपूर्ण और बसन्त के समान सुन्दर (बसन्त कालोचित) वेषभूषा से सज्जित अथवा बसन्त नाम के तालवृक्ष के समान श्री बलभद्र की दोनों भुजाएँ आपकी रक्षा करें।

[परिव्राजक वेशधारी यौगन्धरायण और आवन्तिका वेशधारिणी वासवदत्ता का प्रवेश]

यौगन्धरायण : **(कान लगाकर)** यह क्या, यहाँ भी हटिए-हटिए!

वन्य फलों से तुष्ट सदा जो पूजनीय आश्रमवासी,
वल्कल वस्त्र पहनने वाले, शान्त, धीर, दृढ़ विश्वासी।
चपल भाग्य गर्वित उद्धत यह उनको कौन हटाता है,
निभृत तपोवन को आज्ञा से ग्राम बनाने जाता है।

वासवदत्ता : आर्य, हमको यह कौन हटाता है?

यौगन्धरायण : जो अपने आपको धर्म-मार्ग से हटाता है, देवी।

वासवदत्ता : आर्य, मैं यह पूछती हूँ, क्या हम लोग भी हटा दिये जायेंगे?

यौगन्धरायण : देवी, अज्ञात दैव इसी प्रकार अवज्ञा करता है।

वासवदत्ता : आर्य, मुझे परिश्रम उतना नहीं खलता, जितना यह अपमान।

यौगन्धरायण : देवी, ये तो आपके लिए भोगकर छोड़ी हुई बातें हैं। इसलिए इस पर ध्यान मत दीजिए।

अभिमत विषयों का तुमको भी मिला प्रथम सुख भोग,
स्वामी की जय होने पर फिर आवेगा वह योग।
काल किया करता है जग में परिवर्तन का काम,
चक्रनेमि-सम भाग्य-पंक्ति भी चलती है अविराम।

भट : हटिए, सज्जनो, हटिए!

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : ठहरो, सम्भषक ठहरो, इस प्रकार लोगों को मत हटाओ। देखो,

नृप-निन्दा के हेतु ये वचन कहो मत क्रूर,
रहते यहाँ मनस्वि-जन पुर-परिभव तज दूर।

भट : जो आज्ञा, आर्य।

[प्रस्थान]

यौगन्धरायण : यह भला आया। वत्से! आओ इसके पास चलें।

वासवदत्ता : आर्य, यही कीजिए।

यौगन्धरायण : **(पास जाकर)** अजी, यह हटो हटो किसलिए?

कंचुकी : हे तपस्वी!—

यौगन्धरायण : **(स्वगत)** इसका तपस्वी कहना तो बड़ा अच्छा है, परन्तु वस्तुतः अनुपयुक्त होने के कारण मन में नहीं बैठता।

कंचुकी : सुनिए, ये हमारे महाराज दर्शक की भगिनी पद्मावती हैं। महाराज की माता आश्रम में वास करती हैं। राजकुमारी उन्हीं के दर्शन

करने आयी थीं। अब उनकी आज्ञा से राजगृह लौट रही हैं। आज इसी आश्रम में ठहरेंगी। अतएव–

इच्छा पूर्वक आप लोग सब अपना पुण्य-कार्य कीजे
कन्द-मूल-फल-फूल-तीर्थ जल-समिध-दर्भ-दूर्वा लीजे।
तपस्वियों के धर्म-कार्य में राज-सुता सद्धर्म-रता,
विघ्न डालना नहीं चाहती, है ऐसी ही कुलव्रता।

यौगन्धरायण : (स्वगत) ऐसा! यही वह मगधराज पुत्री पद्मावती है, जिसके लिए पुष्पकभद्र आदि सिद्धों ने भविष्यद्वाणी की थी कि यह हमारी राजमहिषी होगी। तभी–

होता है संकल्प से प्रकट द्वेष या मान।
ममता होती है मुझे प्रभु की पत्नी जान॥

वासवदत्ता : (स्वगत) यह राजपुत्री है यह जानकर मेरे मन में बहिन का-सा स्नेह होता है।

[चेटी सहित सपरिकर पद्मावती का प्रवेश]

चेटी : आइये, राजकुमारी। आश्रम में प्रवेश कीजिए।

[बैठी हुई तापसी दिखाई देती है]

तापसी : स्वागत, राजपुत्री!

वासवदत्ता : (स्वगत) यही वह राजकुमारी है। जैसा इसका कुल है वैसा ही रूप।

पद्मावती : आर्ये, प्रणाम!

तापसी : चिरंजीव होओ, बेटी। आओ, तपोवन तो अतिथि जनों का अपना ही घर है।

पद्मावती : आर्ये, मैं भी यही समझती हूँ। आपके अनुग्रहपूर्ण आदर-सत्कार से मैं कृतकृत्य हुई।

वासवदत्ता : (स्वगत) केवल रूप ही नहीं, इसकी वाणी भी मधुर है।

तापसी : **(चेटी के प्रति)** भद्रे, राजभगिनी का किसी राजा के साथ अभी विवाह निश्चित नहीं हुआ?

चेटी : उज्जैन के राजा प्रद्योत ने इनके साथ विवाह की इच्छा से दूत भेजा है।

वासवदत्ता : (स्वगत) यही हो, यही हो, अब तो यह मेरी आत्मीय हो गयी?

तापसी : अहा! कैसा मनोरम रूप है। और सुनते हैं दोनों राजकुल भी महान् हैं।

पद्मावती : **(कंचुकी के प्रति)** आर्य, आपने देखा, क्या मुनि जन हमें अनुगृहीत करेंगे? जिसे जो अभीष्ट हो उसे स्वीकार करने के लिए तपस्वियों

से निवेदन कीजिए।

कंचुकी : जो आज्ञा। हे आश्रमवासी तपस्वियो, आप लोग सुनिए—मगध-राज-पुत्री पद्मावती श्रद्धा और विश्वासपूर्वक धर्म के लिए अर्थ द्वारा आप सबको आमन्त्रित करती हैं।

घट चाहिए किसको, तथा पट कौन लेना चाहता,
गुरु को सुदीक्षित शिष्य है क्या द्रव्य देना चाहता?
कहिए जिसे जो इष्ट हो, देकर वही श्रद्धा युता,
परितोष पाना चाहती है धर्म-शीला नृप-सुता॥

यौगन्धरायण : **(स्वगत)** अहा, उपाय मिल गया। **(प्रकाश)** अजी, मैं एक अर्थी हूँ।

पद्मावती : अहा, मेरा तपोवन आना सफल हो गया।

तापसी : इस आश्रम के निवासी तो सब प्रकार से सन्तुष्ट हैं। यह कोई आगन्तुक जान पड़ता है।

कंचुकी : कहिए, आपको क्या चाहिए?

यौगन्धरायण : यह मेरी बहिन है। इसका स्वामी परदेश गया है। मेरी इच्छा है कि कुछ काल के लिए राजकुमारी इसका परिपालन करें।

नहीं चाहिए मुझे वसन, धन भोग कहीं कुछ,
पहने मैंने वृत्ति हेतु काषाय नहीं कुछ,
मेरी भगिनी की सुशील-रक्षा यह कन्या,
कर सकती है धर्म धारिणी धीरा धन्या॥

वासवदत्ता : **(स्वगत)** हाय, आर्य यौगन्धरायण मुझे यहाँ छोड़े जाते हैं। जो हो, वे बिना सोचे विचारे कुछ नहीं करेंगे।

कंचुकी : राजकुमारी, इस परिव्राजक की याचना बहुत बड़ी है। क्योंकि—

तप-जीवन-धन-दान में सुख ही सुख सब ओर,
थाती रखने में सदा केवल कष्ट कठोर।

पद्मावती : आर्य, पहले वैसी घोषणा करके अब यह विचार करना अनुचित है। जो ये कहते हैं वही कीजिए।

कंचुकी : राजकुमारी, आपने अपने अनुरूप ही बात कही।

चेटी : ऐसी सत्यशीला राजकुमारी चिरजीवी हों।

तापसी : भद्रे, चिरंजीवी हो।

कंचुकी : ऐसा ही हो। **(जाकर)** हे तपस्वी, आपकी बहन के परिपालन का भार राजकुमारी स्वीकार करती हैं।

यौगन्धरायण : मैं अनुगृहीत हुआ। **(वासवदत्ता के प्रति)** वत्से, राजकुमारी के समीप जाओ।

वासवदत्ता : (स्वगत) क्या गति है! मैं अभागिनी यह चली!

पद्मावती : आओ, आओ, अब तो तुम मेरी आत्मीय हो गयी।

तापसी : आकृति से यह भी राजपुत्री जान पड़ती है।

चेटी : आर्या ने ठीक कहा। मुझे भी ये सुख से पली हुई जान पड़ती हैं।

यौगन्धरायण : (स्वगत) अहा, मेरा आधा भार तो उतरा। मंत्रियों के साथ जो परामर्श हुआ था वही हुआ। महाराज के पुनः राज्य प्राप्त करने पर जब देवी वासवदत्ता उनके निकट पहुँचेंगी तब श्री मगध-राजपुत्री ही उनके विषय में मेरी साक्षिणी होंगी।

आपत्ति जानी थी, उन्होंने, था जिन्होंने कह दिया—
'शुभ लक्षिणी पद्मावती होगी महीपति की प्रिया।'
विश्वास कर उन पर किया है कार्य यह मैंने सभी,
विधि भी परीक्षित सिद्ध वाक्य न टाल सकता है कभी।

[एक ब्रह्मचारी का प्रवेश]

ब्रह्मचारी : (ऊपर देखकर) मध्याह्न हो गया। मैं बहुत थक गया हूँ। कहाँ विश्राम करूँ? (घूमकर) देखता हूँ, यहाँ सब ओर तपोवन है। तभी तो—

शंकारहित अचकित हरिण आनन्द से हैं चर रहे,
होकर दया-रक्षित विटप फूलों फलों से भर रहे।
गोकुल कपिल हैं बहुत-से कृषि हीन प्रान्तर है पड़ा,
संशय नहीं बहु धूम धूसर यह तपोवन है बड़ा॥

तो यहीं चलूँ। (प्रवेश करके) अरे, यह तो कोई आश्रम के बाहर का मनुष्य जान पड़ता है। (दूसरी ओर देखकर) अथवा यहाँ तपस्विजन भी तो होंगे! तब जाने में दोष क्या है? अरे, इधर तो स्त्रियाँ हैं!

कंचुकी : आप स्वच्छन्दतापूर्वक आइए। आश्रम तो सभी के लिए है।

वासवदत्ता : अरे!

पद्मावती : आर्या को परपुरुष का दर्शन उचित नहीं है। जो हो, मुझे अपनी धरोहर की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिए।

कंचुकी : हम लोग यहाँ पहले से आये हैं। आप हमारा अतिथि-सत्कार स्वीकार कीजिए।

ब्रह्मचारी : तथास्तु। (आचमन करके) मेरी थकावट मिट गयी।

यौगन्धरायण : आर्य, कहाँ से आते हैं, कहाँ जाते हैं, और आपका निवास कहाँ है?

ब्रह्मचारी : मैं राजगृह का निवासी हूँ। वत्स-प्रदेश में लावाणक नामक गाँव

है, मैं वहाँ वेदों का विशेष अध्ययन करता था।

वासवदत्ता : (स्वगत) हा, लावाणक! लावाणक नाम सुनकर मेरा दुःख फिर नया-सा हो गया है।

यौगन्धरायण : तो क्या आपका अध्ययन पूरा हो गया?

ब्रह्मचारी : अभी नहीं।

यौगन्धरायण : फिर आप कैसे चले आये?

ब्रह्मचारी : वहाँ एक दारुण दुर्घटना हो गयी।

यौगन्धरायण : सो कैसी?

ब्रह्मचारी : वहाँ उदयन नाम का राजा वास करता है।

यौगन्धरायण : महाराज उदयन का नाम तो हमने भी सुना है—उनका क्या समाचार है?

ब्रह्मचारी : अवन्ती राजपुत्री वासवदत्ता उसकी अत्यन्त प्रिय पत्नी थी।

यौगन्धरायण : अच्छा, फिर?

ब्रह्मचारी : राजा आखेट करने गया था। इसी बीच में वहाँ आग लगने से सारा गाँव जल गया और साथ में वह भी जल गयी।

वासवदत्ता : (स्वगत) झूठ! झूठ! मैं अभागिनी तो यह जीती हूँ।

यौगन्धरायण : तब, तब।

ब्रह्मचारी : तब उसे बचाने के लिए मन्त्री यौगन्धरायण भी आग में कूद पड़ा।

यौगन्धरायण : मन्त्री भी गिर पड़ा! तब?

ब्रह्मचारी : आखेट से लौटने पर राजा ने जब यह वृत्तान्त सुना तब उसके वियोग-जनित सन्ताप से विकल होकर वह भी अग्नि में जल मरने को उद्यत हो गया। अमात्यों ने बड़ी कठिनाई से उसे रोका।

वासवदत्ता : (स्वगत) जानती हूँ, जानती हूँ, अपने ऊपर आर्यपुत्र का अनुग्रह!

यौगन्धरायण : तब, तब।

ब्रह्मचारी : तब, जलने से बचे हुए उसके देहोपमुक्त आभूषणों को हृदय से लगाकर राजा मूर्च्छित हो गया।

सब : हाय! हाय!

वासवदत्ता : (स्वगत) आर्य यौगन्धरायण की इच्छा पूरी हो।

चेटी : राजकुमारी! ये आर्या हो रही हैं!

पद्मावती : ये बड़ी पर दुःख-कातरा हैं।

यौगन्धरायण : इसका क्या कहना। मेरी बहिन बड़ी ही सहृदया है। फिर क्या हुआ?

ब्रह्मचारी : फिर धीरे-धीरे राजा को चेतना आयी।

पद्मावती : अहा, बच गये! मूर्च्छित हो गये सुनकर मेरा हृदय सूना-सा हो

गया था।

यौगन्धरायण : फिर, फिर?

ब्रह्मचारी : तब पृथ्वी पर पड़े रहने से धूल धूसरित शरीर वाला वह राजा अचानक उठकर "हा, वासवदत्ते! हा अवन्तिराजपुत्रि! हा प्रिये! हा, प्रिये शिष्ये!" इस प्रकार न जाने क्या क्या विलाप करने लगा। अधिक क्या कहूँ—

चकवा चकवी बिना कभी यों विकल नहीं होता है,
कोई अन्य वियोगी इतना धैर्य नहीं खोता है।
मान रहा है पति यों जिसको धन्य वही सुकुमारी,
जली हुई भी प्रेमामृत से जीती है वह नारी।

यौगन्धरायण : किसी अमात्य ने उसे प्रकृतिस्थ करने का प्रयत्न नहीं किया?

ब्रह्मचारी : रुमण्वान नाम के एक मन्त्री ने इस सम्बन्ध में बड़ा प्रयत्न किया। उसकी दशा भी बड़ी कारुणिक है।

नृप सम दुःखी रोता है वह, सूख गया मुख मण्डल है,
कहाँ वेश-भूषा? भोजन भी छूटा, हुआ क्षीण बल है।
निशि-दिन नृप सेवा करता है सह कर यों दुख दुस्सह भी,
प्रभु न करे, नृप मरे कहीं तो मर जावेगा फिर वह भी।

वासवदत्ता : (स्वगत) सन्तोष की बात है! आर्यपुत्र योग्य रक्षक के हाथों में पहुँच गये।

यौगन्धरायण : (स्वगत) अहो, रुमण्वान बड़ा भार उठा रहा है। क्योंकि—

उतर गया है मेरा भार,
किन्तु उसे श्रम हुआ अपार;
अवलम्बित हैं जिस पर भूप,
वह सबका अवलम्बन रूप।

(प्रकट) अब तो महाराज प्रकृतिस्थ हैं?

ब्रह्मचारी : यह मैं नहीं जानता। "यहीं उसके साथ हँसा हूँ, यहीं उसके साथ बातें की हैं, यहीं उसके साथ बैठा हूँ, यहीं उसके साथ प्रणयकलह किया है, यहीं उसके साथ सोया हूँ," इस प्रकार विलाप करते हुए उस राजा को राजमन्त्री किसी प्रकार गाँव से लेकर चले गये। उस राजा के चले जाने से वह गाँव ऐसा हो गया मानो आकाश से नक्षत्र समेत चन्द्रमा चला गया हो। इस कारण मैं भी वहाँ से चला आया।

तापसी : निश्चय वह राजा बड़ा गुणवान है, आगन्तुक भी जिसकी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं।

चेटी : राजकुमारी, क्या वह किसी दूसरी स्त्री का पाणिग्रहण करेगा?

पद्मावती : यही मैं सोचती हूँ।

ब्रह्मचारी : अब मैं आपसे विदा माँगता हूँ।

कंचुकी और यौगन्धरायण : अच्छा तो, आपकी अर्थ-सिद्धि हो।

ब्रह्मचारी : तथास्तु

(प्रस्थान)

यौगन्धरायण : आपकी अनुज्ञा हो तो मैं भी जाऊँ।

कंचुकी : राजकुमारी, आप अनुज्ञा दें तो ये भी जाने की इच्छा करते हैं।

पद्मावती : आर्य के बिना इनकी बहिन उत्कण्ठित होंगी।

यौगन्धरायण : ऐसा भला संग पाकर क्यों उत्कण्ठित होगी? **(कंचुकी की ओर देखकर)** तो मैं चलूँ।

कंचुकी : जाइए—फिर मिलने के लिए!

यौगन्धरायण : तथास्तु।

(प्रस्थान)

कंचुकी : अब भीतर चलिए।

पद्मावती : **(तापसी के प्रति)** आर्ये, वन्दे!

तापसी : बेटी अपने अनुरूप वर पाओ।

वासवदत्ता : **(तापसी के प्रति)** आर्ये, मैं भी प्रणाम करती हूँ।

तापसी : तुम भी शीघ्र अपने पति को प्राप्त करो।

वासवदत्ता : अनुगृहीत हुई।

कंचुकी : तो अब चलिए, राजकुमारी। इस समय—

खग बसेरों को चले, मुनिजन नहाने जा रहे;
वह्नि तेज बढ़ा, धुएँ के जाल शोभा पा रहे।
दूर नीचे सूर्य भी संक्षिप्त किरणें कर अहा,
अस्त शिखरों में निरन्तर रथ घुमाकर जा रहा।

(सबका प्रस्थान)

इति प्रथमांक

द्वितीयांक

[चेटी का प्रवेश]

चेटी : कुंजरिके, कुंजरिके! राजकुमारी पद्मावती कहाँ हैं? क्या कहा?

माधवी-लता-मण्डप के समीप गेंद खेल रही हैं? तो मैं वहीं चलूँ (घूमकर) अहा, राजकुमारी तो ये रहीं! क्या मनोहर मुद्रा है? कानों में कर्ण-फूल झूल रहे हैं। व्यायाम-जनित परिश्रम से मुख पर पसीने की बूँदें झलक रही हैं। गेंद खेलती हुई इसी ओर आ रही हैं। अच्छा, पास जाऊँ।

(प्रस्थान)

इति प्रवेशक

[वासवदत्ता के साथ गेंद खेलती हुई सपरिकर पद्मावती का प्रवेश]

वासवदत्ता : सखी, यह है तुम्हारी गेंद।

पद्मावती : आर्ये, अब रहने दो।

वासवदत्ता : सखी, बहुत देर तक गेंद खेलते रहने से तुम्हारे ये लाल हाथ और भी अधिक लाल होकर पराये-से हो गये हैं।

चेटी : खेलो, खेलो, राजकुमारी, जी भर कर खेलो, जब तक तुम्हारा रमणीय कन्याभाव है।

पद्मावती : आर्ये, क्या तुम मेरी हँसी उड़ाती हो?

वासवदत्ता : नहीं, नहीं सखी। आज तुम बहुत ही शोभित हो रही हो। मुझे तो चारों ओर तुम्हारा ही वर-वदन दिखाई देता है।

पद्मावती : बस, अब और उपहास रहने दो।

वासवदत्ता : बहुत अच्छा, महासेन की भावी वधू, मैं चुप हूँ।

पद्मावती : यह महासेन कौन हैं?

वासवदत्ता : उज्जयिनी में प्रद्योत नाम के एक राजा हैं। विपुल सैन्य-बल के कारण उन्हीं को महासेन कहते हैं!

चेटी : हमारी राजकुमारी की उस राजा के साथ सम्बन्ध करने की इच्छा नहीं है।

वासवदत्ता : तब किसके साथ सम्बन्ध करने की इच्छा है?

चेटी : गुणवान वत्सराज उदयन के साथ।

वासवदत्ता : (स्वगत) अच्छा, आर्यपुत्र को वरना चाहती है! (प्रकट) क्यों?

चेटी : राजकुमारी की कृपा।

वासवदत्ता : (स्वगत) समझ गयी, समझ गयी! यह भी उनके लिए पागल है।

चेटी : यदि वह राजा कुरूप हुआ तो?

वासवदत्ता : (अचानक) नहीं, नहीं, वे बड़े दर्शनीय हैं।

पद्मावती : आर्ये, तुम कैसे जानती हो?

वासवदत्ता : (स्वगत) आर्यपुत्र के पक्षपात के कारण मुझसे भूल हो गयी! अब, क्या करूँ? हाँ, (प्रकट) उज्जयिनी के लोग ऐसा ही कहते हैं।

पद्मावती : ठीक है। उज्जयिनी के लिए वे दुर्लभ नहीं हैं। सौन्दर्य सबके लिए प्रिय और सौभाग्य का विषय होता है।

(धात्री का प्रवेश)

धात्री : राजकुमारी की जय हो। आपका सम्बन्ध निश्चित हो गया।

वासवदत्ता : आर्ये, किसके साथ?

धात्री : वत्सराज उदयन के साथ।

वासवदत्ता : वे कुशलपूर्वक हैं?

धात्री : हाँ, सकुशल हैं, और यहीं आये हैं। उन्होंने राजकुमारी का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है।

वासवदत्ता : बड़ी अनहोनी हुई।

धात्री : कैसी अनहोनी?

वासवदत्ता : कुछ नहीं। सन्ताप के कारण वे उदासीन हो सकते हैं।

धात्री : आर्ये, शास्त्रज्ञ महा पुरुषों का हृदय शीघ्र ही प्रकृतिस्थ हो जाता है।

वासवदत्ता : आर्ये, क्या उन्होंने स्वयं ही ब्याह की इच्छा प्रकट की है?

धात्री : नहीं, नहीं। वे यहाँ किसी अन्य प्रयोजन से आये थे। उनका कुल, रूप, गुण, यौवन और स्वभाव देखकर स्वयं महाराज ने ही सम्बन्ध किया।

वासवदत्ता : (स्वगत) ऐसा! तब तो आर्यपुत्र का कोई अपराध नहीं।

(दूसरी चेटी का प्रवेश)

चेटी : आर्ये, शीघ्र चलिए, शीघ्र चलिए। महारानी कहती हैं कि आज ही शुभ नक्षत्र है, इसलिए आज ही ब्याह का मंगलाचार होगा।

वासवदत्ता : (स्वगत) ज्यों ज्यों शीघ्रता की जाती है त्यों त्यों मेरा हृदय अन्धकारमय होता जाता है।

धात्री : आओ, राजकुमारी, आओ।

(सबका प्रस्थान)

इति द्वितीयांक

तृतीयांक

[चिन्ता करती हुई वासवदत्ता आती है]

वासवदत्ता : विवाह के आमोद से परिपूर्ण अन्तःपुर के चौक में पद्मावती को छोड़कर मैं यहाँ प्रमद वन में चली आयी हूँ। देखूँ, दुर्भाग्य से दुःखित

मन को यदि कुछ बहला सकूँ। हाय! कैसी अनहोनी हुई! आर्यपुत्र भी पराये हो गये। थोड़ी देर यहीं बैठूँ। **(बैठती है)** धन्य है चक्रवाक वधू को, जो पति-वियोग होने पर नहीं जीती, परन्तु मैं अभागिनी न मरूँगी। आर्यपुत्र के दर्शन की लालसा से जीती रहूँगी।

[फूल लिये हुए चेटी का प्रवेश]

चेटी : आर्या, आवन्तिका कहाँ गयीं? **(घूमकर और देखकर)** अरे, ये तो चिन्ता में डूबी हुई, शून्यहृदय से प्रियंगुलता के नीचे शिला पर बैठी हैं। इनका श्रृंगार रहित अभद्र वेश देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो चन्द्रलेखा पर कुहरा छाया है। अच्छा, मैं भी वहीं चलूँ। (जाकर) आर्ये, आवन्तिके, मैं आपको कब से खोज रही हूँ?

वासवदत्ता : किसलिए?

चेटी : हमारी महारानी कहती हैं कि आप उच्च-कुल-सम्भूता स्नेहशीला और अत्यन्त निपुण हैं—इस कारण आप ही यह कौतुक-माला गूँथ दें।

वासवदत्ता : किसके लिए?

चेटी : हमारी राजकुमारी के लिए।

वासवदत्ता : (स्वगत) हाय! यह भी मुझे करना पड़ेगा! निस्सन्देह देव बड़ा निर्दय है!

चेटी : आर्ये, इस समय अन्य चिन्ता छोड़ दीजिए। वर मणिभूमि पर स्नान कर रहे हैं। इसलिए आर्या विलम्ब न करें।

वासवदत्ता : (स्वगत) हाय, चिन्ता भी न करूँ! **(प्रकट)** सखी, जामाता को देखा?

चेटी : जी, राजकुमारी के स्नेह और अपने कौतूहल के कारण अच्छी तरह देखा है।

वासवदत्ता : कैसा है?

चेटी : क्या कहूँ, ऐसा और कभी नहीं देखा!

वासवदत्ता : अरी बता, बता कैसा है?

चेटी : जान पड़ता है मानो धनुष-बाण-हीन कामदेव!

वासवदत्ता : रहने दो, होगा।

चेटी : अब क्यों रोकती हो?

वासवदत्ता : पर-पुरुष की चर्चा ठीक नहीं।

चेटी : तो माला शीघ्र गूँथ दीजिए।

वासवदत्ता : ला, गूँथ दूँ।

चेटी : लीजिए।

वासवदत्ता : **(देखकर रोकती हुई)** ठहर, यह कौन-सी वनस्पति है?

चेटी : सदासुहागिन।

वासवदत्ता : (**स्वगत**) तब तो इसे अपने और पद्मावती दोनों ही के लिए अधिक मात्रा में गूँथूँगी। (**प्रकट**) और यह कौन-सी वनस्पति है?

चेटी : सौतसालिनी।

वासवदत्ता : इसे न गूँथूँगी।

चेटी : क्यों?

वासवदत्ता : राजा की पहली रानी तो मर गयी है, इसलिए इसका गूँथना व्यर्थ है।

[दूसरी चेटी का प्रवेश]

चेटी : आर्ये, शीघ्रता करें, शीघ्रता करें। जामाता इस समय सुहागिनों के साथ अन्तःपुर में प्रवेश कर रहे हैं।

वासवदत्ता : यह लो, गुँथ गयी।

चेटी : बहुत सुन्दर! तो मैं चलूँ, आर्ये!

[दोनों का प्रस्थान]

वासवदत्ता : दोनों चली गयीं। हाय, बड़ी अनहोनी हुई! आर्यपुत्र भी पराये हो गये! चलूँ शय्या पर लेट कर दुःख काटूँ, देखूँ यदि नींद आ जाय!

[प्रस्थान]

इति तृतीयांक

चतुर्थांक

[विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : सौभाग्य से महाराज के ब्याह-मंगल का रमणीय उत्सव देखने को मिला। कौन जानता था कि हम लोग उस अनर्थ-सलिल की भँवर में पड़कर पुनः उबर सकेंगे? जब आनन्द से राजमहल में सोता हूँ, अन्तःपुर की बावड़ियों में स्नान करता हूँ, स्वभाव से ही मधुर और कोमल लड्डू उड़ाता हूँ—अप्सराओं का संवास छोड़कर स्वर्ग का सभी सुख लूट रहा हूँ। बस, एक बड़ा दोष है—भोजन अच्छी तरह नहीं पचता, स्वच्छ और सुकोमल शय्या पर भी नींद नहीं आती, दिन भर पेट गुड़गुड़ किया करता है! जो निर्भय होकर यथेच्छ भोजन नहीं कर सकता उसे सुख कहाँ?

[चेटी का प्रवेश]

चेटी : आर्य वसन्तक कहाँ गये। (**घूमकर देखती हुई**) अरे ये हैं! (**पास**

जाकर) आर्य वसन्तक, मैं तुम्हें कब से खोज रही हूँ।

विदूषक : भद्रे, किसलिए खोज रही थीं?

चेटी : महारानी पूछती हैं कि जामाता ने स्नान कर लिया या नहीं?

विदूषक : क्यों पूछती हैं?

चेटी : और क्या? स्नान कर लिया हो तो फूल चन्दन ले आऊँ।

विदूषक : हाँ, उन्होंने स्नान कर लिया है। परन्तु भोजन को छोड़ कर और चाहे जो ले आओ।

चेटी : भोजन के लिए आप क्यों रोकते हैं?

विदूषक : मुझ अभागे को कोकिल के अक्षि-परिवर्तन की भाँति कुक्षिपरिवर्तन हो गया है।

चेटी : ईश्वर करे तुम ऐसे ही बने रहो।

विदूषक : तुम जाओ, मैं भी महाराज के पास चलूँ।

[दोनों का प्रस्थान]

इति प्रवेशक

[आवन्तिका समेत सपरिकर पद्मावती का प्रवेश]

चेटी : राजकुमारी, प्रमद वन में किसलिए आना हुआ?

पद्मावती : सखी, शेफालिका फूली है या नहीं यह देखने आयी हूँ।

चेटी : राजकुमारी, फूली क्यों नहीं, उसकी डालें प्रवालों से गुँथी हुई मोतियों की माला जैसी शोभित हो रही हैं।

पद्मावती : यदि ऐसा है तो फिर विलम्ब क्यों?

चेटी : तो आप क्षण भर के लिए इस शिला-तल पर बैठ जाइए। मैं फूल चुन लूँ।

पद्मावती : आर्ये! यहाँ बैठोगी?

वासवदत्ता : अच्छी बात है।

[दोनों बैठती हैं]

चेटी : (फूल तोड़कर) राजकुमारी, देखो, देखो, शेफालिका के फूलों से भरी हुई मेरी यह अंजलि मैनशिल की बट्टी के समान दिखाई देती है।

पद्मावती : अहा, कैसे सुन्दर फूल हैं। आर्ये, देखिए।

वासवदत्ता : सचमुच बड़े दर्शनीय हैं!

चेटी : और चुन लाऊँ, राजकुमारी!

पद्मावती : नहीं, नहीं अब रहने दो।

वासवदत्ता : क्यों रोकती हो?

पद्मावती : जिसमें कि आर्य यहाँ आकर कुसुम-समृद्धि देखें और उसे सम्मानित करें।

वासवदत्ता : सखी, महाराज तुम्हें प्यारे लगते हैं?

पद्मावती : आर्ये, यह तो नहीं जानती, परन्तु उनके बिना मन न जाने कैसा हो जाता है।

वासवदत्ता : (स्वगत) यह सच कहती है। मैं बड़ी कठोर हूँ।

चेटी : राजकुमारी ने बड़े ढंग से अपने प्रिय की प्रियता प्रकट की।

पद्मावती : मुझे एक सन्देह है।

वासवदत्ता : सो क्या? सो क्या?

पद्मावती : आर्यपुत्र जैसे मुझे प्रिय हैं, आर्या वासवदत्ता को भी क्या वैसे ही प्रिय होंगे?

वासवदत्ता : उससे भी अधिक।

पद्मावती : तुमने कैसे जाना?

वासवदत्ता : (स्वगत) आर्यपुत्र के पक्षपात के कारण फिर भूल हो गयी! अच्छा, यों कहूँ। (प्रकट) यदि कम प्रेम होता तो स्वजन छोड़कर राजा के साथ न आती।

पद्मावती : होगा!

चेटी : राजकुमारी, तुम भी महाराज से वीणा सीखने के लिए कहो न।

पद्मावती : मैंने कहा था।

वासवदत्ता : तब उन्होंने क्या कहा?

पद्मावती : कुछ नहीं। एक दीर्घ निश्वास लेकर रह गये।

वासवदत्ता : इससे तुमने क्या समझा?

पद्मावती : यही कि आर्या वासवदत्ता के गुणों का स्मरण करके दया-वश मेरे आगे रोये नहीं।

वासवदत्ता : (स्वगत) यदि यह सच है तो मैं धन्य हूँ।

[राजा और विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : अहा-हा-हा...! इधर उधर फैले हुए बन्धुजीव के फूलों से प्रमद वन कैसा रमणीय हो रहा है! आइए, महाराज।

राजा : सखे वसन्तक, आया।

उज्जयिनी जाकर जब मैंने देखी थी नृप-बाला,
तभी काम ने पाँच शरों से मुझे विद्ध कर डाला।
अब भी साल रहे हैं मुझको वे वैसे के वैसे,
मदन-पंचशर है, आया यह छठा कहाँ से कैसे?

विदूषक : देवी पद्मावती गयीं कहाँ? लतामण्डप में गयीं या व्याघ्रचर्म के समान दिखाई पड़नेवाले, असन-वृक्ष के फूलों से ढके हुए पर्वततिलक नामक शिला-पटल पर बैठी हैं, अथवा तीव्र-गन्ध-पूर्ण सप्तच्छद

वन में हैं, किंवा खग-मृगादि की, मूर्तियों से सज्जित दारु-पर्वत पर गयी हैं। **(ऊपर देखकर)** ओ-हो-हो, शरदकालीन निर्मल आकाश में बलदेवजी की बढ़ी हुई भुजा के समान दर्शनीय सारस-पंक्ति कैसे समाहित भाव से उड़ी जा रही है, तब तक महाराज इसी को देखें।

राजा : मित्र देखता हूँ।

विरल, सरल, आयत, उन्नत, नत, उड़ती है मुदमान,
होती है वर वक्र घूम कर फिर सप्तर्षि समान।
बनती है विभाग-सीमा-सी उस नभ की निर्भ्रान्त,
कंचुक रहित भुजंगोदर-सा जो है विमल नितान्त।

चेटी : देखो, देखो, राजकुमारी, उत्पल-माला के समान शुभ्र सारस-पंक्ति कैसे समाहित भाव से उड़ी जा रही है। अरे, ये महाराज—

पद्मावती : अच्छा, आर्यपुत्र हैं **(वासवदत्ता के प्रति)** आर्ये तुम्हारा संग छोड़ कर मैं इस समय आर्यपुत्र से नहीं मिलूँगी। आओ, हम सब माधवीमण्डप में चलें।

वासवदत्ता : अच्छा, चलो!

[माधवी मण्डप में प्रवेश]

विदूषक : जान पड़ता है देवी पद्मावती यहाँ आकर चली गयीं।

राजा : तुमने कैसे जाना?

विदूषक : देखिए, शेफालिका के गुल्मों से फूल चुने गये हैं।

राजा : देखो वसन्तक, फूलों की विचित्रता!

वासवदत्ता : वसन्तक का नाम सुनकर ऐसा जान पड़ता है मानो मैं उज्जयिनी में हूँ।

राजा : वसन्तक आओ, हम इसी शिलातल पर बैठ कर पद्मावती की प्रतीक्षा करें।

विदूषक : बहुत अच्छा। **(बैठकर और फिर उठकर)** दैया रे! शरत्-काल का तीक्ष्ण आतप बड़ा दुस्सह है! चलिए इस माधवी-मण्डप में चलें!

राजा : अच्छी बात है। चलो आगे।

विदूषक : जो आज्ञा।

[दोनों घूमते हैं]

पद्मावती : सब को अस्थिर करना ही आर्य वसन्तक का काम है। अब हम लोग क्या करें?

चेटी : राजकुमारी, भौंरों से छाई हुई इस लता को हिलाकर महाराज को रोकूँगी।

पद्मावती : यही करो।

[चेटी वैसा ही करती है]

विदूषक : अरे! अरे! ठहरिए महाराज, ठहरिए!

राजा : क्यों?

विदूषक : ये भूत-भौंरे मुझ पर टूट पड़े हैं।

राजा : ठहरो, ठहरो, बेचारे।

मदकल दम्पति मधुप मिल करते हैं सुख भोग,
तेरी आहट से न हो हम-सा उन्हें वियोग।

इसलिए आओ, हम यहीं बैठें।

विदूषक : यही सही।

[दोनों बैठते हैं]

चेटी : लो हम तो यहाँ घिर गये।

पद्मावती : अच्छा हुआ, आर्यपुत्र वहीं बैठ गये।

वासवदत्ता : (स्वगत) बड़ी बात है कि आर्यपुत्र शरीर से अच्छे हैं।

चेटी : राजकुमारी, देखिए, आर्या की आँखों से तो आँसू गिर रहे हैं।

वासवदत्ता : इन मधुकरों के उपद्रव के कारण मेरी आँखों में काश-कुसुम की रेणु पड़ने से आँसू आ गये।

पद्मावती : यही होगा।

विदूषक : महाराज, इस समय प्रमदवन में कोई नहीं है, आपसे एक बात पूछूँ?

राजा : स्वच्छन्दता से।

विदूषक : आपको महारानी वासवदत्ता अधिक प्यारी थीं या देवी पद्मावती?

राजा : मित्र, तुम मुझे इस संकट में क्यों डालते हो?

पद्मावती : सखी आर्यपुत्र बड़े संकट में पड़े हैं।

वासवदत्ता : (स्वगत) मैं अभागिनी भी—

विदूषक : आप निश्चिन्त होकर कहिए। एक तो गत हो गयी है, और दूसरी समीप नहीं है।

राजा : मित्र, मैं न कहूँगा तुम बड़े वाचाल हो।

पद्मावती : आर्यपुत्र ने सब तो कह दिया। अब रह ही क्या गया?

विदूषक : महाराज, मैं सत्य की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, किसी से न कहूँगा—लो, मैंने जीभ काट ली!

राजा : मुझे कहने का उत्साह नहीं होता।

पद्मावती : हाय, इसकी उलटी बुद्धि? इतने पर भी नहीं समझता।

विदूषक : आप, क्यों नहीं कहते? बिना कहे इस स्थान से आपको एक डग

भी न जाने दूँगा। यह लीजिए, आपको रोक लिया!

राजा : क्या बलपूर्वक?

विदूषक : हाँ, बलपूर्वक।

राजा : अच्छा देखूँ।

विदूषक : अप्रसन्न न हूजिए। आपको मेरी सौगन्ध जो सत्य न कहें!

राज : क्या गति है? सुनो—

प्यारी है अत्यन्त मुझे पद्मावती,
रूप-शील-माधुर्य-मयी सुमुखी-सती।
वासवदत्ता तदपि हृदय में बस रही,
भुला सकी यह उसे न, वह अब भी वही!

वासवदत्ता : (स्वगत) धन्य भाग्य मैंने सब भर पाया। अहो, अज्ञातवास में भी बड़े गुण हैं।

चेटी : राजकुमारी, तुम्हारे स्वामी बड़े अनुदार हैं।

पद्मावती : अरी, ऐसा न कह। वे बड़े उदार हैं, जो अभी तक आर्या वासवदत्ता को नहीं भूले।

वासवदत्ता : भद्रे! तुमने अपने बड़े कुल के अनुरूप ही बात कही है।

राजा : मुझसे तो तुमने पूछ लिया; अब तुम बताओ कि तुम्हें कौन अधिक प्रिय है, वासवदत्ता या यह पद्मावती?

पद्मावती : देखती हूँ, आर्यपुत्र भी वसन्तक हो गये।

विदूषक : मेरा इस सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है। मेरे लिए तो दोनों बड़ी हैं।

राजा : मूर्ख, मुझसे तो बलपूर्वक पूछ लिया अब अपनी वार को कुछ नहीं कहना चाहता।

विदूषक : क्या मुझसे भी बलपूर्वक पूछना चाहते हो?

राजा : इसमें क्या सन्देह?

विदूषक : तब तो सुन चुके!

राजा : अप्रसन्न न हो ब्राह्मण देवता, अप्रसन्न न हो। अपनी ही इच्छा से कहो।

विदूषक : तो सुनिए। महारानी वासवदत्ता मुझे बहुत प्रिय थीं। देवी पद्मावती, युवती हैं, दर्शनीया हैं, अकोपना हैं, निरहंकारा हैं, मधुरभाषिणी हैं एवं उदार स्वभाववाली हैं और, सबसे बड़ा एक गुण उनमें यह है कि स्निग्ध और मधुर भोजन लेकर वे मेरी खोज करती हैं कि आर्य वसन्तक कहाँ हैं?

वासवदत्ता : अच्छा, अच्छा, वसन्तक, तुम अब इन्हीं का स्मरण करो।

राजा : रहो, वसन्तक, मैं यह सब देवी वासवदत्ता से कहूँगा!

विदूषक : वासवदत्ता! हाय, वासवदत्ता अब कहाँ? वासवदत्ता तो कभी की गत हो गयी!

राजा : **(सविषाद)** ठीक है, वासवदत्ता अब कहाँ!

हेतु हुआ उन्माद का, तेरा ही परिहास।
दोषी है इस कथन का मेरा पूर्वाभ्यास॥

पद्मावती : कैसा रमणीय कथा-प्रसंग था। निर्दयी ने सब बिगाड़ दिया।

वासवदत्ता : **(स्वगत)** जो हो, मैं तो विश्वस्त हूँ। अहा, परोक्ष में ये कैसे प्रिय वचन सुनने को मिले।

विदूषक : महाराज अधीर न हूजिए। विधाता का विधान कौन टाल सकता है।

राजा : मित्र, तुम मेरे मन की अवस्था नहीं जानते—

बद्धमूल अनुराग नहीं भूला जाता है,
पूर्वस्मृति से दुःख नयापन ही पाता है।
इस चिन्ता का अन्त नहीं आने का अब तो,
है रोदन ही यत्न शान्ति पाने का अब तो।

विदूषक : महाराज का मुख आँसुओं से मलिन हो गया है। मैं मुँह धोने के लिए पानी लाऊँ।

(प्रस्थान)

पद्मावती : आर्ये, आर्यपुत्र की आँखें इस समय आँसुओं से भर गयीं। चलो इस बीच में हम निकल चलें।

वासवदत्ता : ठीक है। अथवा तुम यहीं ठहरो। ऐसी दशा में स्वामी को छोड़ कर जाना उचित नहीं। मैं अकेली ही जाती हूँ।

चेटी : आर्या ने बहुत ठीक कहा—राजकुमारी आप महाराज के ही समीप जायें।

पद्मावती : तो मैं जाऊँ?

वासवदत्ता : हाँ, अवश्य।

(प्रस्थान)

[पद्म-पत्र में पानी लिये हुए विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : अरे, यह तो देवी पद्मावती हैं!

पद्मावती : आर्य वसन्तक यह क्या है?

विदूषक : यह-यह...।

पद्मावती : कहो, कहो, आर्य!

विदूषक : महाराज की आँखों में वायु से उड़ कर काँस के फूलों की रज

जा पड़ी है, इसी से आँसू आ गये हैं। लीजिए यह मुँह धोने के लिए पानी है।

पद्मावती : (स्वगत) अहा! सदय-जनों के परिजन भी सदय होते हैं। (अग्रसर होकर) आर्यपुत्र की जय हो। यह है मुँह धोने के लिए पानी।

राजा : अरे, पद्मावती! (अलग से) वसन्तक, यह क्या?

विदूषक : (कान में) यह बात है।

राजा : साधु वसन्तक, साधु! (मुँह धोकर) पद्मावती आओ।

पद्मावती : जो आज्ञा।

[बैठती है]

राजा : पद्मावती,

जो ये शारदीय-शशि से सित काश-कुसुम हैं मनभाये,
उड़ते हुए रजः कण इनके आँखों में आँसू लाये।

(स्वगत)

यह नूतन विवाहिता बाला सच सुन कर दुख पावेगी,
धीरा है, पर सहज कातरा, नारी-प्रकृति न जावेगी।

विदूषक : महाराज, आज अपराह्न-काल में मगधराज आपको आगे करके बन्धु-बान्धुवों से भेंट करेंगे। सत्कार के बदले में सत्कार करने से ही प्रीति बढ़ती है। इसीलिए आप उठिए।

राजा : बहुत ठीक। यह तो प्रथम कर्तव्य है।

[उठकर]

सद्गुण के सम्मान के अधिकारी हैं भूरि।
पर दुर्लभ हैं लोक में उनके ज्ञाता सूरि॥

[प्रस्थान]

इति चतुर्थांक

पंचमांक

[पद्मिनिका का प्रवेश]

पद्मिनिका : मधुकरिके! मधुरिके! शीघ्र आ।

[मधुकरिका आती है]

मधुकरिका : सखी, मैं यह आयी। क्या करना होगा!

पद्मिनिका : अरी, क्या तू नहीं जानती कि राजकुमारी पद्मावती का माथा दुख रहा है?

मधुकरिका : हाय! हाय!

पद्मिनिका : अरी शीघ्र जा। आर्या आवन्तिका को समाचार दे। राजकुमारी की पीड़ा की बात सुनकर वे स्वयं चली आएँगी।

मधुकरिका : सखी, वे क्या करेंगी?

पद्मिनिका : वे अपनी मधुर कथा-वार्ताओं से राजकुमारी का मन बहलावेंगी।

मधुकरिका : ठीक है। राजकुमार की शय्या कहाँ लगाई गयी है?

पद्मिनिका : समुद्र-गृह में। तू शीघ्र जा। मैं भी स्वामी को संवाद देने के लिए आर्य वसन्तक को खोजती हूँ।

मधुकरिका : ठीक है।

[जाती है]

पद्मिनिका : आर्य वसन्तक इस समय कहाँ होंगे?

[विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : आज महारानी वासवदत्ता के वियोग में पद्मावती के विवाह की वायु से महाराज की प्रेमाग्नि इस सुखमय मंगलोत्सव में और भी अधिक बढ़ रही है। तो मैं उनके पास चलूँ। **(देखकर)** अरे, यह पद्मिनिका है। पद्मिनिके, क्या समाचार हैं?

पद्मिनिका : आर्य वसन्तक! क्या तुम्हें नहीं मालूम कि राजकुमारी पद्मावती का माथा दुख रहा है!

विदूषक : सचमुच! मुझे नहीं मालूम।

पद्मिनिका : तो स्वामी को समाचार दो। तब तक मैं भी लेप आदि की व्यवस्था करूँ।

विदूषक : पद्मावती की शय्या कहाँ लगाई गयी है?

पद्मिनिका : समुद्र-गृह में।

विदूषक : तो तू जा। मैं भी महाराज को संवाद देता हूँ।

[प्रस्थान]

इति प्रवेशक

[राजा का प्रवेश]

राजा : *काल-क्रम से मैंने फिर भी पाणिग्रहण किया है,*
पाई बहु गुणवती सुन्दरी पद्मावती प्रिया है,
तदपि आग में जली हुई वह वासवदत्ता प्यारी,
याद आ रही है यों मानो नलिनी हिम की मारी।

[विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : महाराज, शीघ्र चलिए, शीघ्र चलिए।

राजा : किसलिए?

विदूषक : देवी पद्मावती का माथा दुख रहा है।
राजा : किसने कहा?
विदूषक : पद्मिनिका ने।
राजा : हाय!

पूर्व शोक की रुकी नहीं यद्यपि क्रिया,
फिर भी पद्मावती सदृश पाकर प्रिया,
प्राप्त हुआ था धैर्य तनिक इस योग से,
वह भी पीड़ित सुनी जा रही रोग से।

पद्मावती इस समय कहाँ हैं?
विदूषक : उनकी शय्या समुद्र-गृह में लगाई गयी है।
राजा : तो वहीं चलो।
विदूषक : आइए, आइए।

[दोनों घूमते हैं]

विदूषक : यही समुद्र-गृह है। भीतर जाइए।
राजा : पहले तू चल।
विदूषक : बहुत अच्छा। **(प्रवेश करके)** अरे, अरे, ठहरिए, आप वहीं ठहरिए।
राजा : क्यों?
विदूषक : यहाँ एक साँप है! दिये के उजाले में स्पष्ट दिखाई दे रहा है।
राजा : **(प्रवेश करके और देखकर हँसता हुआ)** मूर्ख, इसी को तू साँप समझता है।

लम्बी भू पर पड़ी तरल यह तोरण-माला,
समझ रहा है भ्रान्त इसे तू विषधर काला।
मन्द पवन से बार बार लहराती है यह,
निशा-योग में नाग-भाव ठहराती है यह।

विदूषक : **(अच्छी तरह देखकर)** आप ठीक कहते हैं। यह साँप नहीं है। **(भीतर जाकर देखकर)** जान पड़ता है देवी पद्मावती यहाँ आकर चली गयीं।
राजा : वे अभी यहाँ आयीं ही नहीं।
विदूषक : आपने कैसे जाना!
राजा : इसमें जानने की क्या बात है, देख—

शय्या सम है, हुई न नीची, चादर सीधी तनी हुई,
लगे बिना लेपादिक तकिया है उज्ज्वल ही बनी हुई,
रोगी के विनोद की कोई सामग्री भी नहीं अभी,
पाकर शयन रुग्ण-जन उसको सहज छोड़ता नहीं कभी।

विदूषक : तो आप इसी शय्या पर बैठ कर थोड़ी देर देवी की प्रतीक्षा कीजिए।

राजा : अच्छी बात। (बैठकर) मित्र, मुझे नींद आ रही है। कोई कहानी सुनाओ।

विदूषक : मैं कहानी कहता हूँ। आप हूँका दीजिए।

राजा : अच्छा।

विदूषक : उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। वहाँ बड़े सुन्दर-सुन्दर उपवन हैं।

राजा : मित्र, तूने फिर उज्जयिनी की बात छेड़ी।

विदूषक : यदि यह कहानी आपको अभीष्ट न हो तो मैं दूसरी कहता हूँ।

राजा : मित्र, यह बात नहीं। परन्तु—

करता हूँ मैं याद अवन्ती राज-सुता की,
गमन समय आत्मीय जनस्मृति शोच युता की।
आँखों में उस समय अहा! आँसू भर आये,
मेरे उर पर गये प्रेमवश जो बरसाये।

और—

शिक्षा में भी एक टक, प्यारी मुझे निहार।
स्रस्त हस्त से शून्य में छेड़ा करती तार॥

विदूषक : अच्छा, मैं दूसरी कहानी कहता हूँ। ब्रह्मदत्त नामक नगर में काम्पिल्य नाम का एक राजा था।

राजा : क्या, क्या?

विदूषक : ब्रह्मदत्त नामक नगर में काम्पिल्य नाम का एक राजा था।

राजा : मूर्ख, राजा ब्रह्मदत्त और नगर काम्पिल्य; इस प्रकार कह।

विदूषक : क्या राजा ब्रह्मदत्त और नगर काम्पिल्य?

राजा : हाँ, ऐसा ही।

विदूषक : तो ठहरिए, मैं इसे कण्ठ कर लूँ। राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य। **(कई बार कहता है)** अच्छा, अब सुनिए। अरे, आप तो सो गये। इस समय बड़ी सर्दी है। मैं चादर ले आऊँ।

(प्रस्थान)

[अवन्तिका के वेष में वासवदत्ता और चेटी का प्रवेश]

चेटी : आर्ये, आइए, आइए। राजकुमारी सिर की पीड़ा से बहुत दुखी हैं।

वासवदत्ता : हाय! उनकी शय्या कहाँ है?

चेटी : समुद्र-गृह में।

विदूषक : तो आगे आगे चल।

[दोनों घूमती हैं]

चेटी : यही समुद्र-गृह है। आर्या प्रवेश करें। तब तक मैं लेपादि ले आऊँ।

(प्रस्थान)

वासवदत्ता : अहो, देव बड़ा कठोर है। विरह-कातर आर्य-पुत्र की विश्वास रूपिणी पद्मावती भी अस्वस्थ हो गयीं। मैं उसके पास चलूँ। (**प्रवेश करके और देखकर**) अहो, परिजन बड़े असावधान हैं, ऐसी अवस्था में भी पद्मावती को केवल दिये के सहारे छोड़ गये। पद्मावती यह सो रही है। तो यहीं बैठूँ। परन्तु अलग बैठने से स्नेह की अल्पता प्रकट होती है, इसलिए शय्या पर ही बैठूँ। इसके साथ बैठने से आज मेरा हृदय पुलकित-सा क्यों हो रहा है? अहा, इसकी श्वास अविच्छिन्न भाव से सुखपूर्वक चल रही है। जान पड़ता है रोग निवृत्ति हो गया। ये शय्या के एक किनारे पर सो रही हैं, मानों मुझे साथ लिटाने की इच्छा से आधी मेरे लिए छोड़ दी है। तो मैं भी लेट जाऊँ।

[शयन करती है]

राजा : (**स्वप्न में**) हा, वासवदत्ते!

वासवदत्ता : (**सहसा चकित होकर**) दैया रे! ये तो आर्य-पुत्र हैं, पद्मावती नहीं। क्या इन्होंने मुझे देख लिया? तब तो हाय, आर्य यौगन्धरायण का महान् प्रतिज्ञा-भार निष्फल हुआ।

राजा : हा! अवन्ति राजपुत्रि!

वासवदत्ता : अहा! आर्यपुत्र तो स्वप्न देख रहे हैं। यहाँ कोई नहीं है। तो मैं क्षण भर ठहरकर अपने मन और नयनों को सन्तुष्ट कर लूँ।

राजा : हा प्रिये, हा प्रिय शिष्ये, बोलो।

वासवदत्ता : बोलती हूँ, नाथ, बोलती हूँ।

राजा : क्या कुपित हो?

वासवदत्ता : नहीं, नहीं, दुःखित हूँ।

राजा : यदि कुपित नहीं हो तो तुम्हारे शरीर पर अलंकार क्यों नहीं?

वासवदत्ता : इतने पर भी अलंकार?

राजा : क्या विरचिका का स्मरण करती हो?

वासवदत्ता : (**रोषपूर्वक**) जाओ, जाओ, यहाँ भी विरचिका।

राजा : तो विरचिका के लिए मैं तेरे हाथ जोड़ता हूँ।

[हाथ फैलता है]

वासवदत्ता : बहुत विलम्ब हो गया। कोई देख लेगा। इसलिए अब जाऊँ। परन्तु आर्यपुत्र का नीचे लटका हुआ हाथ शय्या पर रखती जाऊँ।

[वैसा ही करके जाती है]

राजा : (सहसा उठकर) वासवदत्ते, ठहर ठहर! हाय!

सहसा जाने में मुझे लगा कपाट कठोर,
इससे कह सकता नहीं, सच कि स्वप्न था घोर।

[विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : अहा, आप जाग उठे!

राजा : मित्र, एक प्रिय संवाद सुनाऊँ। वासवदत्ता जीवित है।

विदूषक : वासवदत्ता! हाय वासवदत्ता! वासवदत्ता तो कभी की गत हो गयीं।

राजा : मित्र, ऐसा मत कहो।

सोते से वह मुझे जगाकर,
चली गयी मैं रहा ठगा कर।
रुमण्वान ने मुझे छला है,
उसका पट तक नहीं जला है।

विदूषक : हा, यह तो असम्भव है। मैंने आपसे उज्जयिनी की चर्चा की थी इसी कारण महारानी की चिन्ता करने से वे आपको स्वप्न में दिखाई दी होंगी।

राजा : ऐसा! मैंने स्वप्न देखा है!

था सचमुच यह स्वप्न तो धन्य स्वप्न का जाल,
भ्रम हो तो यह भ्रम मुझे बना रहे चिरकाल।

विदूषक : मित्र, यहाँ अवन्ति सुन्दरी नाम की एक यक्षिणी रहती है तुमने उसी को देखा होगा।

राजा : नहीं, नहीं।

मैंने उसे जाग कर देखा,
न थी दृगों में अंजन-रेखा।
रखती हुई चरित्र महत्ता,
विशालालका वासवदत्ता।

मित्र और भी—

किया प्रिया ने सभय जो मेरा बाहुस्पर्श,
जगने पर भी इस समय मिटा न उसका हर्ष।

विदूषक : यह व्यर्थ की चिन्ता छोड़िए। आइए, चतुःशाला में चलें।

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : आर्यपुत्र की जय हो। हमारे महाराज दर्शक ने आपसे कहलाया है कि आपका अमात्य रुमण्वान बड़ी भारी सेना लेकर आरुणी का वध करने के लिए आया है और हमारे हाथी, घोड़े, रथ और पैदल भी विजय के लिए प्रस्तुत हैं। इसलिए आप उठिए।

अनुरागी हैं और समाश्वासित पुरवासी,
रिपुओं में छा रही भिन्नता और उदासी।
चुने जा चुके पृष्ट-रक्षि जन सभी हमारे,
अरि-विनाश के योग्य हुए आयोजन सारे।
सेना सकुशल भागीरथी पार कर चुकी है तथा,
हैं सभी आपके हाथ में, जय निश्चित है सर्वथा।

राजा : (उठकर) ठीक है।

हय गज के तरणीय समर-सागर को तर कर,
उठा रहे हैं तरल तरंगें जिसमें शर वर।
दारुण-कर्मा महा क्रूर उस आरुणि का अब,
निश्चय ही मैं नाश करूँगा, देखेंगे, सब।

(प्रस्थान)

इति पंचमांक

षष्ठांक

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : सोने के तोरण द्वार पर कौन है?

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : आर्य, मैं हूँ विजया। कहिए, क्या काम है?

कंचुकी : पुनः वत्सदेश की राज्य-प्राप्ति से विशेष उदय को प्राप्त हुए महाराज उदयन से जाकर निवेदन करो कि महाराज महासेन के यहाँ से रभ्यस-गोत्र नामक कंचुकी आया है, और महारानी अंगारवती की भेजी हुई आर्या वसुन्धरा नाम की देवी वासवदत्ता की धात्री भी आयी हैं। दोनों द्वार पर खड़े हैं।

प्रतिहारी : आर्य, इस समय निवेदन करने का अनुकूल अवसर नहीं है।

कंचुकी : क्यों नहीं?

प्रतिहारी : आज शय्या-सुख-प्रासाद के चौक में किसी ने वीणा बजाई। उसे सुनकर महाराज ने कहा कि यह घोषवती वीणा का स्वर है।

कंचुकी : तब?

प्रतिहारी : तब महाराज ने जाकर पूछा, "यह वीणा कहाँ से आयी? उसने कहा कि हमने इसे नर्मदा के किनारे एक झाड़ी में पाया है। यदि महाराज की इच्छा हो तो यह उनकी भेंट है। उसे अंक में लेकर

महाराज मूर्च्छित हो गये। फिर चेत में आने पर आँसू गिराते हुए महाराज विलाप करने लगे—'घोषवती! तू तो मिल गयी, पर वह नहीं दिखाई देती'—" आर्य यही बात है। आपका समाचार कैसे निवेदन करूँ?

कंचुकी : निवेदन करो। यह समाचार भी उसी से सम्बन्ध रखता है।

प्रतिहारी : आर्य, जो आज्ञा। ये महाराज शय्या-सुख-प्रासाद से उतर रहे हैं। यहीं निवेदन करूँ।

कंचुकी : हाँ, ऐसा ही करो।

[दोनों का प्रस्थान]

इति विष्कम्भक

[राजा और विदूषक का प्रवेश]

राजा : *श्रुत-मधुर-रवे, तू प्रिया-वक्ष पर रहती,*
गोदी में लेटी कथा उसी की कहती।
खग-धूलि-धूसरित विरह दाव से दहती,
कैसे दारुण वनवास रही फिर सहती!

हाय, घोषवती! तू बड़ी निर्मम है, उस बेचारी का तनिक भी स्मरण नहीं करती। वह तो,

कर पार्श्व पीड़ित अंक में सप्रेम भरती थी तुझे,
वक्षस्थली के स्वेद-रस से सिक्त करती थी तुझे।
उद्देश कर मुझको विरह में वह बजाती थी तुझे।
संयोग में मधुरस्वरों से फिर सजाती थी तुझे।

विदूषक : महाराज, बहुत सन्ताप न कीजिए।

राजा : मित्र, क्या करूँ?—

घोषवती ने याद दिलाई,
बीती घटना आगे आई।
है जिसकी यह प्यारी वीणा,
हाय, कहाँ वह प्रिया प्रवीणा!

वसन्तक, जा शिल्पियों से इसे ठीक करा कर शीघ्र ले आ।

विदूषक : ओ आज्ञा, महाराज।

[वीणा लेकर जाता है]

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : महाराज की जय हो। महाराज महासेन के यहाँ से कंचुकी रैभ्यस गोत्र और महारानी अंगारवती की भेजी हुई वासवदत्ता की धात्री आर्या वसुन्धरा द्वार पर उपस्थित हैं।

राजा : तो देवी पद्मावती को बुला लाओ।
प्रतिहारी : जो आज्ञा।

[जाती है]

राजा : महाराज महासेन ने कितने शीघ्र यह वृत्तान्त जान लिया!

[पद्मावती और प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : आइए, राजकुमारी, आइए।
पद्मावती : आर्यपुत्र की जय हो।
राजा : पद्मावती, तुमने सुना, महाराज महासेन के यहाँ से कंचुकी रैभ्यस गोत्र और महारानी अंगारवती की भेजी हुई वासवदत्ता की धात्री आर्या वसुन्धरा द्वार पर खड़ी हैं।
पद्मावती : आर्यपुत्र! अपने बन्धु-बान्धवों का कुशल-समाचार सुनने की मुझे बड़ी अभिलाषा है।
राजा : तुमने अपने अनुरूप ही बात कही कि वासवदत्ता के स्वजन मेरे ही स्वजन हैं। पद्मावती, आओ, बैठती क्यों नहीं?
पद्मावती : आर्यपुत्र क्या मेरे साथ बैठकर उनसे मिलेंगे?
राजा : इसमें दोष क्या है?
पद्मावती : आर्यपुत्र ने फिर से विवाह किया है यह देखकर वे उदास न हों।
राजा : मिलने के योग्य जनों से न मिलना शिष्टाचार के विरुद्ध है। इसलिए आओ।
पद्मावती : आर्यपुत्र की जो आज्ञा। (बैठकर) आर्यपुत्र, पिता और अम्बा ने क्या कहा होगा—यह जानने के लिए में बड़ी उद्विग्न हूँ।
राजा : पद्मावती, मैं भी यही सोचता हूँ।

हा, क्या कहा होगा उन्होंने, हो रहा यह सोच है,
उनकी सुता लाकर न रक्षित रख सका संकोच है।
मैं डर रहा हूँ यों कि ज्यों अपराध कर विधि-दोष से,
गुण-शील-युत सुत चित्त में डरता पिता के रोष से।

पद्मावती : जिसका समय आ गया है उसकी रक्षा कौन कर सकता है!
प्रतिहारी : महाराज, धात्री और कंचुकी द्वार पर खड़े हैं।
राजा : शीघ्र ले आओ।
प्रतिहारी : जो आज्ञा।

[कंचुकी जाती है और धात्री को लेकर आती है]

कंचुकी : *हर्ष होता है मुझे सम्बन्धि-राज्य विलोक,*
नृपसुता की याद कर फिर जागता है शोक।
शत्रुकृत अपहत न होता राज्य जो हे दैव!
कुशल युत देवी अहो, रहतीं अवश्य तथैव।

प्रतिहारी : आइए, आइए, महाराज ये हैं।

कंचुकी : **(समीप जाकर)** आर्यपुत्र की जय हो।

धात्री : महाराज की जय हो।

राजा : **(सम्मानपूर्वक)** आर्ये,

उदय-अस्त तक नृपकुल-कर्त्ता,
प्रजा वर्ग के अनुपम भर्त्ता,
मेरे प्रिय बान्धव सुख दायक,
कुशल सहित तो हैं नरनायक।

कंचुकी : महाराज, महासेन कुशलपूर्वक हैं और यहाँ आप सब लोगों की कुशल पूछते हैं।

राजा : **(आसन से उठकर)** महाराज महासेन की क्या आज्ञा है।

कंचुकी : वैदेही-पुत्र के योग्य ही यह शिष्टाचार है महाराज आसन पर बैठकर महासेन का सन्देश सुनें।

राजा : जैसी महाराज महासेन की आज्ञा।

[बैठता है]

कंचुकी : प्रसन्नता की बात है कि शत्रुओं से हरण किया गया राज्य फिर प्राप्त हो गया।

कातर और अशक्त, निरुत्साह रहते सदा,
उद्यम में अनुरक्त, राज्यश्री हैं भोगते।

राजा : आर्य, यह सब महासेन का ही प्रभाव है।

सुत सह लालन किया प्रथम मुझको जय करके,
मैं रक्षित रख सका न उनकी कन्या हरके।
मृत सुनकर भी उसे नहीं नाता तोड़ा है;
राज्य दिलाया मुझे कहूँ जो कुछ थोड़ा है।

कंचुकी : यह महाराज का सन्देशा हुआ। महारानी का सन्देशा आर्या वसुन्धरा कहेंगी।

राजा : हा अम्ब!

सोलह रनवासों में ज्येष्ठा,
पुण्या-पुरदेवी-सी श्रेष्ठा।
मेरा जिन्हें प्रवास सताता,
कुशल सहित तो हैं वे माता।

धात्री : स्वामिनी कुशलपूर्वक हैं और आप सबकी कुशल पूछती हैं।

राजा : कुशल? माँ! ऐसी कुशल हैं!

[आँसू पोंछता है]

धात्री : महाराज, अधिक सन्ताप न कीजिए।

कंचुकी : आर्यपुत्र, धैर्य धारण कीजिए। जिन पर महाराज की ऐसी अनुकम्पा है वे महासेन की पुत्री मर कर भी नहीं मरीं।

कौन बचा सकता है उसको काल जिसे तकता है,
रस्सी टूटे हुए घड़े को कौन रोक सकता है।
एक नियम वन और लोक का सदा दृष्टि आता है,
समय समय पर कटना उगना होता ही जाता है।

राजा : आर्य, ऐसा न कहिए।

महासेन की सुता दुलारी
देवी मेरी शिष्या प्यारी,
देहान्तर गत हुई, इसी से
क्या मैं उसे भुला दूँ जी से।

धात्री : महारानी ने कहा है कि वासवदत्ता तो गयीं; किन्तु हमारे और महाराज के लिए जैसे गोपालक और पालक हैं वैसे ही तुम हो। इसी कारण तुम्हें उज्जयिनी बुला कर अग्नि को साक्षी किये बिना ही वीणा की शिक्षा के बहाने वासवदत्ता को तुम्हारे हाथ में सौंपा था। किन्तु तुम्हारी ही चंचलता के कारण विवाह का मंगलोत्सव सम्पन्न न हो सका। तब तुम्हारी और वासवदत्ता की प्रतिमूर्ति चित्र में अंकित कराकर विवाह किया गया। उसी चित्रपट को तुम्हारे पास भेजती हूँ, जिसमें तुम उसे देख कर शान्ति-लाभ करो।

राजा : अहो! यह स्निग्ध और मधुर बात उन्हीं के अनुरूप है—

सौ राज्यों से भी अधिक प्रिय है यह सन्देश,
मुझ दोषी पर भी रहा उनका प्रेम विशेष।

पद्मावती : आर्यपुत्र, मैं चित्रांकित गुरुजनों का दर्शन और अभिवादन करना चाहती हूँ।

धात्री : देखिए, देखिए, राजकुमारी। **(चित्रपट दिखलाती है)**

पद्मावती : **(देखकर स्वगत)** अरे? यह तो सर्वथा आर्या आवन्तिका जैसी दिखाई पड़ती हैं। **(प्रकट)** आर्यपुत्र! क्या यह ठीक आर्या की ही आकृति है?

राजा : ठीक क्या, सर्वथा उन्हीं की है।

हा, ऐसे प्रिय रूप पर वह आपत्ति कराल,
कैसे मुख माधुर्य यह जला सकी वह ज्वाल।

पद्मावती : आर्यपुत्र की छवि देखने से मुझे ज्ञात हो जायेगा कि यह ठीक आर्या की आकृति है या नहीं।

धात्री : राजकुमारी, देखिए, देखिए।

पद्मावती : (देखकर) आर्यपुत्र की प्रतिकृति देखकर जान पड़ता है कि आर्या का चित्र भी ठीक है।

राजा : देवी, चित्रपट देखकर तुम हर्षित और उद्विग्न सी कैसी हो गयीं।

पद्मावती : आर्यपुत्र, इस चित्र की अनुहार यहीं है।

राजा : क्या वासवदत्ता के चित्र की?

पद्मावती : हाँ।

राजा : तो उसे शीघ्र बुलाओ।

पद्मावती : आर्यपुत्र, मेरे विवाह के पहले किसी ब्राह्मण ने अपनी बहिन बता कर उसे मेरे पास थाती के रूप में रखा था। वह प्रोषित-पतिका पर-पुरुष दर्शन नहीं करती। उसे मेरे साथ देखकर आर्यपुत्र सब जान लेंगे।

राजा : *भगिनी है यदि विप्र की तो होगी वह और,*
रूप-तुल्यता लोक में मिलती है बहु ठौर।

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : आर्यपुत्र की जय हो। वह उज्जयिनी का ब्राह्मण राजकुमारी से अपनी बहिन की थाती लेने के लिए द्वार पर उपस्थित है।

राजा : क्या यह वही ब्राह्मण है?

पद्मावती : सम्भव है।

राजा : उसे शिष्टाचारपूर्वक ले आओ।

प्रतिहारी : जो आज्ञा। **(गयी)**

राजा : पद्मावती, तुम भी उसे ले आओ।

पद्मावती : आर्यपुत्र की जो आज्ञा! **(गयी)**

[प्रतिहारी के साथ यौगन्धरायण का प्रवेश]

[स्वगत]

यौगन्धरायण : *देवी को था छिपा दिया मैंने नृप-हित ही,*
उनके कल्याणार्थ किया था यह समुचित ही,
कार्य-सिद्धि भी हुई दैव ने दिन फिर फेरे,
फिर भी है यह सोच कहेंगे क्या प्रभु मेरे।

प्रतिहारी : आर्य, आइए, स्वामी ये हैं।

यौगन्धरायण : **(पास जाकर)** आपकी जय हो।

राजा : अरे, यह स्वर तो सुना हुआ-सा है। हे ब्राह्मण, क्या तुम्हीं ने अपनी बहिन को धरोहर के रूप में पद्मावती को सौंपा था?

यौगन्धरायण : हाँ, महानुभाव।

राजा : इनकी बहिन को शीघ्र ले आओ।

प्रतिहारी : जो आज्ञा। **(गयी)**

[पद्मावती, आवन्तिका और प्रतिहारी का प्रवेश]

पद्मावती : आर्ये, आओ, आओ, तुम्हें प्रिय समाचार सुनाऊँ।

आवन्तिका : क्या, क्या?

पद्मावती : तुम्हारे भाई आये हैं।

आवन्तिका : भाग्य से मुझे नहीं भूले।

पद्मावती : आर्यपुत्र की जय हो। यही वह थाती है।

राजा : पद्मावती, साक्षियों के सामने धरोहर लौटाना चाहिए। यहाँ आर्य रैभ्य और आर्या वसुन्धरा की उपस्थिति में ही यह कार्य सम्पन्न करो।

धात्री : **(आवन्तिका को देखकर)** अरे, यह तो राजकुमारी वासवदत्ता हैं।

राजा : महासेन पुत्री!—देवी, तुम पद्मावती के साथ भीतर जाओ।

यौगन्धरायण : नहीं, नहीं, यह तो मेरी बहिन है।

राजा : आप क्या कहते हैं? यह तो इसे महासेन की पुत्री बताते हैं!

यौगन्धरायण : हे राजन्,

ज्ञानी शुद्ध विनीत, आप भरत वंशीय हैं।
राज धर्म विपरीत, उचित नहीं अनरीति यह।

राजा : अच्छा, तो मैं रूप सादृश्य देखूँ। घूँघट कम करो।

यौगन्धरायण : महाराज की जय हो।

वासवदत्ता : आर्यपुत्र की जय हो।

राजा : अरे! यह तो यौगन्धरायण! यह महासेनपुत्री!

सच है अथवा यह स्वप्न अहा!
मैं पुनः प्रिया को देख रहा।
पहले भी मैं हूँ देख चुका,
हा! वंचित होकर किन्तु रुका।

यौगन्धरायण : महाराज, देवी को छिपाकर मैंने बड़ा अपराध किया है। मुझे क्षमा कीजिए।

[पैरों पर गिरता है]

राजा : **(मन्त्री को उठाकर)** यौगन्धरायण!

शास्त्र, नीति, रण-मन्त्रणा, मिथ्योन्माद प्रचार,
अहो डूबने से हमें तुमने लिया उबार।

यौगन्धरायण : हम लोग तो स्वामी के भाग्य के अनुगामी हैं।

पद्मावती : अहो! यह आर्या हैं! आर्ये! अनजाने में मैंने तुमसे सखी के समान

व्यवहार किया है, इस अपराध के लिए तुम्हारे पैरों पर सिर रख कर क्षमा माँगती हूँ।

वासवदत्ता : (**पद्मावती को उठाकर**) उठ, उठ, सौभाग्यती! तुझे अपराधी होना नहीं सोहाता!

पद्मावती : मैं अनुगृहीत हुई।

राजा : बन्धु, यौगन्धरायण, क्या विचार कर तुमने देवी को छिपा रखा था?

यौगन्धरायण : केवल कौशाम्बी की रक्षा के लिए।

राजा : ठीक, परन्तु इसे पद्मावती के समीप रखने का क्या कारण?

यौगन्धरायण : पुष्पक भद्रादि सिद्ध पुरुषों ने कहा था कि राजकुमारी पद्मावती आपकी महारानी होंगी।

राजा : तो रुमण्वान भी इस बात को जानता था?

यौगन्धरायण : नाथ! सभी जानते थे।

राजा : अहो, रुमण्वान भी बड़ा शठ है।

यौगन्धरायण : महाराज, देवी का कुशल समाचार सुनने के लिए आर्य रैभ्य और आर्या वसुन्धरा को विदा कीजिए।

राजा : नहीं, नहीं। देवी पद्मावती के साथ हम सभी लोग चलेंगे।

यौगन्धरायण : जो आज्ञा।

[भरत वाक्य]

हिमगिरि और विन्ध्य जिसके हैं दो कुण्डल द्युतिमन्त,
सीमा है जिस हरी भरी की रत्नाकर पर्यन्त,
उस विशाल वसुधा का होकर प्रेमपात्र सर्वत्र,
रहे हमारा राजसिंह चिर-शासक एकच्छत्र।

[पटाक्षेप]

इति षष्ठांक

प्रतिमा

सीता लक्ष्मण सहित राम रक्षा करें,
उनकी प्रतिमा सदा हृदय में हम धरें।

प्रतिमा

पात्र

पुरुष

सूत्रधार : नाटक का संचालक।
कंचुकी : रनिवास का रक्षक।
राम : दशरथ जी के बड़े पुत्र।
लक्ष्मण : राम के छोटे भाई।
दशरथ : अयोध्या के राजा।
सुमन्त्र : दशरथ का मन्त्री और सारथि।
सुधाकार : झाड़-पोंछ करने वाला।
भट : देख-भाल करने वाला, योद्धा।
भरत : कैकेयी का पुत्र।
सारथी : रथ हाँकने वाला।
सूत : भरत का रथ हाँकने वाला।
रावण : लंका का राजा।
शत्रुघ्न : राम के एक भाई।

स्त्रियाँ

नटी : सूत्रधार की स्त्री।
प्रतिहारी : द्वारपालिका।
अवदातिका : साज-सज्जा करने वाली।
सीता : राम की पत्नी।
चेटी : दासी।
महारानियाँ : दशरथ की पत्नियाँ।
विजया : एक दासी।
नन्दिनिका : एक दासी।
तापसी : आश्रम की देखभाल करने वाली।
कैकेयी : भरत की माँ।

श्रीगणेशाय नमः

प्रतिमा

प्रथम अंक

[नान्दी के अन्त में सूत्रधार]

सूत्रधार : *सीताभवः पातु सुमन्त्रतुष्टः*
सुग्रीवरामः सहलक्ष्मणश्च।
रावणार्यप्रतिमश्च देव्या
विभीषणात्मा भरतोऽनुसर्गम्।
सीता के कल्याणकारी सुमन्त्र से सन्तुष्ट सुग्रीव (सुन्दर ग्रीवा वाले) लक्ष्मण सहित भरत (भरणकर्त्ता) विभीषण (भयंकरता से रहित, सुन्दर) आत्मा वाले रावण के वैरी अप्रतिम रामचन्द्रजी जन्म-जन्म में रक्षा करें।

[नेपथ्य की ओर देखकर]

आर्ये, आओ न।

[नटी का प्रवेश]

नटी : आर्य, मैं यह आ गयी।

सूत्रधार : आर्ये, इस समय शरद ऋतु है। क्या अच्छा होता यदि इस समय के अनुकूल तुम कोई गीत गातीं।

नटी : आर्य की जो आज्ञा (गाती है)

सूत्रधार : अहा! इसी समय
कास-वसन पहने पुलिनों में,
विचर राजहंसी भाती है।

[नेपथ्य में]

आर्य, आर्य!

सूत्रधार : (सुनकर) अच्छा, ज्ञात हो गया।

ज्यों नरेन्द्र-गृह में द्रुत प्रमुदित,
प्रतिहारी आती जाती है।

[दोनों का प्रस्थान]

इति स्थापना

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : यहाँ कांचुकियों में कौन है?

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : मैं हूँ। क्या करना होगा?

प्रतिहारी : आर्य, देवासुर संग्राम में अप्रतिहत रथ वाले महाराज दशरथ आज्ञा देते हैं कि शीघ्र ही राजकुमार रामचन्द्र के राज्याभिषेक की सामग्री एकत्र करो।

कंचुकी : महाराज ने जो आज्ञा दी है उसके अनुसार सब कुछ प्रस्तुत है।
पटह पताका छत्र व्यजन भद्रासन प्रस्तुत,
दर्भ कुसुम सह कनक कलश हैं तीर्थ सलिल युत।
उत्सव रथ जुत गया सचिव पुरजन सब आये,
मंगल मय भगवन् वशिष्ठ वेदी पर भाये।

प्रतिहारी : ऐसा है तो ठीक है।

कंचुकी : अहा!
रामचन्द्र का भूमि पर करके यह अभिषेक,
किया कृतार्थ नरेन्द्र ने हम सबको सविवेक।

प्रतिहारी : आर्य, शीघ्रता कीजिए।

कंचुकी : शीघ्रता ही करता हूँ।

[प्रस्थान]

प्रतिहारी : **(घूमकर देखती हुई)** आर्य सम्भवक, जाओ तुम भी महाराज के कथनानुसार पुरोहितजी से यथोपचार में शीघ्रता करने को कहो। सारिके, सारिके! संगीतशाला में जाकर कह—समयोपयोगी नाटक की सज्जा की जाय।
तब तक मैं भी जाकर महाराज से निवेदन करूँ कि सब कुछ प्रस्तुत है। **(प्रस्थान)**

[वल्कल लिये अवदातिका का प्रवेश]

अवदातिका : अहो! अति हो गयी। परिहास में भी ये वल्कल ले जाते हुए मुझे डर लगता है। फिर लोभवश पराया धन हरने वालों को भय क्यों न हो? मुझे हँसी-सी आती है, परन्तु अकेले-अकेले हँसना अच्छा नहीं।

[चेटी के साथ सीता का प्रवेश]

सीता : अरी, यह अवदातिका शंकित-सी क्यों हो रही है?

चेटी : स्वामिनी, सेवक सदा ही अपराधी है, कोई अपराध हो गया होगा।

सीता : नहीं, नहीं, यह हँसती-सी है।

अवदातिका : **(समीप जाकर)** स्वामिनी की जय हो। स्वामिनी, मेरा कोई अपराध नहीं।

सीता : तुझसे कौन कहता है। तू बायें हाथ में यह क्या लिये है?

अवदातिका : स्वामिनी, यह वल्कल है।

सीता : इसे तू कहाँ से लायी है?

अवदातिका : स्वामिनी, सुनिए। नेपथ्य की रक्षा करने वाली आर्या रेवा से शृंगार से बचा हुआ अशोक का एक किसलय मैंने माँगा था। उसने नहीं दिया। इसलिए मैं इसे उठा लायी हूँ।

सीता : तूने अच्छा नहीं किया। जा, इसे दे आ।

अवदातिका : स्वामिनी, केवल विनोद के लिए मैं इसे ले आयी हूँ।

सीता : अरी पगली, दोष इसी प्रकार बढ़ते हैं। जा, जा, दे आ।

अवदातिका : जो आज्ञा

[जाना चाहती है]

सीता : अरी ठहर, इधर तो आ।

अवदातिका : स्वामिनी, क्या आज्ञा है।

सीता : अरी, यह क्या मुझे भी फबेगा।

अवदातिका : सुरूप सबको शोभित कर देता है। स्वामिनी इसे भूषित करें।

सीता : अच्छा, ला। **(लेकर और पहनकर)**
अरी, देख यह फबता है वा नहीं।

अवदातिका : आपको यह वल्कल सुवर्ण जैसा शोभित होता है।

सीता : **(चेटी से)** अरी, तू कुछ नहीं कहती?

चेटी : कहने की आवश्यकता नहीं, मेरे रोमांच ही कह रहे हैं। **(पुलक भाव दिखाती है)**

सीता : अरी, तनिक दर्पण तो लाना।

चेटी : **(जाकर और दर्पण लाकर)** स्वामिनी, यह है दर्पण।

सीता : **(चेटी के मुख की ओर देखकर)** दर्पण रहने दे। जान पड़ता है, तू कुछ कहना चाहती है?

चेटी : स्वामिनी, मैंने सुना है आर्य बालाकि कंचुकी कहते हैं—अभिषेक है, अभिषेक है।

सीता : राज्य का स्वामी तो कोई होता ही है।

[दूसरी चेटी का प्रवेश]

चेटी : स्वामिनी, शुभ संवाद है, शुभ संवाद है।

सीता : तू क्या कहना चाहती है?

चेटी : बड़े राजकुमार का अभिषेक होने वाला है।

सीता : पिताजी तो कुशलपूर्वक हैं?

चेटी : वे ही अभिषेक करेंगे।

सीता : तब तो मैंने दो प्रिय समाचार सुने। अपना आँचल फैला।

चेटी : जो आज्ञा। **(वैसा ही करती है)**

सीता : **(आभूषण उतार कर देती हैं)**

चेटी : स्वामिनी, नगाड़ों का-सा शब्द हो रहा है।

सीता : वही है।

चेटी : यह तो एक बार होकर ही रुक गया।

सीता : अभिषेक में क्या बाधा आ गयी अथवा राजकुल की बातें विचित्र होती हैं।

चेटी : स्वामिनी, मैंने सुना है, राजकुमार का अभिषेक करके महाराज वन को जायँगे।

सीता : यदि ऐसा है तो यह अभिषेकोदक नहीं, मुखोदक है!

[राम का प्रवेश]

राम : अहो!

जब भेरी बज उठी, उपस्थित थे गुरुजन सब,
भद्रासन पर बैठ गया था मैं बढ़कर जब।
मन्त्रोचारित हुए, झुके अभिषेक हेतु घट,
तभी विसर्जित किया पिता ने मुझे बुला झट।
स्थिर देख मुझे तब भी हुआ लोगों को विस्मय वहाँ,
पितुराज्ञा पाले पुत्र तो इसमें है विस्मय कहाँ?

हे पुत्र, इस समय ठहरो, यह कहकर पिता ने मुझे विसर्जित किया। भार-सा उतर जाने के कारण मेरा मन हलका हो गया है। अच्छा, अब मैं वही राम हूँ, महाराज वही महाराज हैं। तो अब मैं मैथिली से मिलूँ।

चेटी : स्वामिनी, राजकुमार आ रहे हैं। आपने वल्कल नहीं उतारे?

राम : मैथिली, क्या हो रहा है?

सीता : आहा! आर्यपुत्र हैं, आर्यपुत्र की जय हो।

राम : मैथिली, आओ बैठें। **(बैठते हैं)**

सीता : जो आज्ञा। **(बैठती हैं)**

अवदातिका : राजकुमार का वही वेष है। यह अलीक-सा होगा।

सीता : वैसे पुरुष अलीक को अंगीकार नहीं करते अथवा राजकुल की बातें अनेक प्रकार की होती हैं।

राम : मैथिली, यह क्या कह रही हो।

सीता : कुछ नहीं, यह दासी अभिषेक अभिषेक कहती है।

राम : तुम्हारा कौतूहल मैं जानता हूँ। अभिषेक की बात सुनो, आज महाराज ने उपाध्याय, मन्त्री और प्रजाजनों के सामने एक प्रकार से कोसल राज्य को संक्षिप्त-सा करके मुझे बाल्यकाल के बैठने की गोद में बिठाया और बड़े स्नेह से कहा—कौशल्यानन्दन राम, राज्य भार ग्रहण करो।

सीता : तब आर्यपुत्र ने क्या कहा?

राम : तुम बताओ, देखें।

सीता : मैं तो जानती हूँ कि बिना कुछ कहे दीर्घ निःश्वास लेकर आर्यपुत्र महाराज के चरणों में गिर पड़े होंगे।

राम : तुमने यथार्थ सोचा। समान शील वाले जोड़े अल्प ही होते हैं। मैं उस समय उनके चरणों में ही गिरा।

उनके ऊपर, मेरे नीचे आँसू गिरे एक ही संग,
मेरा सिर उनके पद युगपद भीगे हम दोनों के अंग।

सीता : तब, तब?

राम : जब मैंने उनका अनुरोध स्वीकार न किया तब उन्होंने आसन्न जरा दोष से युक्त अपने प्राणों की सौगन्ध धराई।

सीता : तब? तब?

राम : तब—

लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न ने अभिषेक के युग घट लिये,
रोते हुए नरपति स्वयं ही छत्र थे धारण किये।
सम्भ्रान्तता से मन्थरा कुछ कान में बोली वहीं,
तब बहुत धीरे से कहा नृप ने कि मैं राजा नहीं।

सीता : यह मुझे बहुत अच्छा लगा। महाराज ही महाराज और आर्यपुत्र ही आर्यपुत्र हैं।

राम : मैथिली, तुमने अलंकार क्यों उतार डाले हैं?

सीता : नहीं, पहन लूँगी।

राम : जान पड़ता है, भूषण अभी उतारे गये हैं।

शीघ्र उतारे गये सुकुण्डल
नीचे झुक आये हैं कान,

गोरे हैं विशेष हाथों के
गहनों के नीचे के स्थान।
दबे अलंकारों से थे जो
हुए नहीं सम अब तक अंग,
बिना मंडनों के भी मंडित
हैं मंडन-चिह्नों के संग।

सीता : आर्यपुत्र अलीक को भी सत्य-सा सिद्ध करते हैं।

राम : तो आभूषण धारण करो, मैं दर्पण दिखाता हूँ। **(दर्पण लेकर)**
दर्पण में वल्कल-से क्या ये
दिनकर के कर हैं द्युतिमान?
नियमस्पृहा प्रकट करती है
प्रिये, तुम्हारी मृदु मुस्कान।
अवदातिके, यह क्या है?

अवदातिका : स्वामी, वल्कल सुन्दर लगते हैं वा नहीं, इसी कौतूहल से पहने गये हैं।

राम : मैथिली, क्या तुमने इक्ष्वाकुवंशियों के वृद्धों के अलंकार धारण किये हैं? हम भी इन्हें चाहते हैं। लाओ।

सीता : आर्यपुत्र, यह अशुभ वचन न कहें।

राम : मैथिली रोकती क्यों हो?

सीता : अभी, अभी, आर्यपुत्र का अभिषेक रुक गया है। इसीलिए यह कहना मुझे अशुभ-सा लगता है।

राम : *तुम मेरे अर्द्धांग में बाँध सुवल्कल आप,*
करती हो अयि प्रियतमे, क्यों अब यों परिताप?

[नेपथ्य में]

: हा हा! महाराज!

सीता : आर्यपुत्र यह क्या है?

राम : **(सुनकर)**
सुन पड़ता है स्त्री-पुरुषों का
निर्मर्याद निनाद जहाँ,
तो निश्चय ही किया मूल में
विधि ने है आघात वहाँ।
शीघ्र देखो, क्या हुआ।

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : कुमार, रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए।

राम : आर्य, किसकी रक्षा?

कंचुकी : महाराज की!

राम : इसका तो यह आशय है कि एक शरीर में संक्षिप्त सम्पूर्ण भूमण्डल की रक्षा करनी है। यह दोष कहाँ से उत्पन्न हुआ?

कंचुकी : स्वजन से।

राम : स्वजन से? हाय! तब तो इसका कोई प्रतिकार नहीं।
परजन तन पर, निज जन मन पर करते हैं आघात;
लज्जाप्रद है मुझे कहो, यह किस निज जन की बात।

कंचुकी : महारानी कैकेयी की।

राम : क्या माता की? तब तो इसमें आगे कुछ अच्छा ही होगा।

कंचुकी : सो कैसे?

राम : सुनिए।

स्वामी शक्र तुल्य हैं जिनके
और पुत्र जिनका मैं राम,
फिर किस फल की इच्छा से वे
कर सकती हैं ऐसा काम?

कंचुकी : कुमार, नष्ट हुई स्त्रियों की बुद्धि पर अपनी ऐसी सरलता स्थापित करना व्यर्थ है। उन्हीं के कहने से तो आपका अभिषेक रोक दिया गया है।

राम : आर्य, यहाँ तो गुण ही हैं। दोष नहीं।

कंचुकी : कैसे?

राम : सुनिये,

टल जायगा नर नाथ का वनगमन का प्रस्ताव,
रह जायगा मेरा पिता के वश सुबालक भाव।
शंका न देगा अब प्रजा को नव नृपति का योग,
वंचित न होंगे अनुज मेरे, पायँगे समभोग।

कंचुकी : उन्होंने तो बिना पूछे आकर कहा है कि भरत को राज्य दे दो। इसमें भी क्या आपको उनका लोभ नहीं जान पड़ता?

राम : आर्य, मेरे पक्षपात के कारण ही आप अर्थ का विचार नहीं करते। क्योंकि—

शुल्क लभ्य धन यदि जननी को
न हो पुत्र के अर्थ त्याज्य,
तो यह उनका लोभ? हमारा
नहीं, हरें हम भ्रातृ राज्य?

कंचुकी : फिर?

राम : अब में माता की निन्दा नहीं सुनना चाहता। महाराज का वृत्तान्त कहो।

कंचुकी : उस समय—

बोल न सके शोक वश राजा,
किया उन्होंने इंगित मात्र,
क्या अभीष्ट था उन्हें, न जाने,
मूर्च्छा-ग्रस्त हो गया गात्र।

राम : क्या, क्या, महाराज कैसे मूर्च्छित हो गये?

[नेपथ्य में]

कैसे मूर्च्छित हो गये।

धनुष उठा लो, दया छोड़ दो,
यदि असह्य नृप-मूर्च्छा-मोह।

राम : **(सुनकर और सामने देखकर)**

क्षुब्ध क्यों अक्षोभ्य लक्ष्मण धैर्य पारावर,
छू नहीं सकता जिन्हें अविवेक वा अविचार।
क्रोध से जिनके तनिक भी सहज होकर नष्ट,
सैकड़ों सम्मुख पड़े-से दीखते हैं स्पष्ट।

[धनुष बाण लिये लक्ष्मण का प्रवेश]

लक्ष्मण : (सक्रोध) कैसे, महाराज कैसे मूर्च्छित हो गये?

धनुष उठा लो, दया छोड़ दो,
यदि असह्य नृप-मूर्च्छा-मोह;
अपमानित करता है यों ही
स्वजनों के प्रति अतिशय छोह।
तुमको यह न रुचे तो छोड़ो
मुझे, दिखाऊँ निज उद्योग,
युवति-रहित मैं करूँ लोक को,
जिससे छले गये हम लोग!

सीता : आर्यपुत्र, लक्ष्मण ने रोने के समय धनुष उठाया है, अपूर्व है इनका साहस!

राम : सुमित्रानन्दन! यह क्या है?

लक्ष्मण : क्या है, है क्या?

क्रम से प्राप्त राज्य अपहृत है,
पृथ्वी पर हैं पड़े पिता।

अब भी क्या कुछ संशय है यह?
क्षमा नहीं, निर्मनस्विता!

राम : हमारा अभिषेक रुक जाने से तुम उत्तेजित हो उठे हो। आह! इतनी अधीरता।

हम राजा हों वा भरत दोनों तुम्हें समान,
करो उन्हीं का त्राण, यदि तुमको धनुरभिमान।

लक्ष्मण : मैं क्रोध नहीं रोक सकता। जो हो सो हो, मैं जाता हूँ। (जाते हैं)

राम : *करने को त्रैलोक्य दग्ध-सा*
स्थित ललाट-पुट में विकराल,
नियति रूपिणी है लक्ष्मण की
प्रकट विकट यह भृकुटि अराल।

लक्ष्मण, इधर आओ।

लक्ष्मण : **(लौटकर)** आर्य, मैं यह आया।

राम : तुम्हें स्थिर करने के लिए ही मैंने वैसा कहा था। अब तुम्हीं बताओ—

चाप चढ़ावें पूज्य पिता पर,
जो कर रहे सत्य का त्राण?
निज धन लेने वाली माँ पर,
छोड़ें प्राण-विनाशी बाण?
मारें भरत तुल्य भाई को,
जो हैं सब दोषों से दूर?
समुचित है क्या यही, करें हम,
तीन तीन अघ ऐसे क्रूर?

लक्ष्मण : **(आँसू भरकर)** हा! मुझे धिक् है। बिना जाने आप मुझे उपालम्भ दे रहे हैं—

जिसके पीछे इतना क्लेश,
मुझे राज का लोभ न लेश।
किन्तु सहे कैसे यह दास,
चौदह वर्ष तुम्हें वनवास?

राम : इसी के लिए महाराज मूर्च्छित हो गये हैं? अहो इतनी अप्रभुता, इतनी दुर्बलता! मैथिली—

मंगलार्थ जो अभी तुम्हें इसने दिये,
लाओ वल्कल वही मुझे तुम दो प्रिये।
अन्य नृपों ने जिसे किया न कहा कभी,
पालूँ मैं वह धर्म धन्य होकर अभी।

सीता : आर्यपुत्र, ग्रहण करें।
राम : मैथिली, तुमने क्या निश्चय किया?
सीता : मेरा निश्चय क्या? मैं तो सहधर्मचारिणी हूँ।
राम : मुझे अकेला ही जाना चाहिए।
सीता : मैं पीछे पीछे चलूँगी।
राम : वन में रहना होगा।
सीता : वन मेरे लिए प्रासाद होगा।
राम : सास-ससुर की सेवा छूट जावेगी।
सीता : उनके लिए देवताओं को प्रणाम करती हूँ।
राम : लक्ष्मण, इन्हें रोको?
लक्ष्मण : आर्य! क्षमा कीजिए। श्लाघनीय कर्म से इन्हें कैसे रोकूँ—

ग्रहण में भी रोहिणी निज इन्दु की है अनुगता,
यदि गिरे वन तरु उसी के साथ गिरती है लता।
पंक मग्न करीन्द्र को तजती नहीं करिणी कभी,
शील धर्म धरें न क्यों सतियाँ प्रतिप्राणा सभी।

[चेटी का प्रवेश]

चेटी : स्वामिनी की जय हो। नेपथ्य पालिनी आर्या रेवा प्रणाम करके निवेदन करती हैं कि अवदातिका संगीतशाला से वल्कल उठा लाई थी। ये दूसरे नये वल्कल हैं। आवश्यकता हो तो रक्खे जायँ।
राम : भद्रे, ला। सीता तो पहले ही ले चुकी हैं। मुझे आवश्यकता है।
चेटी : स्वामी ग्रहण करें। **(देकर जाती है)**

[राम ग्रहण करके पहनते हैं]

लक्ष्मण : आर्य प्रसन्न हों—

मुझे समान दिये हैं तुमने
भूषणादि सम्पूर्ण पदार्थ,
चीर अकेले ही बाँधे हैं
हुआ इन्हीं में क्यों यह स्वार्थ?

राम : मैथिली, लक्ष्मण को रोको।
सीता : **(लक्ष्मण से)** लल्ला, रुक जाओ।
लक्ष्मण : *तुमको ही निज गुरु-पद-सेवा*
करने दूँ क्या देवी, मैं,
दक्षिण चरण-सेवनी तुम हो,
रहूँ वाम-पद सेवी मैं।

सीता : आर्यपुत्र, लक्ष्मण बहुत सन्तप्त हो रहे हैं। इन्हें निराश न कीजिए।

राम : लक्ष्मण, सुनो—

इन्द्रिय-तुरगों के ललाम जो
नियम-गजों के अंकुश पूत,
लो, ये वल्कल तपस्समर के
वर्म, धर्म के रथ के सूत।

लक्ष्मण : अनुगृहीत हुआ। **(लेकर पहनते हैं)**

राम : पुरवासियों ने सब समाचार सुनकर राजमार्ग रोक लिया है। उन्हें अलग हो जाने को कहो।

लक्ष्मण : आर्य, मैं आगे-आगे चलता हूँ। अलग हो जाइए, अलग हो जाइए, मार्ग दीजिए।

राम : मैथिली, घूँघट की आवश्यकता नहीं।

सीता : जो आज्ञा।

राम : पुरजनो, सुनो—

नयनाश्रुओं से दृष्टि यद्यपि हो रही है मन्द,
देखो इसे तुम लोग सब स्वच्छन्द।
निर्दोष दृश्या हैं स्त्रियाँ जब हो विपद, भय, त्रास,
वा यज्ञ हो वा व्याह वा बनवास।

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : कुमार, न जाइए, न जाइए, रुकिए। ये महाराज—

भ्रातृभक्तिवश हुए स्वयं ही लक्ष्मण जिनके साथ,
वधू सहित वन गमन तुम्हारा सुनकर ये नरनाथ;
धरा-धूलि-धूसरित हुआ है जिनका वृद्ध शरीर,
वन-कुंजर समान आते हैं भरे दृगों में नीर।

लक्ष्मण : आर्य,

अपना और देखना अब क्या
चीर मात्र जिनका परिधान,

राम : *अपने जाने पर अब नरपति*
देखें अपने शीर्षस्थान।

[सबका प्रस्थान]

द्वितीय अंक

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : प्रतिहारियो, अपने अपने स्थान पर सावधान रहो!

[एक प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : आर्य, यह क्या है?

कंचुकी : महाराज दशरथ, अपनी सत्य-रक्षा करने के लिए राम को वन जाने से न रोक सके। अब पुत्र-विरह से शोक सन्तप्त होकर उन्मत्त की भाँति प्रलाप करते हुए समुद्र-गृह में पड़े हुए हैं।

कल्पान्त के समय चंचल मेरु जैसे,
वा सूखते अतुल आकृति सिन्धु ऐसे।
वा सान्ध्य सूर्य सम शेष सुवृत्तमात्र,
शोकार्त्त शीर्ण गति हैं नृप जीर्ण गात्र।

प्रतिहारी : हाय! ऐसे हो गये हैं महाराज?

कंचुकी : तुम जाओ, सावधान रहो।

प्रतिहारी : बहुत अच्छा।

[प्रतिहारी का प्रस्थान]

कंचुकी : **(सब ओर देखकर)** अहो! जब से रामभद्र वन को गये हैं तब से अयोध्या सूनी सी दिखाई देती है।

गजवर हैं तृण-विमुख, अश्व आँसू भरते हैं,
पुरवासी अति दीनवदन, रोदन करते हैं।
बाल-वृद्ध, नर-नारि छोड़ कर खाना पीना,
मरण तुल्य सब मान रहे हैं अपना जीना।
हैं सीता लक्ष्मण राम के बिना व्यर्थ सब लेखते,
जिस ओर गये हैं वे, सभी उसी ओर हैं देखते।

मैं भी अब महाराज के पास चलूँ।

[घूमकर देखते हुए]

अरे, ये महारानी कौसल्या और सुमित्रा के साथ महाराज बैठे हैं। महारानियाँ पुत्र के विरह शोक को किसी प्रकार अपने भीतर रोक कर उनकी सेवा-सँभाल कर रही हैं। हाय कैसा कष्ट है! ये महाराज—

उठ उठ कर गिर गिर पड़ते हैं
करते हैं अति हाहाकार,
जिधर गये हैं राम उधर ही

आतुर होकर रहे निहार।

[प्रस्थान]

इति मिश्रविष्कम्भक।

[यथा निर्दिष्ट स्थिति में महाराज और महारानियाँ]

दशरथ : *हा वत्स राम! सब के नयनाभिराम!*
हा वत्स लक्ष्मण! सुलक्षण शील-धाम!
हा साध्वि मैथिलि! पतिस्थित वृत्त तेरे,
हा हा! गये गहन को प्रिय पुत्र मेरे!

अहो! कैसा आश्चर्य है, भाई के स्नेह के कारण पिता का स्नेह छोड़ देने वाले लक्ष्मण को देखने की मुझे इच्छा हो रही है। बहू वैदेही!

छोड़ा रामचन्द्र ने मुझको,
लक्ष्मण ने है मुँह मोड़ा,
भव में मुझ अपयश भाजन को
वत्से, तूने भी छोड़ा।

पुत्र राम! वत्स लक्ष्मण! बहू वैदेही! पुत्रो, मुझे उत्तर दो। सब सूना हो गया। कोई नहीं बोलता। कौसल्यानन्दन, तुम कहाँ हो।

सत्य-सिन्धु मत्सर रहित सबके प्रिय जित-क्रोध,
गुरुजन सेवा-रत, मुझे दो प्रतिवाक्य-प्रबोध।

हा! सब लोगों के नयनाभिराम राम कहाँ हैं? मुझमें श्रद्धा-भक्ति रखने वाले कहाँ हैं? शोकार्त्तों में अनुकम्पा-मूर्ति कहाँ हैं? अगणित राजैश्वर्य को तृणवत् समझने वाले कहाँ हैं? पुत्र राम, जरा-जीर्ण पिता को छोड़कर उस अयोग्य धर्म से तुम्हें क्या प्रयोजन था? हा कष्ट—

गये सूर्य-सम राम दिवस-सम
पीछे लक्ष्मण गये वहीं,
सूय-दिवस के बिना दीखती
छाया-सी मैथिली नहीं।

(**ऊपर देखकर**) ओ हत दैव,—

हुए न हम अनपत्य और क्यों,
अन्य नृपति के पुत्र न राम?
हुई न क्यों नागिन कैकेयी?
किये न क्यों तूने ये काम?

कौसल्या : महाराज, अब अधिक सन्ताप न करें, धैर्य धरें। अवधि पूरी होने

पर महाराज फिर वधू और पुत्रों को पायँगे।

दशरथ : तुम कौन हो?

कौसल्या : महाराज मैं स्नेह शून्य पुत्र की जननी हूँ।

दशरथ : क्या क्या, सबके नयनाभिराम राम की जननी तुम कौसल्या हो।

कौसल्या : महाराज मैं वही मन्द भागिनी हूँ।

दशरथ : कौसल्ये, तुम्हीं सारवती हो, तुम्हीं ने रामचन्द्र को गर्भ में धारण किया है।

मैं दग्धेन्द्रिय यह व्यथा, जो असह्य ज्यों आग,
न तो झेल सकता न हा! कर सकता हूँ त्याग।

(सुमित्रा को देखकर) यह दूसरी कौन हैं?

कौसल्या : महाराज, वत्स लक्ष्मण--

दशरथ : **(बीच में ही सहसा उठकर)** कहाँ है, कहाँ है वत्स लक्ष्मण? दिखाई नहीं देता।

[दोनों महारानियाँ घबराकर महाराज को सँभालती हैं]

कौसल्या : महाराज, मैं यह कहती थी कि ये वत्स लक्ष्मण की जननी सुमित्रा हैं।

दशरथ : अयि सुमित्रे,

पुत्रों में सत्पुत्र जगत में
है तेरा ही जीवन जात।
जो प्रतिबिम्ब समान राम का
सहचर है वन में दिन रात।

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : महाराज की जय हो। श्री सुमन्त्रजी आ गये हैं।

दशरथ : **(सहसा उठकर सहर्ष)** राम के साथ?

कंचुकी : नहीं, रथ के साथ।

दशरथ : क्या क्या? केवल रथ के साथ? **(मूर्च्छित होकर गिरते हैं)**

महारानियाँ : महाराज, सावधान हों, सावधान हों। **(शरीर सहलाती हैं)**

कंचुकी : हाय! ऐसे पुरुषों की भी यह दशा! दैव का विधान टाला नहीं जा सकता। महाराज सावधान हों, सावधान हों।

दशरथ : **(कुछ सावधान होकर)** बालाके, सुमन्त्र अकेले ही आये हैं?

कंचुकी : हाँ महाराज।

दशरथ : हाय कष्ट!

आया है यदि शून्य रथ, हुआ मनोरथ छार;
आया दशरथ के लिए यम-रथ-क्रम-पथ धार।

तो शीघ्र ले आओ?

कंचुकी : जो आज्ञा। **(जाता है)**

दशरथ : *धन्य तटाकस्पर्शी वह वन-वात,*
भेंटे विचरण में जो रघुवर-गात

[सुमन्त्र का प्रवेश]

सुमन्त्र : **(सब ओर देखकर)**
शोक दग्ध चिन्ता से दीन,
वहु विलाप कर राम विहीन;
छोड़ छोड़ कर निज निज कृत्य,
नृप-निन्दा करते हैं भृत्य।
(पास जाकर) महाराज की जय हो।

दशरथ : भाई सुमन्त्र–
कहाँ ज्येष्ठ सुत राम हमारा
नहीं–नहीं, मैंने ठीक नहीं कहा।
कहाँ ज्येष्ठ सुत राम तुम्हारा?
कहाँ विदेह-नन्दिनी है?
जो गुरुजन सेवा परायणा
प्रिय की प्रेम-वन्दिनी है।
और, कहाँ है प्रिय लक्ष्मण ही?
कहा पिता से क्या, किसने?
मरते समय डुबाया सबको
शोक-सिन्धु में है जिसने।

सुमन्त्र : महाराज ऐसे अशुभ वचन न कहिए। शीघ्र ही आप उन्हें देखेंगे।

दशरथ : सचमुच मैंने उचित नहीं कहा। तपस्वियों के विषय में ऐसा पूछना ठीक नहीं। अच्छा उनका तप तो बढ़ रहा है? अरण्य में स्वच्छन्द विचरती हुई वैदेही क्लान्त तो नहीं होती?

सुमित्रा : सुमन्त्र, वल्कल पहने हुए बाला होकर भी अबाल्य चरित्र वाली, पति की सहधर्मचारिणी जानकी हमसे और महाराज से कुछ कहती तो न थी?

सुमन्त्र : सबने आपको–

दशरथ : नहीं नहीं। कानों के रसायन, हमारे आतुर हृदयों के जीवनौषध रूप उनके नाम ले लेकर बताओ, किसने क्या कहा?

सुमन्त्र : जो आज्ञा। आयुष्मान् राम।

दशरथ : राम, यह राम। उनके नाम को सुनकर मुझे ऐसा लगता है, मानो

मैंने उनका आलिंगन किया।

सुमन्त्र : आयुष्मान् लक्ष्मण।

दशरण : यह लक्ष्मण।

सुमन्त्र : आयुष्मती मैथिली।

दशरथ : यह वैदेही। राम, लक्ष्मण, वैदेही। परन्तु यह क्रम तो ठीक नहीं।

सुमन्त्र : कौन-सा क्रम ठीक है?

दशरथ : राम, सीता, लक्ष्मण, ऐसा कहो–

राम और लक्ष्मण दोनों के
मध्य मैथिली रहे सदा,
रक्षित तभी रह सकेगी वह,
वन में पद पद पर विपदा।

सुमन्त्र : महाराज की जैसी आज्ञा। आयुष्मान् राम।

दशरथ : यह राम।

सुमन्त्र : आयुष्मती जनक-राजपुत्री।

दशरथ : यह वैदेही।

सुमन्त्र : आयुष्मान् लक्ष्मण।

दशरथ : यह लक्ष्मण! राम! वैदेहि! लक्ष्मण! पुत्रो, मेरी गोद में आ जाओ–

एक बार देखूँ राघव को
अथवा उसको छू पाऊँ
तो मानो पीयूष प्राप्त कर
मैं गतायु भी जी जाऊँ

सुमन्त्र : शृंगवेरपुर में रथ से उतर कर और अयोध्या की ओर खड़े होकर उन्होंने महाराज को शिरसा प्रणाम किया। फिर वे कुछ कहने चले–

कुछ विचार करके कहने को
होंठ हिले ज्यों पत्र नये।
गला रुँधा, आँसू आने से
बिना कहे ही चले गये।

दशरथ : बिना कहे ही चले गये! **(दुगनी मूर्च्छा)**

सुमन्त्र : **(ससम्भ्रम)** बालाके, मन्त्रियों से कहो कि महाराज अप्रतिकार वाली अवस्था को पहुँच गये हैं।

कंचुकी : बहुत अच्छा। **(जाता है)**

महारानियाँ : महाराज सावधान हों, सावधान हों।

दशरथ : **(कुछ सचेत होकर)**

मुझको स्पर्श करो कौसल्ये,

हाय! हो गया दृष्टि-निरोध,
अब भी लौटा नहीं, राम के
साथ गया जो मेरा बोध।

पुत्र राम, मैंने निरन्तर सोचा था—
देकर तुमको राज्य, प्रजा को
सुनृप-लाभ से कर कृतकृत्य,
कहकर तुमसे, सब अनुजों को
रखना तुल्य-विभव तुम नित्य।
जाऊँगा मैं तृप्त तपोवन,
धारण करके समुचित वेष,
हा! क्षण में कर दिया अन्यथा
कैकेयी ने सब निःशेष।

कैकेयी से कहो—

सुमन्त्र : *राम गये, हम भी मरे, पूर्ण-काम तू आप,*
शीघ्र बुला सुत को, फले पापिन, तेरा पाप।

दशरथ : **(ऊपर को देखकर)** अरे, राम की व्यथा-कथा सुनने से मुझ दग्ध हृदय को समझाने के लिए पितर आये हैं। कौन है?

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : महाराज की जय हो।

दशरथ : जल लाओ।

कंचुकी : जो आज्ञा। **(जाकर और जल लाकर)** महाराज की जय हो, यह है जल।

दशरथ : **(आचमन करके। ऊपर देखते हुए)**
ये अमरपति के सखा विख्यात देव दिलीप हैं,
ये महात्मा रघु तथा ये तात अज अवनीप हैं,
हेतु क्या है, आप जो सब लोग आये हैं यहाँ?
समय मेरा भी हुआ, चलकर रहूँ मैं भी वहाँ।

राम, सीता, लक्ष्मण मैं यहाँ से पितरों के पास जाता हूँ। हे पितरो! मैं यह आया। **(मूर्च्छा और मृत्यु)**

[कंचुकी यवनिका गिराता है]

सब : हा हा महाराज! हा हा महाराज!

कौन कहे, कैसे कहे, तीन तीन ये त्रास?

[भट का प्रवेश]

भट : कुमार की जय हो।

भरत : भद्र, क्या शत्रुघ्न आये हैं?

भट : आ रहे हैं। तब तक उपाध्याय ने आपसे कहलाया है।

भरत : क्या?

भट : एक घड़ी कृत्तिका शेष है; आगे रोहिणी के आने पर प्रवेश करना ठीक होगा।

भरत : अच्छी बात हैं। मैंने कभी गुरुजनों के वचन नहीं टाले। तुम जाओ।

भट : जो आज्ञा। **(जाता है)**

भरत : इस बीच कहाँ विश्राम करूँ? अच्छा, समझ लिया। वृक्षों के मध्य शोभायमान इस मन्दिर में चलूँ। वहाँ देव-पूजा और विश्राम दो काम एक साथ हो जावेंगे। यह भी शिष्टाचार है कि कुछ क्षण बाहर बैठकर तब नगर में प्रवेश करना चाहिए। सूत, रथ रोको।

सारथी : जो आज्ञा। **(रथ रोकता है)**

भरत : **(उतर कर)** जाओ, तब तक तुम एकान्त में घोड़ों को विश्राम दो।

सारथी : जो आज्ञा। **(जाता है)**

भरत : **(कुछ चलकर और देखकर)** अहा! फूलों के साथ बलि के लिए खीलें छोड़ी गयी हैं। भीतों पर चन्दन के हत्थे लग रहे हैं। द्वारों पर फूलों के वन्दनवार टँगे हैं। बालुका बिछी है। क्या आज यहाँ कोई विशेष पर्व है? अथवा यह नित्य नियम की आस्तिकता है? यह किस देवता का स्थान है? बाहर कोई ध्वज और अस्त्र का चिह्न नहीं दिखाई देता। होगा, भीतर जाकर ज्ञात हो जाएगा।

[प्रवेश कर देखते हुए]

अहो धन्य है पाषाणों का रचना-माधुर्य! कैसी भाव पूर्ण हैं ये आकृतियाँ! इन देव प्रतिमाओं में मनुष्य जैसा भाव झलकता है। एक नहीं, चार देव मूर्तियाँ हैं। जो हो, इन्हें देखकर मेरे मन में आनन्द हो रहा है।

देवों को सिर नत करें, यह है सबका काम,
किन्तु बिना मन्त्रार्चना होगा वृषल-प्रणाम।

[पुजारी का प्रवेश]

पुजारी : नित्यकर्म करके मैं प्राणिधर्म के लिए गया था। इस बीच यह कौन इन्हीं प्रतिमाओं की-सी आकृति वाला इस प्रतिमागृह में प्रविष्ट हुआ है? अच्छा, जाकर देखूँ। **(प्रवेश करता है)**

भरत : नमोऽस्तु।

पुजारी : रहिए, प्रणाम की आवश्यकता नहीं।

भरत : *मुझे रोकते क्यों हो, मैं क्या*
नहीं दर्शनों का अधिकारी?
आता है कोई विशिष्ट वा
यह है पद की धाक तुम्हारी?

पुजारी : इन कारणों से मैं आपको नहीं रोकता, किन्तु देव समझकर ब्राह्मण जन के प्रणाम करने को रोकता हूँ।

भरत : ऐसा! ये महानुभाव क्षत्रिय हैं? क्या कहलाते हैं?

पुजारी : इक्ष्वाकुवंशीय।

भरत : (सहर्ष) इक्ष्वाकुवंशीय? अयोध्या के स्वामी।
ये वे हैं, जो दैत्य दलन कर
बनते हैं देवों के मित्र,
ये वे हैं, जो पुरजन संयुत
जाते हैं सुरपुर सुचरित्र।
ये वे हैं, जो सब पृथ्वी को
पाते हैं भुजबल से जीत,
ये वे हैं, जो स्ववश मृत्यु को
रखते हैं वरवीर विनीत।
अहा! अनायास ही मुझे बड़ा फल मिला। अब कहो, इनके क्या नाम हैं।

पुजारी : ये जो तुम्हारे समीप हैं, सर्वश्रेष्ठ विश्वजित यज्ञ के प्रवर्तक और धर्म का दीप प्रज्वलित करने वाले महाराज दिलीप हैं।

भरत : इन धर्म-परायण को नमस्कार है। ये दूसरे महानुभाव कौन हैं?

पुजारी : ये महाराज रघु हैं, जिनके सोने और जागने के समय सहस्रों ब्राह्मणों का पुण्याहवाचन होता था।

भरत : अहो, मृत्यु बलवान है, जिससे ऐसे पुरुषों की भी रक्षा न हो सकी। राज्य-फल ब्राह्मणों को देने वाले इन महानुभाव को नमस्कार है। ये कौन हैं?

पुजारी : प्रिया-वियोग के निर्वेद से राज्य त्यागने वाले और नित्य ही यज्ञान्त के स्नान से समस्त रज शान्त कर देने वाले ये महाराज अज हैं।

भरत : इन प्रशंसनीय पश्चात्ताप वालों को प्रणाम है। **(दशरथ की प्रतिमा की ओर देखकर व्याकुल भाव से)** बहुत मान के कारण मेरा मन स्थिर न रह सका। इसलिए मैं भलीभाँति समझ न सका। फिर

कहो ये कोन हैं?

पुजारी : ये महाराज दिलीप हैं।

भरत : महाराज के पितृपितामह। और ये?

पुजारी : ये महाराज रघु हैं।

भरत : महाराज के पितामह। और ये?

पुजारी : ये महाराज अज हैं।

भरत : महाराज के पिता। यह क्या, यह क्या?

पुजारी : ये दिलीप, ये रघु, ये अज हैं।

भरत : मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। क्या विद्यमान जनों की प्रतिमा भी स्थापित की जाती है?

पुजारी : नहीं, गत जनों की।

भरत : इसी से तो पूछता हूँ।

पुजारी : ठहरो—

स्त्री-शुल्कार्थ जिन्होंने छोड़ा
राज्य और निज राज-शरीर।
उन दशरथ की प्रतिमा को तुम
नहीं पूछते हो क्यों वीर!

भरत : हा पिता! **(मूर्च्छा और पतन)**

[फिर सचेत होकर]

तुझको जिसकी शंका थी, यह
वही हुआ हे हृदय, यहाँ,
सुनकर निधन पिता का अब है
मेरा सारा धैर्य कहाँ?
छूता है जो नीच शुल्क पद
मुझको, वह हो सत्य कहीं,
शोधनीय है तो यह मेरा
देह स्वयं, सन्देह नहीं।

आर्य!

पुजारी : आर्य! यह इक्ष्वाकुवंशियों का आलाप है। क्या आप कैकेयी के पुत्र भरत हैं?

भरत : इससे क्या, इससे क्या? मैं दशरथ का पुत्र हूँ, कैकेयी का नहीं!

पुजारी : इसी से आपसे पूछा है।

भरत : ठहरो, शेष समाचार कहो।

पुजारी : क्या गति है। सुनिए, महाराज दशरथ स्वर्गगामी हुए। सीता और

लक्ष्मण के सहित राम के वन जाने का कारण मैं नहीं जानता।

भरत : क्या, क्या, आर्य भी वन को चले गये? **(दुगनी मूर्च्छा)**

पुजारी : कुमार सावधान हों, सावधान हों।

भरत : **(सचेत होकर)**

पिता और भ्राता से वंचित
बनी अयोध्या अटवी घोर,
पिपासार्त्त-सा दौड़ रहा हूँ
मैं सूखी सरिता की ओर।

आर्य, विस्तारपूर्वक सुनने की इच्छा मुझे स्थिर करती है। सब वृत्तान्त सुनाओ।

पुजारी : सुनिए, महाराज दशरथ राम का राज्याभिषेक करना चाहते थे। आपकी माता ने राम के विषय में कहा—

भरत : ठहरो—

बोली वह उस शुल्क-दोष-वश
'नृप हो मेरा औरस जात',
देख उसे दृढ़, 'सुत, वन जाओ'
यही आर्य से बोले तात।
बद्धचीर वे गये उधर वन,
इधर पिता के प्राण बुझे,
शेष बचा सम्पूर्ण विश्व का
उचित घोर धिक्कार मुझे?

(पुनः मूर्च्छा)

[नेपथ्य में]

आर्यजनो, अलग हो जाओ, अलग हो जाओ।

पुजारी : **(देखकर)** अहा—

यथा समय आ गयीं देवियाँ,
जब अचेत है लाल ललाम,
माँ का कर से छू देना ही
कर जाता है जल का काम।

[सुमन्त्र के साथ महारानियों का प्रवेश]

सुमन्त्र : देवियो, इधर से आइए—

यह निज नृप का प्रतिमा-गृह है
हर्म्यों से भी उच्च महान,
बिना प्रणाम किये पथिकों का

अप्रतिरोधित भक्ति-स्थान।

[प्रवेश करके और देखकर]

आप लोग ठहरिए—

राजा-सा कोई युवक पड़ा यहाँ सुकुमार,

पुजारी : पर-शंका तज लीजिए, ये हैं भरत कुमार।

[पुजारी का प्रस्थान]

देवियाँ : **(पास जाकर)** हा बेटा भरत!

भरत : **(कुछ सचेत होकर)** आर्य!

सुमन्त्र : जय हो महा—

(बीच में ही रुककर सविषाद) अहो स्वर का सादृश्य! मैंने समझा, प्रतिमा में स्थित महाराज दशरथ ही बोल रहे हैं।

भरत : इस समय माताओं की क्या दशा है?

देवियाँ : पुत्र, यह दशा है हमारी! **(घूँघट हटाती हैं)**

सुमन्त्र : देवियो, अपना आवेग रोकिए।

भरत : **(सुमन्त्र की ओर देखकर)** सम्पूर्ण सदाचारों में आपके उपस्थित रहने से जान पड़ता है, आप क्या तात सुमन्त्र हैं?

सुमन्त्र : कुमार मैं सुमन्त्र ही हूँ—

मुझ कृतघ्न के पीछे है यह
चिर जीवन का पाप पड़ा,
जो मैं स्वामि बिना जीवित हूँ।
लिये शून्य रथ, हृदय कड़ा।

भरत : हा तात! **(उठकर)** मैं यथाक्रम माताओं को प्रणाम करना चाहता हूँ, आप निर्देश कीजिए।

सुमन्त्र : ठीक है। ये राम की जननी कौसल्या हैं।

भरत : अम्ब, मैं निरपराध भरत प्रणाम करता हूँ।

कौसल्या : वत्स, सन्ताप रहित हो।

भरत : **(स्वगत)** इसमें कुछ आक्रोश-सा झलकता है। **(प्रकट)** अनुगृहीत हुआ।

सुमन्त्र : ये कुमार लक्ष्मण की जननी देवी सुमित्रा हैं।

भरत : अम्ब, लक्ष्मण से वियुक्त मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

सुमित्रा : वत्स, यशोभाजन हो।

भरत : माँ, यही यत्न करूँगा। मैं अनुगृहीत हुआ।

सुमन्त्र : ये आपकी जननी हैं।

भरत : (क्रोध से उठकर) आह पापिन!

तू अशोभना है इन मेरी
दोनों माताओं के बीच,
गंगा-यमुना-मध्य बहे ज्यों
कोई अन्य निम्नगा नीच!

कैकेयी : पुत्र, मैंने क्या किया है?

भरत : पूछती है, क्या किया है?

हमको अपयश, चीर आर्य को, नृप को मरण निहंग,
रुदन अयोध्या को, लक्ष्मण को वन्यचरों का संग,
शोक दयिततनया माँओं को, पुत्र-वधू को श्रान्ति
देकर, आप घोर धिक् लेकर कर बैठी तू क्रान्ति।

कौसल्या : बेटा, तुम सर्व सदाचार सम्पन्न हो। फिर माँ को प्रणाम क्यों नहीं करते?

भरत : माँ को?

अम्ब, आप ही मेरी माँ हो। आपको प्रणाम करता हूँ।

कौसल्या : नहीं, नहीं, ये तुम्हारी जननी हैं।

भरत : पहले थीं, अब नहीं हैं। देखिये—

स्नेह छोड़ सीमोल्लंघन कर
जो यों दोष जनाती है,
ऐसी जननी इस जगती में
सुत को असुत बनाती है।
मैं यह पहला धर्म स्थापित
करता हूँ अपनी मति से,
माता भी हो जाय अमाता,
यदि विद्रोह करे पति से।

कैकेयी : पुत्र, महाराज के सत्य वचन को रखने के लिए ही मैंने वैसा कहा था।

भरत : क्या—क्या?

कैकेयी : मेरा पुत्र राजा हो।

भरत : तो आर्य राम तेरे कौन थे?

क्या वे औरस न थे पिता के?
क्रम से राज्य न पाते थे?
न थे भ्रातृ-वत्सल क्या? अथवा
वे न प्रजा को भाते थे?

कैकेयी : वत्स, यह शुल्क के लोभियों से पूछो।

भरत : *लिया शुल्क में भी तो तूने*
हा हतभागिन! यही लिया,
राज्य छीन पत्नी-युत उनको
पैदल वन को भेज दिया।

कैकेयी : पुत्र, समय आने पर बताऊँगी।

भरत : *लेना कुयश ही था तुझे तो*
साथ क्यों साना मुझे।
देते न क्या नरनाथ यदि
था राज्य ही पाना तुझे।
यदि लालसा थी राजमाता
नाम की तुझमें कहीं,
तो सच बता मुझको कि थे क्या
आर्य तेरे सुत नहीं?

तूने बड़ा पाप किया—

राज्य-लिप्सा वश न तूने
प्राण भी नृप का गिना,
कहकर कि जाओ ज्येष्ठ सुत को
विपिन भेजा भय बिना।
जो फट गया न विदेहजा को
देखकर वल्कल धरे,
विधि ने बनाया हृदय तेरा
कठिन वज्र हरे हरे!

सुमन्त्र : कुमार ये वशिष्ठ और वामदेव प्रजाजनों के साथ आपके समीप आ रहे हैं और सूचित करते हैं—

गोप बिना गायें यथा हो जाती हैं नष्ट,
हो जाती है नृप बिना तथा प्रजा भी भ्रष्ट।

भरत : सम्पूर्ण प्रजा मेरे पीछे चले।

सुमन्त्र : आप अभिषेक छोड़कर कहाँ जायेंगे?

भरत : अभिषेक, वह मेरी जननी को दो!

सुमन्त्र : आप कहाँ जायेंगे?

भरत : *जाता हूँ मैं वहीं इसी क्षण*
मेरे लोक-ललाम जहाँ,
नहीं अयोध्या यहाँ अयोध्या
वहीं अयोध्या, राम जहाँ।

चतुर्थ अंक

[दो चेटियों का प्रवेश]

विजया : सखी नन्दिनिके, बता, बता, आज महारानी कौसल्या आदि सब अन्तःपुरवासिनी प्रतिमा-गृह देखने गयी थीं। वहाँ सुना है, सबने कुमार भरत को देखा। मैं मन्द भागिनी द्वार पर खड़ी थी।

नन्दिनिका : हाँ, हमने कौतूहल से कुमार भरत को देखा।

विजया : कुमार ने महारानी से क्या कहा?

नन्दिनिका : कहा क्या, वे तो महारानी को देखना भी नहीं चाहते।

विजया : अहो, अति हो गयी। राज्य के लोभ से महारानी ने कुमार को वनवास दिया। स्वयं वैधव्य पाया और लोक-परलोक बिगाड़ लिया। सचमुच महारानी बड़ी क्रूर निकलीं, उन्होंने बड़ा खोटा काम किया।

नन्दिनिका : सखी सुनो, सब लोगों के द्वारा उपस्थित किया गया अभिषेक छोड़कर कुमार भरत राम के तपोवन को गये हैं।

विजया : (खेद से) हूँ, ऐसी बात है? आओ, हम दोनों महारानी के समीप चलें। (प्रस्थान)

इति प्रवेशक

[सुमन्त्र और सूत के साथ रथ में बैठे भरत का प्रवेश]

भरत : *स्वर्ग जाने पर पिता के जो सुकृतगामी रहे,*
साथ पौरजनाश्रुओं के, शोक से हैं जी बहे,
जा रहा हूँ आज में अकृपण तपोवन-धाम को,
देखने संसार के उन अन्य शशि श्रीराम को।

सुमन्त्र : *पुत्र दैत्यकुल-मान-मथन मानी राजा के,*
पौत्र, यज्ञ में अखिल द्रव्य दानी राजा के।
अनुज, जगत्प्रिय जनक-वचन-रत निज अग्रज के,
पथगामी हैं उन्हीं राम के सब कुल तज के।

भरत : तात!

सुमन्त्र : कुमार कहिए!

भरत : मेरे आर्य तत्र भवान् राम कहाँ हैं? महाराज के प्रतिनिधि कहाँ हैं? उन सारवान् का दर्शन कहाँ होगा? राज्य-लुब्धा कैकेयी के आज्ञानुकारी कहाँ हैं? वे यश के भाजन कहाँ हैं? नरपति के पुत्र कहाँ हैं? सत्य के पालक कहाँ हैं?

मेरी माँ के लिए जिन्होंने
छोड़ा राज्य सहज सुख साध्य,

दर्शनाभिलाषी मैं उनका;
वे ही मेरे परमाराध्य।

सुमन्त्र : कुमार, वे इसी आश्रम में हैं।
सीता-लक्ष्मण-युत यहीं रहते हैं रघुनाथ,
मूर्तिमन्त हो सत्य ज्यों भक्ति-शील के साथ!

भरत : सूत, रथ रोको।

सूत : जो आज्ञा। **(रथ रोकता है)**

भरत : **(रथ से उतरकर)** एकान्त में रथ ले जाकर घोड़ों को विश्राम दो।

सूत : जो आज्ञा। **(जाता है)**

भरत : **(सुमन्त्र से)** तात, निवेदन कीजिए, निवेदन कीजिए।

सुमन्त्र : कुमार, क्या निवेदन करूँ?

भरत : यही कि राज्य-लुब्धा कैकेयी का पुत्र भरत आया है।

सुमन्त्र : कुमार, गुरुजनों की निन्दा उचित नहीं है।

भरत : ठीक है, दूसरे के दोष कहना अनुचित है, तो यह कहिए कि इक्ष्वाकु-कुल का कलंक भरत दर्शन करना चाहता है।

सुमन्त्र : कुमार, मैं ऐसा न कह सकूँगा। कहिए तो केवल यह कह दूँ कि भरत आये हैं।

भरत : नहीं, नहीं। केवल नाम ही लेने से प्रायश्चित्त हुआ-सा नहीं लगता अथवा क्या ब्रह्मघ्नों का निवेदन भी दूसरों से कराया जाता है? तात ठहरें, मैं ही निवेदन करता हूँ। अरे, पिता का वचन पालन करने वाले राघव से निवेदन करो, निवेदन करो—
निर्दय नीच कृतघ्न जड़, धृष्ट साहसी हाय!
आया कोई भक्त है, ठहरे अथवा जाय?

[राम सीता और लक्ष्मण का प्रवेश]

राम : **(सुनकर सहर्ष)** लक्ष्मण, सुनते हो? अयि विदेहराजनन्दिनी, तुम भी सुनती हो?
घन-गम्भीर पिता का-सा यह
स्वर कानों को भाता है,
मुझे जान पड़ता है, कोई
स्वजन यहाँ पर आता है।

लक्ष्मण : आर्य ने यथार्थ कहा—
नीरद-सा सुस्पष्ट धीर है,
समद वृषभ-सा मसृण, मधुर,
यथास्थान उच्चरित वर्णमय
भर कर मानो उर आतुर,

निकल कण्ठ से अभय दान-सा
सबको देता आता है,
किसी स्वजन का मुझमें भी यह
स्वर सम्भ्रम उपजाता है।

राम : निश्चय ही यह स्वर-संयोग किसी अबान्धव का नहीं है, इसे सुनकर मेरा हृदय भरा आता है। वत्स लक्ष्मण, तनिक देखो, क्या बात है।

लक्ष्मण : आर्य की जो आज्ञा। **(घूमते हैं)**

भरत : अरे, मुझे कोई उत्तर नहीं देता। क्या सबने जान लिया है कि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ?

लक्ष्मण : **(देखकर)** अहा! ये आर्य राम हैं। नहीं, नहीं, केवल रूप सादृश्य हैं।

अनुपम आर्य-वदन-सा सुप्रभ
मुख शशिमूर्ति मनोहारी,
असुर-शरक्षत तात तुल्य ही
विपुल वक्ष बहु बलधारी।
द्युति-परिवृत, अविकृत प्रिय दर्शन
तेजः-पुंज सुदुस्सह है,
कोई नरपति है वा सुरपति
अथवा लक्ष्मीपति यह है!

(सुमन्त्र को देखकर) अहा! ये तात हैं।

सुमन्त्र : अहा! कुमार लक्ष्मण हैं?

भरत : हाँ, ये गुरुजन हैं। अभिवादन करता हूँ।

लक्ष्मण : आओ, आओ, आयुष्मान् हो। **(सुमन्त्र की ओर देखकर)** तात, ये कौन हैं?

सुमन्त्र : कुमार,

रघु से चतुर्थ और अज से तृतीय वीर,
विश्रुत तुम्हारे पितृदेव से द्वितीय धीर।
जिन कुल-केतु के अनुज तुम हो अनन्य,
अनुज उन्हीं के ये भरत कुमार धन्य।

लक्ष्मण : आओ, आओ, इक्ष्वाकुकुमार! कल्याण युक्त दीर्घायु हो।

दैत्य-युद्ध में दक्ष, वज्र सम धन्वाधारी,
अनुपम बल से आत्मकुलोचित विक्रमकारी।
मख में निज सम्पत्ति जिन्होंने सब दे डाली,
उन नरेन्द्र रघु तुल्य रहो तुम सद्गुणशाली।

भरत : अनुगृहीत हुआ।

लक्ष्मण : कुमार, क्षणभर यहाँ ठहरो, तुम्हारा आना आर्य से निवेदन करूँ।

भरत : आर्य, शीघ्र निवेदन कीजिए। मैं अविलम्ब प्रणाम करने के लिए उत्सुक हूँ।

लक्ष्मण : अच्छा।

लक्ष्मण : (**राम के पास जाकर**) आर्य की जय हो।

आर्य, तुम्हारा प्यारा भाई
भरत भ्रातृ-वत्सल आया,
जिसमें दर्पण ज्यों दर्शित है
रूप तुम्हारा मनभाया।

राम : लक्ष्मण, लक्ष्मण! क्या भरत आये हैं?

लक्ष्मण : हाँ आर्य!

राम : मैथिली, भरत को देखने के लिए अपने नेत्र विशाल बनाओ।

सीता : आर्यपुत्र, क्या भरत आये हैं?

राम : हाँ,

आज यह मैंने जान लिया है,
पिता ने दुष्कर कार्य किया है।
न जाने पुत्र-भाव कैसा है?
भुवन में भ्रातृ-भाव ऐसा है!

लक्ष्मण : आर्य, क्या भरत प्रवेश करें?

राम : क्या इसके कहने की भी आवश्यकता है? जाओ, शीघ्र सत्कार पूर्वक उन्हें ले आओ।

लक्ष्मण : जो आज्ञा

राम : अथवा तुम रुको।

आँखों से आनन्द पूर्ण आँसू बरसाती,
हिमपूरित पद्मिनी समान-प्रभा दरसाती।
मातृ-रूपिणी स्वयं जानकी ही यह जावे,
पुलक भाव से उन्हें प्रीति पूर्वक ले आवे।

सीता : जो आज्ञा, (**उठकर, घूमकर और भरत को देखकर**) अरे, क्या ये स्वयं आर्यपुत्र ही आ गये हैं? नहीं-नहीं, यह रूप साम्य है।

सुमन्त्र : आहा! वधू हैं?

भरत : ये अत्र भवती, जनकराज पुत्री हैं।

यह नारी मय वही तेज है
तात जनक के तप का रूप,

प्रकट हुआ जो धरा-गर्भ से,
जब हल चला रहे थे भूप।

आर्ये, मैं भरत प्रणाम करता हूँ।

सीता : **(स्वगत)** केवल रूप ही नहीं, स्वर भी वही है। **(प्रकट)** वत्स चिरंजीवी हो।

भरत : अनुगृहीत हुआ।

सीता : आओ वत्स, अग्रज का मनोरथ पूरा करो।

सुमन्त्र : कुमार, भीतर पधारें।

भरत : तात, इस समय आप क्या करेंगे?

सुमन्त्र : मैं पीछे पहुँचूँगा।

मिलो राम से तुम प्रथम, मैं पहुँचूँ पश्चात,
मिलूँ न उनसे प्रथम मैं जिन्हें अर्थ है ज्ञात।

भरत : एवमस्तु।

[राम के पास जाकर]

आर्य, मैं भरत प्रणाम करता हूँ।

राम : **(सहर्ष)** आओ, आओ इक्ष्वाककुमार, स्वस्ति, चिरायु हो।

स्फुट कपाट-पुट तुल्य वक्ष फैलाओ, आओ,
दीर्घ भुजों से मुझे भेंटकर गले लगाओ।
शरच्चन्द्र-सा कम्र वदन हे नम्र, उठाओ,
इन दुःखों से दग्ध देह में पुलक जगाओ।

भरत : मैं अनुगृहीत हुआ

[सुमन्त्र का प्रवेश]

सुमन्त्र : **(समीप जाकर)** आयुष्मान् की जय हो।

राम : हा तात!

बैठ विमान समान तुम्हारे
रथ में सुरपुर गये सरंग,
वहाँ जयी हो जो असुरों पर
आये लौट तुम्हारे संग।
छोड़ आज तुम जैसे प्रिय जन
त्यक्तदेह वे ही नरनाथ,
क्या सुख भोग कर रहे होंगे।
सुरपुर में पितरों के साथ?

सुमन्त्र : **(सशोक)**

तात, तुम्हारा वन में आना, प्रभु का सुरपुर जाना,
भरत-दुःख, कुल की अनाथता, जिसका नहीं ठिकाना।
दुःसह दुःख भोगकर के भी इस प्रकार तन मन का,
हाय! दीर्घ जीवन का गुण ही दोष बना इस जन का!

सीता : रोते हुए आर्यपुत्र को तात और भी रुलाते हैं।

राम : मैथिली, मैं अपने को सँभालता हूँ। वत्स लक्ष्मण, जल लाओ।

लक्ष्मण : जो आज्ञा।

भरत : आर्य, यह न्याय नहीं है। यथाक्रम सेवा करना ही उचित है। मैं ही जल लाऊँगा। **(कलश लेकर और जल लाकर)** यह है जल।

राम : **(आचमन करके)** मैथिली, लक्ष्मण का व्यापार गया!

सीता : आर्यपुत्र, भरत के द्वारा ही सेवा उचित है।

राम : अच्छी बात है। यहाँ रहकर लक्ष्मण सेवा करें और वहाँ रहकर भरत।

भरत : *यहाँ देह से वहाँ कर्म से*
बना रहूँगा मैं हे आर्य!
कर लेगा बस नाम तुम्हारा
सहज राज्य-रक्षण का कार्य।

राम : वत्स कैकेयीनन्दन, यह न कहो।
मैं पितुराज्ञा से वन आया,
नहीं दर्प-भय-विभ्रम से,
सत्यधनी है निज कुल, तुम क्यों
चलते हो उलटे क्रम से?

सुमन्त्र : इस समय यह अभिषेक का जल कहाँ रक्खा जाय?

राम : जहाँ हमारी माता ने कहा है, वहीं।

भरत : आर्य प्रसन्न हों। व्रण के ऊपर प्रहार रहने दें।
जहाँ तुम्हारा जन्म हुआ है
मेरा जन्म वहीं श्रीमान्,
जो हैं प्यारे जनक तुम्हारे
मेरे भी वे ही धीमान्!
होता नहीं नरों में नरवर!
मातृ-दोष का कोई दोष,
योग्य दृष्टि से आर्य, देखकर
आर्त्त भरत को दो परितोष।

सीता : आर्यपुत्र, भरत बहुत ही करुणालाप करते हैं। अब आप क्या सोच रहे हैं?

राम : मैथिलि,

मैं सोचता हूँ स्वर्गगामी उन पिता की बात,
देखा उन्होंने हा! न ऐसा अतुल औरस जात।
पाकर यथा संसार में भरपूर गुण-भाण्डार,
पुरुषोत्तमों को दैव बाधक हो अहो! धिक्कार!

कैकेयीनन्दन,

निश्चय ही तुम पुण्यात्मा हो,
तुमने मुझे प्रसन्न किया,
जीत प्रसिद्ध गुणों से अपना
वशवर्ती है बना लिया

पर सोचो, क्या महाराज के
प्रति हम लोग प्रमादी हों?
हम जैसे पुत्रों को पाकर
क्या वे मिथ्यावादी हों?

भरत : *पूर्ण हो जब तक तुम्हारा नियम मेरे नाथ!*
दास चरणों में रहे तब तक तुम्हारे साथ।

राम : *यह नहीं, पावें सुकृत से सिद्धि नृप निर्बन्ध,*
तुम न पालो राज्य तो मेरी तुम्हें सौगन्ध।

भरत : हाय! अब मैं निरुत्तर हूँ। एक समय तक मैं राज्य को सँभालूँगा।

राम : वत्स, कौन-सा एक समय?

भरत : आप जो राज्य मेरे हाथ में सौंप रहे हैं उसे चौदह वर्ष पश्चात् स्वयं ग्रहण करेंगे।

राम : तथास्तु।

भरत : आर्य, आपने सुना? आर्ये, आपने सुना? तात, आपने सुना?

सब लोग : हाँ, हम सब साक्षी हैं।

भरत : आर्य, मैं कुछ और भी माँगना चाहता हूँ।

राम : वत्स, क्या चाहते हो? मैं क्या दूँ? कौन सा अनुष्ठान करूँ?

भरत : *शिरसा प्रणत हूँ मैं पदों में,*
पादुकाएँ दीजिए,
निजि सिद्धि तक किंकर इन्हीं का
नाथ, मुझको कीजिए।

राम : (स्वगत) ओहो!

चिरकाल में जितना सुयश
मैंने यहाँ अर्जित किया,
क्षण मात्र में भाई भरत ने
आज उतना ले लिया।

सीता : आर्यपुत्र, भरत की यह पहली याचना पूरी कीजिए।

राम : तथास्तु। वत्स, ग्रहण करो।

भरत : अनुगृहीत हुआ। (**पादुकाएँ लेकर**) आर्य, अभिषेक जल इन्हीं पर छोड़ा जाय, यह मेरी इच्छा है।

राम : (**सुमन्त्र से**) जो ये चाहते हैं, वह सब किया जाय।

सुमन्त्र : आयुष्मान् की जो आज्ञा।

भरत : (**स्वगत**) अहो,

स्वजनों का श्रद्धेय हुआ मैं,
पौरजनों का रुचिकारी,
लोक दृष्टि-सक्षम, स्वर्ग स्थित
नृप का प्रिय सुत शुचिधारी।
गुणी भाइयों का सम्मानित,
भागी यश के योगों का,
और कथाश्रय संवादों का
प्रिय लब्धप्रिय लोगों का।

राम : वत्स, राज्य के प्रति क्षण भर भी असावधान न रहना चाहिए। इसलिए तुम अभी प्रस्थान करो।

सीता : अहो! कुमार भरत अभी जायेंगे?

राम : अतिस्नेह रहने दो, राज्य के हित में कुमार का अभी जाना उचित है।

भरत : आर्य, मैं अभी जाता हूँ

आशायुक्त पौरजन सारे,
दर्शनेच्छु हैं देव, तुम्हारे।
उन्हें तोष दूँगा मैं जाकर—
प्रभु का यह प्रसाद दिखलाकर।

सुमन्त्र : आयुष्मान, अब मेरा क्या कर्तव्य है।

राम : तात, महाराज की भाँति कुमार भरत का परिपालन करो।

सुमन्त्र : जब तक जियूँगा, तब तक प्रयत्न करूँगा।

राम : वत्स, कैकेयीनन्दन, मेरे समक्ष ही रथ पर बैठो।

भरत : जो आज्ञा। (**रथ पर बैठते हैं**)

राम : मैथिलि, आओ, वत्स लक्ष्मण, आओ, आश्रम के द्वार तक भरत को पहुँचा दें।

[सब जाते हैं]

पंचम अंक

[सीता और तापसी का प्रवेश]

सीता : आर्ये, उपहार के फूलों से आकीर्ण आश्रम संमार्जित कर दिया? उसके विभव के अनुसार देव-पूजन भी कर लिया। जब तक आर्यपुत्र आवें, तब तक इन वृक्षों को जल देकर तृप्त करूँ।

तापसी : तुम्हें कोई विघ्न न हो।

[राम का प्रवेश]

राम : **(सशोक)**

पिता और मुझसे विहीन उस
अवधपुरी को छोड़ उदास,
मेरा वह अभिषेक-सलिल ले
आये भरत हमारे पास।
उन्हें राज्य-रक्षार्थ वहीं फिर
भेज दिया मैंने सस्नेह,
अहो! पिता की धुरी अकेले
खींच रहे हैं वे गुण-गेह।

(विचारकर) राज्य कार्य ऐसा ही होता है। तब तक इस शोक में जी बहलाने के लिए सीता से मिलूँ। वे कहाँ हैं? **(घूमकर और देखकर)** अहा! ये अभी के सींचे हुए वृक्ष-मूल बता रहे हैं कि सीता समीप ही हैं।

तरु के घेरे में फेनिल जल
घूम रहा है फिर फिर कर,
नहीं पी रहे उस पंकिल को
ये तृषार्त्त खग गिर गिर कर।
सलिल पूर्ण बिल छोड़ छोड़कर
कीड़े बाहर आते हैं,
शुष्क नीर-रेखा से सवलय
वृक्ष-मूल छवि पाते हैं!

(देखकर) ये हैं वैदेही! हा कष्ट!

थकता दर्पण लेने में भी,
वही हाथ घट लेता है।
ललता की कोमलता को वन
लता-कठिन कर देता है।

[पास जाकर]

मैथिलि, तुम्हारा तप बढ़ रहा है न?

सीता : अहा! आर्यपुत्र हैं, आर्यपुत्र की जय हो।

राम : मैथिलि, यदि धर्म-कार्य में विघ्न न हो तो आओ, तनिक बैठें।

सीता : आर्यपुत्र की जो आज्ञा। (दोनों बैठते हैं)

राम : जानकी! जान पड़ता है तुम कुछ कहना चाहती हो। कहो, क्या है?

सीता : शोक शून्य हृदय वाले आपके मुख पर यह विषाद कैसा?

राम : मैथिलि, स्थिति के अनुसार चिन्ता होती ही है।

काल-शल्य से देह विद्ध है,
उर में भी वैसा व्रण है,
होता पुनः उसी व्रण में बहु
शोक-शरों का प्रहरण है।

सीता : आर्यपुत्र को किस बात का सन्ताप है?

राम : कल पिता के वार्षिक श्राद्ध की विधि होनी है। उसे मैं किस रूप में पूरा करूँगा?

मेरी दशा जानते हैं वे,
तृप्त किसी विध हों पितृ भूप,
उनकी पूजा की इच्छा है
उनके—अपने भी—अनुरूप।

सीता : आर्यपुत्र, भरत वैभव-पूर्ण श्राद्ध करेंगे, आप अवस्थानुसार फल और जल से। पितृदेव इसी को बहुत मानेंगे।

राम : मैथिलि, ऐसा लगता है—

दर्भों पर फल, पिण्ड दान कर
ये कर कम्पित होते हैं,
मेरा वन-स्मरण कर करके
तात वहाँ भी रोते हैं!

[परिव्राजक के वेश में रावण का प्रवेश]

रावण : *अनियत आत्मा नियत रूप रखकर मन भाया,*

खर-वध-वैर-विचार यहाँ मैं रावण आया।
राघव को छल आज करूँ अपना मनचीता,
हरूँ पद-स्वर-हीन हव्यधारा-सी सीता।

(घूमकर देखता हुआ) यही राम के आश्रम का द्वार है। तो उतरूँ। (उतरकर) अब अतिथि का आचरण करूँ। अरे, कौन है यहाँ? मैं अतिथि हूँ।

राम : (सुनकर) अतिथि का स्वागत है।

रावण : स्वर से ही इसके विशेष रूप का परिचय मिलता है!

राम : (देखकर) अहा भगवन्! आप हैं? मेरा अभिवादन स्वीकार कीजिए।

रावण : स्वस्ति।

राम : भगवन् पधारिए, यह आसन है।

रावण : (स्वगत) इसका कहना तो आदेश जैसा है! (प्रकट) अच्छी बात है। (बैठता है)

राम : मैथिलि, भगवन् के लिए पाद्य लाओ।

सीता : जो आज्ञा। (जाकर और जल लाकर) यह है जल।

राम : इनकी शुश्रूषा करो।

सीता : जो आज्ञा।

रावण : (माया के प्रकट हो जाने के भय से व्याकुल होकर) हुआ, हुआ।

अरुन्धती प्रत्यक्ष जानकी
विश्व-नारियों में हे राम,
जिनका पति कह कर लेती हैं
सादर सभी तुम्हारा नाम।

राम : तो लाओ, मैं शुश्रूषा करूँ।

रावण : छाया को छोड़कर मैं शरीर से क्या सेवा लूँ। तुम्हारे वचनों से ही मेरा सत्कार हो गया। बैठो।

राम : जो आज्ञा।

रावण : (स्वगत) मैं भी अब ब्राह्मण का आचरण करूँ। (प्रकट) भद्र, मैं काश्यप गोत्रीय हूँ। मैंने सांगोपांग वेद का अध्ययन किया है। मनु का धर्मशास्त्र पढ़ा है। महेश्वर के योगशास्त्र का अनुशीलन किया है। बृहस्पति का अर्थशास्त्र, मेधातिथि का न्यायशास्त्र और प्रचेता का श्राद्धकल्प भी पढ़ा है।

राम : क्या, क्या श्राद्धकल्प?

रावण : सब श्रुतियों को छोड़कर श्राद्धकल्प में तुम विशेष श्रद्धा प्रकट करते हो, इसका क्या कारण है?

राम : भगवन्, पितृ-विहीन हो जाने से मैंने श्राद्ध की बात पूछी है।

रावण : ठीक है, पूछो?

राम : भगवन्, पिण्डदान के समय किन वस्तुओं से पितृदेव को तर्पित करूँ।

रावण : जो श्रद्धा से दिया जाय, वही श्राद्ध है।

राम : और जो अनादर से दिया जाय वह त्याज्य होता है। मैं तो विशेष विधान पूछना चाहता हूँ।

रावण : सुनो, अंकुरों में दर्भ, ओषधियों में तिल, शाकों में कलाय, मत्स्यों में महाशफर, पक्षियों में वार्ध्रीणस, पशुओं में गो अथवा गेंड़ा, यही मनुष्यों के लिए विहित हैं।

राम : भगवन्, और भी कुछ?

रावण : हाँ है। परन्तु उसके लिए प्रभाव और पराक्रम अपेक्षित है।

राम : भगवन् यही मेरा निश्चय है—

दोनों को ही निकट समझिए
यदि साधन करवा दें आप,
चाप-विराम समय तो तप है,
तपोविराम समय है चाप।

रावण : है, परन्तु हिमालय में।

राम : हिमालय में?

रावण : हिमालय के सप्तम श्रृंग पर प्रत्यक्ष शंकर के सिर से बहता हुआ गंगाजल पीने वाले, वैदूर्य मणि के सदृश श्याम पृष्ठ वाले, पवन के समान वेग वाले सुवर्णपार्श्व नाम के मृग रहते हैं। वैखानस, वालखिल्य और नैमिषादि महर्षियों के चिन्तन मात्र से बलि होने के लिए वे मृग समीप आ जाते हैं। उन्हीं के द्वारा वे ऋषि श्राद्धक्रिया सम्पन्न करते हैं।

उनसे तर्पित होते हैं जो
पितर, पुत्र-फल पाते हैं,
जरा छोड़कर दिव्य देह में
तरुण तेज दिखलाते हैं।
बैठ विमानों में देवों के
साथी होकर जाते हैं,
आने-जाने के बन्धन में
नहीं कभी वे आते हैं।

राम : मैथिलि,

माँगो विदा हरिणों-द्रुमों से, पुत्र निज जाना जिन्हें,
वर विन्ध्यं गिरि की वल्लियों से, प्रिय सखी माना जिन्हें।
अब हम हिमालय के वनों में वास करने को चलें,
द्युति-रंजिनी उसकी महौषधियाँ सदा फूलें फलें।

सीता : जो आज्ञा।

रावण : कौसल्यानन्दन, यह मनोरथ रहने दो, मनुष्य उन मृगों को नहीं देख सकते।

राम : वे हिमालय में तो रहते हैं?

रावण : और क्या।

राम : तो आप देखिये,
वा तो मुझे वह स्वर्णमृग
हिमगिरि स्वयं दिखलाएगा,
वा भिन्न मेरे वाण से
हो कौंचपन वह पाएगा।

रावण : (स्वगत) कैसा असह्य है इसका वीर-दर्प! (प्रकट)
अरे, यह विद्युत्पात-सा क्या दिखाई देता है? कौसल्यानन्दन, तुम्हारे यहीं रहते हुए हिमालय तुम्हारा पूजन कर रहा है। यह रहा कांचनमृग!

राम : यह आपकी ही कृपा का फल है।

सीता : धन्य है आर्यपुत्र की सफलता!

राम : नहीं, नहीं,–
यह है पिता का पुण्य ही
जो मृग स्वयं आया यहाँ,
पूजार्थ ले आवें इसे,
देखो कि लक्ष्मण हैं कहाँ?

सीता : आर्यपुत्र, लक्ष्मण तो आज्ञा पाकर तीर्थ यात्रा से लौटे हुए कुलपति को लेने गये हैं।

राम : तो मैं ही जाता हूँ।

सीता : आर्यपुत्र, इस बीच मैं क्या करूँ?

राम : अतिथिदेव की शुश्रूषा।

सीता : जो आज्ञा। **(राम का प्रस्थान)**

रावण : अहा! राम अभी अर्घ्य देने जा रहा था। अब पूजा की उपेक्षा करके दौड़ते हुए मृग को देखकर धनुष चढ़ाता है।
अहो वीर्य-विक्रम! अहो सत्ता स्वत्व अपार!
दो वर्णों में राम के व्याप्त विश्व-संसार।

यह मृग एक ही छलाँग में शर के प्रभाव को लाँघ कर गहन वन में प्रविष्ट हो गया।

सीता : (स्वगत) आर्यपुत्र के बिना मुझे यहाँ डर लगता है।

रावण : (स्वगत)

करके दूर राम को छल से,
हरूँ तपोवन से अब बल से—
अमन्त्रोक्त आहुति-सी सीता,
रोती हुई अकेली भीता।

सीता : मैं कुटी के भीतर जाती हूँ। **(जाने को उद्यत होती हैं)**

रावण : **(अपना रूप प्रकट करके)** ठहर, सीते, ठहर!

सीता : **(सभय)** ऐं! यह कौन है!

रावण : क्या तू नहीं जानती,—

किया सुरासुर जीत समर में
जिसने वासव-विजय-वरण।
देख कुरूप-करण भगिनी का,
सुन खर-दूषण भ्रातृ-मरण।
वही, दर्प दुर्मति अतुलित बल
राघव से कर छलाचरण,
मैं रावण हे कमल-लोचने,
करने आया तुझे हरण।

सीता : **(बैठ जाती हैं)**

रावण : आह! रावण की दृष्टि में पड़कर अब तू कहाँ जाएगी?

सीता : आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो, लक्ष्मण रक्षा करो, रक्षा करो।

रावण : सीते, मेरा पराक्रम सुन, मैंने—

किया शक्र को भंग, धनाधिप को धमकाया,
विधु को खींचा, सूर्य-पुत्र को मार भगाया।
धिक सभीत सुरधाम, जिसे है मैंने जीता,
यही धरा है धन्य, जहाँ रहती है सीता!

सीता : आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो, लक्ष्मण रक्षा करो, रक्षा करो।

रावण : *रामचन्द्र का शरण ले कि लक्ष्मण-लक्ष्मण कह,*
वा पुकार स्वर्गीय नृपति दशरथ को रह रह।
मेरा ये सब तुच्छ मनुज क्या कर सकते हैं?
भला सिंह को कहीं हरिण-शिशु धर सकते हैं?

सीता : आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो, लक्ष्मण रक्षा करो, रक्षा करो।

रावण : *करती है क्यों यह विलाप कम्पित तनु-वेत्रे,*
आर्यपुत्र अब मान मुझे ही आयत-नेत्रे!
पाकर भी साहाय्य विपुल बलमय सुरगण से
कर सकता है युद्ध राम क्या मुझ रावण से?

सीता : **(सरोष)** मैं तुझे शाप देती हूँ।

रावण : ओह! कैसा तेज है पतिव्रता का!
उड़ा सवेग-सूर्य सम्मुख मैं
कर न सका कुछ किरण-कलाप,
दग्ध हो गया हूँ सीता से
सुनकर दो वर्णों का शाप।

सीता : आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो।

रावण : **(सीता को पकड़कर)** हे जनस्थान वासी तपस्वियो! तुम सब सुनो, सुनो—
सीता को हर ले चला यह दशमुख बलधाम,
रक्खें क्षत्रिय-धर्म तो करें पराक्रम राम।

सीता : आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो।

रावण : **(घूमकर देखता हुआ)** अरे, अपने पक्षों की आँधी से, वन को चलित करता हुआ प्रचण्ड चोंच वाला यह जटायु दौड़ता आता है। अरे, ठहर!
असि से पक्ष काटकर तेरे
छतच्छिन्न करके सब देह,
रुधिरस्नान कराकर तुझको
अभी भेजता हूँ यम-गेह।

[सब जाते हैं]

षष्ठ अंक

[दो वृद्ध तपस्वियों का प्रवेश]

दोनों : लोगो, रक्षा करो, रक्षा करो।

पहला तपस्वी : *नील कमल-सा कान्तिमान यह,*
हैं मृणाल-से जिसके दन्त;
हरकर हरिणी सी सीता को
निशाचरेन्द्र चला हा हन्त!

दूसरा : ये भगवती वैदेही,—
भुजंगांगना-सी विचेष्टिता
कम्पित पुष्पित लता समान,
सिद्धि तपोवन की यह मानो
हरता है वह खल बलवान।
लोगो, रक्षा करो, रक्षा करो।

प्रथम : (ऊपर देखकर) अहा, हमारे पुकारने के साथ ही मानो महाराज दशरथ से उऋण होने के लिए, रावण से "कहाँ जाता है? कहाँ जाता है,?" कहते हुए जटायु आकाश की ओर उड़ा।

दूसरा : यह क्रोध से आँखें चढ़ाकर रावण लौटा।

पहला : यह रावण है।

दूसरा : यह जटायु है।

दोनों : इन दोनों का आकाश में यह युद्ध होने लगा।

पहला : काश्यप, काश्यप, जटायु का यह पराक्रम देखो।
पक्षों से अरिवीर्य उड़ाकर
द्वन्द्व युद्ध करता है यह,
चपल चंचु से एक साथ ही
झपट उसे धरता है यह।
प्रखर लोह-कंटक-से नख ले
उसकी छाती फाड़ रहा,
वज्र-अनी से यह पहाड़ की
मानो शिला उखाड़ रहा।

दूसरा : हा! रावण ने क्रोधपूर्वक पक्षिवर के दायें कन्धे पर खंग प्रहार किया।

दोनों : हाय! जटायु गिर पड़ा—

प्रथम : अहो! यह है जटायु।
करके अपने वीर्य तुल्य बल और पराक्रम,
रिपु को मान नगण्य, जान क्रीड़ा-केकी सम,
राक्षसेन्द्र के दीप्त तेज का तिरस्कार कर,
गिरा मत्त मातंग-भंग तरु तुल्य धरा पर।

दोनों : इसे स्वर्ग प्राप्त हो।

प्रथम : काश्यप, आओ भगवान् रामचन्द्र से यह वृत्तान्त निवेदन करें।

दूसरा : ठीक है, पहला यही कर्त्तव्य है। **(प्रस्थान)**
इति विष्कम्भक।

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : सोने के तोरण द्वार पर कौन है?

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : आर्य, मैं हूँ विजया। क्या करना होगा?

कंचुकी : कुमार भरत से शीघ्र निवेदन करो, राम के दर्शनार्थ जनस्थान गये हुए सुमन्त्रजी लौट आये हैं।

प्रतिहारी : आर्य, क्या सुमन्त्रजी कृतकृत्य होकर लौटे हैं?

कंचुकी : मैं यह नहीं जानता।

हृदयस्थित शोकाग्नि से विरस वदन द्युतिहीन,
आया देख सुमन्त्र को मेरा मन है दीन।

विजया : आर्य, यह सुनकर मेरा मन भी व्याकुल हो उठा है।

कंचुकी : जाओ, शीघ्र निवेदन करो।

प्रतिहारी : मैं अभी जाकर निवेदन करती हूँ। (जाती है)

कंचुकी : (देखकर) अहा! ये रहे कुमार भरत। सुमन्त्र का आना सुनकर कौतूहलपूर्वक इधर ही आ रहे हैं। ये वल्कल धारण किये हैं और इनका मस्तक चित्र विचित्र जटा पुंजों से पिंजरित हो रहा है।

शुभ गुणों से विश्व विश्रुत वैरियों के काल,
निज तपन कुल के तिलक, त्रिदशेन्द्र तुल्य विशाल।
हैं लिये आदेश वश सब भूमि-रक्षण-भार,
करि कलभ सम सुगति ये श्रीमन्त सुमति उदार।

[प्रतिहारी के साथ भरत का प्रवेश]

भरत : विजया, क्या तात सुमन्त्र आ गये हैं?

प्रथम आर्य के दर्शनार्थ ये वन में जाकर
मेरे लिए प्रसाद-वचन लाये थे पाकर।
देखूँ, कैसा उन्हें देख आये हैं अबके,
बुद्धि-धाम नयनाभिराम हैं जो हम सबके।

कंचुकी : (बढ़कर) कुमार की जय हो?

भरत : तात, सुमन्त्र कहाँ हैं।

कंचुकी : सोने के तोरण द्वार पर।

भरत : तो उन्हें शीघ्र ले आओ। (कंचुकी जाता है)

[प्रतिहारी सहित सुमन्त्र का प्रवेश]

सुमन्त्र : (सशोक) हा कष्ट!

दारुण मरण नरनाथ का मैंने सहा,
वनचरण राजकुमार का देखा हहा!
सीताहरण मैंने सुना, अब जो गया,
दीर्घायु का गुण दोष मुझको हो गया।

प्रतिहारी : **(सुमन्त्र से)** आर्य, आइए, आइए। स्वामी ये हैं।

सुमन्त्र : **(पास जाकर)** कुमार की जय हो।

भरत : तात, क्या आपने लोक में आविष्कृत पितृस्नेह देखा? दूसरी अरुन्धती का चारित्र देखा? क्या आपने अकारण वनवास स्वीकार करने वाले भ्रातृभाव से साक्षात्कार किया?

[सुमन्त्र चिन्तित खड़े रहते हैं]

प्रतिहारी : आर्य, आपसे स्वामी पूछ रहे हैं।

सुमन्त्र : मुझसे?

भरत : **(स्वगत)** बड़ा आयास हुआ। सन्ताप से इनका चित्त ठिकाने नहीं है। **(प्रकट)**

तात, क्या आप बीच से ही लौट आये हैं?

सुमन्त्र : कुमार, आपकी आज्ञा से राम के दर्शनार्थ जनस्थान को जाकर मैं बीच से ही कैसे लौट सकता था?

भरत : क्रोध वा लज्जा से क्या आप मन की बात नहीं कह पाते?

सुमन्त्र : कुमार,

क्रोध विनीतों को कहाँ कृतचेतों को लाज?
सुनिए, हैं उनके बिना शून्य तपोवन आज।

भरत : परन्तु वे कहाँ गये, इस विषय में कुछ सुना?

सुमन्त्र : सुना है, वे वानरों की नगरी किष्किन्धा को गये हैं।

भरत : अहो! वानर पुरुष-विशेष को नहीं जानते। वहाँ वे कष्ट से रहते होंगे।

सुमन्त्र : तिर्यग्योनि, वाले भी उपकार मानते हैं।

भरत : तात, सो कैसे?

सुमन्त्र : *रहता था हतदार शैल पर*
ज्येष्ठ बालि कृत राज्यभ्रष्ट
सम दुःखी सुग्रीव मित्र का
मेटा वहाँ उन्होंने कष्ट।

भरत : तात, समदुःख कैसा?

सुमन्त्र : **(स्वगत)** हाय! मैंने सब कह दिया। **(प्रकट)**

कुमार, वह कुछ नहीं। ऐश्वर्य के नष्ट होने की समता से मेरा अभिप्राय था।

भरत : तात, आप क्या छिपाते हैं। आपको स्वर्गीय महाराज के चरणों की सौगन्ध है, सच कहिए।

सुमन्त्र : क्या गति है! सुनिये—

हुआ राक्षसों से मुनियों के
कारण उनका वैर विशेष,
हर ले गया विदेह-सुता को
रावण रखकर तापस वेष।

भरत : कैसे हर ले गया? **(मूर्च्छित होते हैं)**

सुमन्त्र : कुमार, धैर्य रखिए, धैर्य रखिए।

भरत : **(सँभलकर)** हा कष्ट!

मेरे आर्य असंख्य दुःख वन में सहते थे,
पितृ-विहीन बान्धव-वियुक्त होकर रहते थे।
हुए आज आर्या-वियोग पाकर वे ऐसे—
घोर घनों से घिरा चन्द्र निष्प्रभ हो जैसे।

हा! इस समय क्या करूँ, अच्छा जान लिया। तात, मेरे पीछे आइए।

सुमन्त्र : जो आज्ञा कुमार की। **(दोनों घूमते हैं)**

सुमन्त्र : कुमार, रुकिए। आगे देवियों का चतुःशाल है।

भरत : यहीं मेरा काम है। अरे, यहाँ पहरे पर कौन है?

[विजया का प्रवेश]

विजया : कुमार की जय हो, मैं हूँ विजया।

भरत : विजये, माँ को मेरे आने की सूचना दे।

विजया : किन महारानी से निवेदन करूँ।

भरत : जो मुझे राजा बनाना चाहती है!

विजया : **(स्वगत)** हूँ, क्या बात होगी? **(प्रकट)**
जो आज्ञा। **(जाती है)**

[प्रतिहारी के साथ कैकेयी का प्रवेश]

कैकेयी : विजया, मुझसे मिलने भरत आया है?

विजया : जी हाँ महारानी, कुमार राम के पास से तात सुमन्त्र आये हैं। उनके साथ कुमार भरत आपसे मिलना चाहते हैं।

कैकेयी : **(स्वगत)** न जाने क्या कहकर वह मुझे उलाहना देगा।

विजया : महारानी, क्या कुमार आवें?

कैकेयी : जा, बुला ला।

विजया : जो आज्ञा। **(घूमकर)**
कुमार की जय हो। पधारिए।

भरत : विजये, सूचना दे दी?

विजया : हाँ।

भरत : तो चलें।

[प्रवेश करते हैं]

कैकेयी : पुत्र, विजया कहती है राम के पास से सुमन्त्र आये हैं।

भरत : मैं इससे भी प्रिय समाचार तुम्हें सुनाता हूँ।

कैकेयी : वत्स, कौसल्या और सुमित्रा को भी सुनाओ।

भरत : वह उनके सुनने योग्य नहीं।

कैकेयी : (स्वगत) हूँ, क्या बात होगी। (प्रकट)
कहो।

भरत : सुनो,

राज्य तुम्हारी आज्ञा से जो
छोड़ गये हैं वन को आर्य,
हरी गयी उनकी भार्या भी,
सिद्ध तुम्हारा अब सब कार्य।

कैकेयी : ऐं!

भरत :
हा! इक्ष्वाकुवंशियों को भी,
सभी कहीं है जिनका मान,
सहना पड़ा वधू-घर्षण भी
पाकर तुम-सी बहू महान!

कैकेयी : (स्वगत) अब कहने का समय आ गया है। (प्रकट)
पुत्र, तुम महाराज के शाप को नहीं जानते हो?

भरत : कैसा शाप महाराज को हुआ था?

कैकेयी : सुमन्त्र, तुम सब सुनाओ।

सुमन्त्र : जो आज्ञा। कुमार, सुनिए। पूर्वकाल में महाराज आखेट के लिए गये थे। किसी सरोवर में एक अन्धे मुनि का पुत्र घड़े से पानी भर रहा था। उस घड़े के शब्द को हाथी का शब्द समझकर महाराज ने मुनिपुत्र पर, जो महर्षि का नेत्र रूप था, शब्द-वेधी बाण छोड़ दिया और वह मारा गया।

भरत : मारा गया? पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। फिर?

सुमन्त्र : पुत्र को मरा जानकर—

बोला रोकर सत्य-धन निज को सका न रोक,
मेरे जैसा ही तुम्हें मारे प्रिय सुत-शोक।

भरत : हा! कैसे कष्ट की बात है।

कैकेयी : इसी कारण स्वयं अपराध लेकर मैंने राम को वन भेजा, राज्य लोभ के कारण नहीं।

भरत : परन्तु तुल्य पुत्र-वियोग होते हुए मुझे क्यों न भेजा?

कैकेयी : पुत्र, मामा के यहाँ रहने से तुम्हारा वियोग तो था ही।

भरत : तब चौदह वर्ष की बात क्यों कही?

कैकेयी : वत्स, मैं चौदह दिन कहना चाहती थी। घबराहट में मुँह से चौदह वर्ष कह गयी।

भरत : सम्यक् विचार करने में तुम बड़ी चतुर हो! क्या यह बात गुरुजनों को ज्ञात है?

सुमन्त्र : कुमार, वशिष्ठ, वामदेव प्रभृति सबको यह ज्ञात है।

भरत : ये तो त्रैलोक्य के साक्षी हैं। कुशल है कि तुम निरपराध हो। माँ, भ्रातृस्नेह के कारण क्रोध होने से मैंने तुमसे जो अशिष्ट व्यवहार किया है, उसे क्षमा करो। मैं प्रणाम करता हूँ।

कैकेयी : बेटा, माता नाम धारणी ऐसी कौन है जो पुत्र का अपराध क्षमा न कर सके। उठो, उठो, तुम्हारा कोई दोष नहीं है।

भरत : अनुगृहीत हुआ। अब मुझे जाने की आज्ञा दो। अभी आर्य की सहायता के लिए सम्पूर्ण राजमण्डल को उद्युक्त करता हूँ। और,

मैं वह बेलाभूमि शिविर-गुण बन्धी करके,
मत्त गजों के अन्धकार से अन्धी करके—
सैन्य सहित निज स्वेद तुल्य सागर तरता हूँ,
रावण का रण-दर्प और बल-मद हरता हूँ।

अरे, यह कैसा कोलाहल है? पूछो क्या बात है?

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : कुमार की जय हो। यह दारुण समाचार सुनकर बड़ी महारानी मूर्च्छित हो गयी हैं।

कैकेयी : अहो!

भरत : अम्बा कैसी मूर्च्छित हो गयीं?

कैकेयी : वत्स आओ, आर्या को आश्वासन दें।

भरत : जो आज्ञा।

[सब का प्रस्थान]

सप्तम अंक

[तापस का प्रवेश]

तापस : नन्दिलक, नन्दिलक।

[नन्दिलक का प्रवेश]

नन्दिलक : आर्य, मैं यह हूँ।

तापस : नन्दिलक, कुलपति कहते हैं—अपनी पत्नी के हरण करने वाले

त्रैलोक्य विद्रावण रावण को मारकर राक्षसों के विपरीत वृत्त वाले गुण गण विभूषण विभीषण का अभिषेक कर देव, देवर्षि और सिद्धों के समान निर्मल चरित्र वाली भगवती सीता को लेकर, रीछ, राक्षस और वानरों से परिवृत, शरद के निर्मल गगन के चन्द्र के समान नयनाभिराम रामचन्द्र आये हैं। इसलिए इस आश्रम में हमारे विभव के अनुसार जो सम्भव हो, उसकी सज्जा करो।

नन्दिलक : आर्य, सब प्रस्तुत है। किन्तु–

तापस : किन्तु क्या?

नन्दिलक : विभीषण के सम्बन्धी राक्षस भी आये हैं। उनके भोजन के विषय में कुलपति ही प्रमाण हैं।

तापस : क्यों?

नन्दिलक : उनका भोजन–

तापस : घबराओ नहीं, राक्षस विभीषण के अधीन हैं।

नन्दिलक : राक्षस सज्जन को नमस्कार है।

तापस : **(देखकर)** अहा! ये अत्रभवान् रामचन्द्र हैं।

जय पुरुषोत्तम, विजय करो यदि हो कोई अरि अन्य,
तुम-सा अधिपति पाकर एकच्छत्र धरा हो धन्य।
यों प्रसन्न मुनियों से स्तुत हो, सुकृती सद्गुण धाम,
उतरे भूतल पर विमान से मानवेन्द्र श्रीराम।

आपकी जय हो, जय हो। **(प्रस्थान)**

इति मिश्रविष्कम्भक।

[राम का प्रवेश]

राम : अहा!

मार प्रबल दशवदन दस्यु को, छोड़ न जीता,
पाकर निज गुणवती पुनीता प्यारी सीता,
होकर पूर्ण कृतार्थ गुरुजनाज्ञा पालन में,
आया फिर मैं मुनि निवास मय पावन वन में।

तापसी जनों की अभिवन्दना के लिए भीतर गयी हुई वैदेही को विलम्ब हो रहा है।

[देखकर]

अहा! ये हैं वैदेही।

सखि, सीते, वैदेही, बहू सुन
तापसियों से वयोऽनुसार,
उनसे बातें करती आतीं
सीता मन्द मन्द पग धार।

[तापसी के साथ सीता का प्रवेश]

तापसी : सखि सीते, ये हैं तुम्हारे स्वामी। इनके समीप जाओ, मैं तुम्हें अकेली नहीं देख सकती।

सीता : हाय! मुझे अब भी विश्वास नहीं होता। **(राम के समीप जाकर)** आर्य पुत्र की जय हो।

राम : मैथिली! तुम जानती हो, पहले हम लोग यहीं रहते थे। ये वे ही वृक्ष हैं, जिन्हें तुमने अपना पुत्र माना था।

सीता : जानती हूँ, जानती हूँ। तब ये छोटे-छोटे थे। अब दृष्टि ऊँची करके देखने योग्य हो गये हैं।

राम : ऐसा ही है। समय ही नीचे को ऊँचा करता है। स्मरण है, इस सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे शुक्ल वस्त्रधारण किये बैठे हुए भरत को देखकर मृग यूथ त्रस्त हो गया था।

सीता : आर्यपुत्र, भलीभाँति स्मरण है।

राम : यह हमारे तप का साक्षि रूप वही बड़ा जलाशय है। यहीं बैठे हुए हम पिताजी के श्राद्ध की चिन्ता कर रहे थे। उसी समय सुवर्ण मृग दिखायी दिया था।

सीता : आर्यपुत्र, रहिए, रहिए। वह चर्चा न कीजिए। **(भय से सिहर उठती हैं)**

राम : डरो नहीं, वह दुस्समय अब बीत चुका है।
(एक ओर देखकर) अरे, यह कहाँ से—

फैल पवन में ढाँक दिशाएँ
लोध्र-धवल उड़ती है धूल,
धीर शंख-भेरी-ध्वनिमय वन
नगर बन रहा निज को भूल।

[लक्ष्मण का प्रवेश]

लक्ष्मण : आर्य की जय हो। आर्य,

ये भवदीय दर्शनोत्कंठित
वन के व्रत वाले गेही,
सेना सहित भरत आते हैं
मातृ-संग भ्रातृ-स्नेही।

राम : वत्स लक्ष्मण, क्या इस प्रकार भरत आये हैं?

लक्ष्मण : हाँ आर्य।

राम : मैथिलि, माताओं के आगे चलने वाले भरत को देखने के लिए अपने नेत्र विशाल बनाओ।

सीता : आर्यपुत्र, भरत ठीक समय पर आ गये हैं।

[माताओं के साथ भरत का प्रवेश]

भरत : *आया मैं सानन्द आर्य को*
देखूँ सानुज आर्या युक्त,
मेघ रहित शारद शशांक-सम
शोभित हैं जो संकट-मुक्त।

राम : माताओ, तुम सबको प्रणाम करता हूँ।

सब माताएँ : बेटा, चिरंजीव हो, प्रतिज्ञा पूर्ण करके आये हुए वधू सहित तुमको देखकर हम फूली नहीं समाती हैं।

राम : मैं अनुगृहीत हुआ।

लक्ष्मण : माताओ, मैं प्रणाम करता हूँ।

सब माताएँ : चिरंजीव हो बेटा।

सीता : आर्ये, मैं वन्दना करती हूँ।

सब माताएँ : बेटी, चिरसौभाग्यवती हो।

सीता : मैं अनुगृहीत हुई।

भरत : आर्य, मैं भरत प्रणाम करता हूँ।

राम : आओ वत्स, आओ, स्वस्ति। बड़ी आयु वाले हो।
स्फुट कपाट-पुट तुल्य वक्ष फैलाओ, आओ,
दीर्घ भुजों से मुझे भेंट कर गले लगाओ।
शरच्चद्र-सा कम्र वदन हे नम्र, उठाओ,
इस दुःखों से दग्ध देह में पुलक जगाओ।

भरत : मैं अनुगृहीत हुआ। आर्ये, मैं भरत आपको प्रणाम करता हूँ।

सीता : आर्यपुत्र के चिर सहचर हो।

भरत : अनुगृहीत हुआ। आर्य, मैं प्रणाम करता हूँ।

लक्ष्मण : आओ वत्स, आओ, दीर्घायु हो, मुझे गाढ़ालिंगन दो। **(भेंटते हैं)** भरत, अनुगृहीत हुआ। आर्य, राज्य-भार ग्रहण कीजिए।

राम : वत्स, यह क्या?

कैकेयी : वत्स, यह हम लोगों का चिराभिलषित मनोरथ है।

[शत्रुघ्न का प्रवेश]

शत्रुघ्न : *जो कष्टों से क्षीण भी है तेजः परिपूर्ण,*
रावणारि उन आर्य के दर्शन पाऊँ तूर्ण।
(समीप आकर) आर्य, मैं शत्रुघ्न अभिवादन करता हूँ।

राम : आओ वत्स, आओ। स्वस्ति, दीर्घजीवी हो।

शत्रुघ्न : अनुगृहीत हुआ। आर्ये, प्रणाम करता हूँ।

सीता : वत्स बहुत जियो।

शत्रुघ्न : अनुगृहीत हुआ। आर्य, अभिवादन करता हूँ।

लक्ष्मण : स्वस्ति, दीर्घजीवी हो।

शत्रुघ्न : अनुगृहीत हूँ। **(राम से)**

आर्य, ये वशिष्ठ, वामदेव और प्रजाजन अभिषेक सामग्री लेकर आपको देखना चाहते हैं।

जिसको नद नदियों से लाये मुनि जन आप अनेक,
उस तीर्थों के जल से करके आज उचित अभिषेक,
सभी आपके सुख प्रसाद से, ज्यों जलार्द्र जलजात,
शीघ्र देखने को उत्सुक हैं सुमुख आपका तात!

कैकेयी : वत्स, चलकर अभिषेक स्वीकार करो।

राम : जो अम्बा की आज्ञा।

[नेपथ्य में]

आपकी जय हो। स्वामी की जय हो। महाराज की जय हो। देव की जय हो, भद्रमुख की जय हो। आर्य की जय हो। रावणारि की जय हो।

कैकेयी : ये पुरोहित और कंचुकी मेरे पुत्र की विजय मना रहे हैं।

सुमित्रा : आहा! सब लोग मेरे पुत्र की जय जयकार कर रहे हैं।

[नेपथ्य में]

हे जनस्थान वासी तपस्वियो, आप लोग सुनिए, सुनिए।

सहज सूर्य सम शौर्य वीर्य की किरणों द्वारा
मेंट अतुलतम बढ़ा हुआ वह अरि-तम सारा,
पाकर सीता सर्व मंगला परम पुनीता,
रामचन्द्र ने आज अखिल जगती को जीता।

कैकेयी : अहा! मेरे पुत्र की विजय वृद्धि की घोषणा हो रही है।

[कृताभिषेक राम सपरिकर आते हैं]

राम : **(आकाश की ओर देखकर)**

सन्तुष्ट हो अब स्वर्ग में
वह दैन्य छोड़ो तात, तुम,
पूरी हुई, मेरे लिए
जो चाहते थे बात तुम।

बन लोक-रक्षा का व्रती
मन से, वचन से, कर्म से,

राजा हुआ यह आज मैं
भू-भार धारी धर्म से।

भरत : *धारण किये राजपद राजच्छत्र पवित्र चरित्र,*
पुण्यतीर्थ तोयाभिषिक्त जो विकसित मौलि विचित्र,
जन-जन वन्दित, लीला नन्दित, नव शशि सम निर्व्याज,
पूज्य आर्य को निरख निरख मैं, नहीं अघाता आज।

शत्रुघ्न : *आज आर्य-अभिषेक से मेरा कुल निष्पाप,*
चन्द्रोदय से जगत-सा हुआ प्रकाशित आप।

राम : वत्स लक्ष्मण, मुझे राज्य प्राप्त हुआ।

लक्ष्मण : अहा! आर्य की वृद्धि हुई

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : ये तत्रभवान् विभीषण और उनके साथ सुग्रीव, नील, मैन्द जाम्बवान् और हनुमान प्रभृति निवेदन करते हैं कि बड़ा हर्ष है जो आपकी वृद्धि हुई।

राम : कह दो कि तुम सहायकों के प्रसाद से ही हमारी वृद्धि हुई है।

कंचुकी : जो आज्ञा।

कैकेयी : मैं धन्य हूँ। ऐसे अभ्युदय के साथ अयोध्या को देखना चाहती हूँ।

राम : आप देखेंगी। (देखकर)
अरे, प्रभाओं से यह सारा वन सूर्य की भाँति चमक उठा **(सोचकर)** अच्छा, जान लिया। आकाश में रावण का पुष्पक विमान आ रहा है। यह स्मरण मात्र से ही प्राप्त होता है। तो सब लोग इस पर चढ़िए।

[सब चढ़ते हैं]

राम : *जाता हूँ मैं अभी अयोध्या*
लेकर सब स्वजनों को साथ,

लक्ष्मण : *देखें तुम्हें पौर जन समुदित*
सनक्षत्र शशि सम रघुनाथ!

[भरत वाक्य]

सानुज सीता सहित लौटकर
किया राम ने राज्य यथा,
श्रीमद्राजसिंह निज नरपति
पृथ्वी पालन करें तथा।

[सब जाते हैं]

अभिषेक

अभिषेक

पात्र

पुरुष

सूत्रधार : नाटक का संचालक।
सुग्रीव : बाली का भाई।
राम : लक्ष्मण के बड़े भाई।
हनूमान : राम के अनन्य भक्त।
बाली : वानरों के अधिपति।
अंगद : बाली का बेटा।
लक्ष्मण : राम के छोटे भाई।
ककुभ : एक राक्षस।
बिलमुख : एक दैत्य।
रावण : लंका का राजा।
शंकुकर्ण : सैन्य संचालक।
विभीषण : रावण का भाई।
कंचुकी : रनिवास का रक्षक।
बलाध्यक्ष : सेनापति।
अग्नि : प्रधान देवता।

स्त्रियाँ

तारा : बाली की पत्नी।
सीता : राम की पत्नी।
प्रतिहारी : एक दासी।

श्रीगणेशाय नमः

अभिषेक

प्रथम अंक

[नान्दी के अन्त में सूत्रधार]

सूत्रधार : *कौशिक-मख के विघ्नकारियों के संहारी,*
खर-दूषण-त्रिशिरादि शत्रुओं के जयकारी,
गर्वित बालि-कबन्ध-काल, प्रभु नर-तनुधारी,
राक्षसेन्द्र-कुल-दलन, कुशलता करें तुम्हारी।
आर्य महानुभावों से निवेदन है, **(घूमकर देखता हुआ)**
अरे, मेरे निवेदन करते समय यह कैसा शब्द सुनाई पड़ता है?
देखूँ, क्या है?

[नेपथ्य में]

सुग्रीव, इधर आओ, इधर।

[पारिपार्श्विक का प्रवेश]

पारिपार्श्विक : भाव!
उठा कहाँ से भीम यह
श्रवण विदारक रोर,
नभ में हैं ज्यों गरजते
पवनोत्थित घन घोर?

सूत्रधार : मारिष, क्या तुम नहीं जानते हो, यह सीताहरण से सन्तप्त, रघुकुल-प्रदीप, सर्व लोक नयनाभिराम राम और पत्नी के बलात्कारपूर्वक हरण से विषय रहित, रीछ और वानरों के स्वामी, विशाल ग्रीवा वाले सुग्रीव ने आपस में उपकार करने की प्रतिज्ञा की है। इसी

क्रम में सब वानरों के अधिपति, सुवर्ण माला वाले बाली के वध का उद्योग हो रहा है। इसलिए ये—

राज्यच्युत सुग्रीव को करने को फिर भूप,
मिले राम-लक्ष्मण अमर-पति को हरिहर-रूप।

(दोनों जाते हैं)

इति स्थापना

[राम-लक्ष्मण, सुग्रीव और हनूमान का प्रवेश]

राम : सुग्रीव, इधर, इधर—

तीक्ष्ण बाण से छिन्न-भिन्न करके शरीर सब,
भू पर तेरा शत्रु गिराता हूँ द्रुत मैं अब।
राजन्, मेरे निकट न डर कर अपने मन में,
देखेगा तू आज पतित बालि को रण में।

सुग्रीव : देव, आपके अनुग्रह से मैं देवों के राज्य की भी आकांक्षा कर सकता हूँ, वानरों के राज्य की तो बात ही क्या है—

बालि-वक्ष को देव, आपका शर भेदेगा,
मुझको है विश्वास, वज्र को भी छेदेगा।
हिमगिरि-शिखर-समान सप्त तालों को पल में,
भेद, गया जो और घुस गया धरणी-तल में।
यही नहीं, वर बाण जो पैठ गया पाताल में,
फिर समुद्र में स्नान कर फिर आया क्षण काल में।

हनूमान : *सुनकर नरेन्द्र, ये वचन आपके प्यारे,*
सब दूर हुए भय-शोक-विकार हमारे।
जय देने को रघुवीर, आप कपिवर को,
करिए कृतार्थ अब जलद-तुल्य भूधर को।

लक्ष्मण : आर्य, स्वच्छ वन के बीच सामने ही किष्किन्धा जान पड़ती है।

सुग्रीव : कुमार ने ठीक कहा—

कपि-रक्षित किष्किन्धा आई,
आप ठहरिए दोनों भाई।
गिरि कम्पित कर मैं गर्जन से
विकल करूँ सबको तर्जन से।

राम : ठीक है, जाओ।

सुग्रीव : जो आज्ञा। **(घूमकर)**

परित्यक्त सुग्रीव यह निरपराध कपिराज!
किया चाहता युद्ध में प्रभु-पद-पूजा आज।

[नेपथ्य में] क्या, क्या? सुग्रीव है?

[बाली और उसका पल्ला पकड़े तारा का प्रवेश]

बाली : क्या, क्या, सुग्रीव है?

तारे, सुन्दरि सुतनु, मलिनवदनी हे प्यारी,
यह क्या, यह क्या, वस्त्र छोड़ मेरा सुकुमारी!
उस सुकण्ठ को रुधिर वमन करता क्षण भर में,
देख, दिखाऊँ तुझे सामने पड़ा समर में।

तारा : प्रसन्न हों, प्रसन्न हों महाराज! कारण विशेष के बिना यों ही सुग्रीव आने का साहस नहीं कर सकता। मन्त्रियों से परामर्श करके ही जाना चाहिए।

बाली : आः!

वज्री हों, शूली हों, वा हों
स्वयं शार्ङ्गधर शत्रु-पक्ष में,
वे भी नहीं जीत सकते हैं,
लेकर मुझे समक्ष लक्ष में।

तारा : महाराज, प्रसन्न हों, प्रसन्न हों, इस जन पर कृपा करें।

बाली : प्रिये, मेरा पराक्रम सुन--

अमृत-मन्थन में सुरासुरों का कर मैंने उपहास,
रज्जु बनें वासुकि को ज्यों ही खींचा बिना प्रयास,
रूप विरूप हो गया उसका, फूल हुए दृग लाल,
विस्मित सब रह गये देखते मेरे बाहु विशाल।

तारा : महाराज, प्रसन्न हों, प्रसन्न हों।

बाली : आः! मेरी वशवर्त्तिनी हो, भीतर जा।

तारा : जाती हूँ मैं मन्दभागिनी। **(जाती है)**

बाली : तारा गयी। अब मैं भी जाकर सुग्रीव को भग्नग्रीव करूँ।

[आगे जाकर]

सुग्रीव, खड़ा रह, खड़ा रह--

सुरपति वा विभु विष्णु ही रक्खें तेरा पक्ष,
पर तू जा सकता नहीं आकर आज समक्ष।

इधर आ, इधर आ।

सुग्रीव : जो आज्ञा। **(दोनों भिड़ते हैं)**

राम : यह बाली--

ओंठ काटता हुआ क्रोध से
किये हुए युग लोचन लाल,

दाँत पीसता हुआ उग्रतर,
मुट्ठी बाँधे कठिन कराल,
गर्जन करता हुआ युद्ध में,
शोभित है कपिवीर विशाल,
दारुण यह कल्पान्त काल का
जलता-सा है ज्वाला-जाल!

लक्ष्मण : आर्य, सुग्रीव को भी देखें—
खिले कोकनद सदृश नेत्र लोहित हैं जिसके,
भुजबन्धों से सबल बाहु शोभित हैं जिसके,
सुजनशील यह छोड़ कीश होने के कारण,
करता है किस भाँति क्रुद्ध निज अग्रज से रण।
बाली से ताड़ित होकर सुग्रीव गिर पड़ा।

हनूमान : हा धिक्! **(घबराकर राम से)**
मेरा स्वामी अबल है, वानरेन्द्र बलवान,
शपथ और यह समय भी सब सोचें श्रीमान!

राम : हनूमान, घबराओ नहीं, वही करता हूँ। **(बाण छोड़कर)** यह बाली गिर पड़ा।

लक्ष्मण : यह बाली—
धैर्य से कर्षित विशिख से विद्ध शिथिल शरीर
छोड़ता है यह प्रशंसित बाहु वाला वीर।
अरुण दृग नीचे हुए हैं, रक्त पूरित अंग,
जा रहा यमलोक को है शीघ्रता के संग।

बाली : **(मूर्च्छा से जागकर और बाण पर लिखे अक्षर पढ़कर, राम से)**
राज-धर्मस्थित हुए हे राम, हे श्रुत शूर,
धर्म के सन्देह जिनसे हो गये हैं दूर,
दूसरों के छल विघातक, पहन वल्कल हाय!
था मुझे छलना तुम्हें क्या उचित न्याय विहाय?
कैसे खेद की बात है—
सौम्य यशोधन आपने छल से मुझको मार,
किया लोक में सर्वथा अपयश का विस्तार।
हे राम, चीर-वल्कल वेश के विपरीत चित्तवाले होकर भाई के साथ लड़ते समय आपने छल से मेरा प्रच्छन्न वध किया है। यह कितना बड़ा अधर्म है!

राम : प्रच्छन्न वध कैसे अधर्म है?

बाली : इसमें सन्देह क्या है?

राम : ऐसी बात नहीं। देखो–

जाल डाल मृग मारते हैं सब निस्संकोच,
मारा है मैंने तुम्हें दण्डनीय मृग सोच।

बाली : आप मुझे दण्डनीय मानते हैं?

राम : इसमें क्या सन्देह है?

बाली : किस कारण से मैं दण्डनीय हूँ?

राम : अगम्यागमन से।

बाली : यह तो हमारा स्वभाव है।

राम : तुम ऐसा नहीं कह सकते–

वानरेन्द्र धर्मज्ञ भी अपने को मृग मान,
भ्रातृ-बधू का भी नहीं रक्खा तुमने ध्यान।

बाली : भ्रातृ-दारा के साथ अपने व्यवहार में हम दोनों भाई समान हैं। फिर आपने सुग्रीव को छोड़कर मुझे ही क्यों मारा?

राम : छोटे भाई की स्त्री के साथ बड़े भाई का अनाचार सर्वथा अनुचित है।

बाली : अब मैं निरुत्तर हूँ। आपसे दण्ड पाकर मैं निष्पाप हो गया।

राम : ऐसा ही हो।

सुग्रीव : *अरि-शर से केयूर कटे हैं जिनके सुन्दर,*
जो हैं करि-कर-सदृश अहो गजगामी हरिवर!
देख भूमि पर पड़े हुए वे बाहु तुम्हारे,
फटता है यह हृदय महा पीड़ा के मारे।

बाली : सुग्रीव, शोक न करो। जगत् की यही गति है।

[नेपथ्य में]

हा हा महाराज!

बाली : सुग्रीव, रोको, रोको स्त्रियों को। ऐसी दशा में वे मुझे न देखें।

सुग्रीव : जो महाराज की आज्ञा। हनूमान, यही करो।

हनूमान : जो आज्ञा कुमार की। **(जाना और अंगद के साथ आना)**

सुग्रीव : अंगद, इधर, इधर।

अंगद : *सुन कपीन्द्र को काल-वश शोकाकुल निरुपाय,*
चल भी पाता हूँ नहीं अति अभाग्य मैं हाय!
हनूमान, महाराज कहाँ हैं?

हनूमान : इधर हैं महाराज–

बाण-विद्ध भूपर पड़े ये कपीन्द्र बल-धाम,

कार्त्तिकेय-से आर्त्त ज्यों क्रौंचाचल अभिराम।

अंगद : **(समीप जाकर)**

सोते थे जो सुख सहित सहज भुजबल से,
निश्चेष्ट धरा पर पड़े वही निश्चल-से।
शरविद्ध विशाल शरीर छोड़ आतुर हो,
जाते हो क्या तुम तात, आज सुरपुर को?

बाली : अंगद, शोक न करो। सुग्रीव,

जो कुछ हुआ उसे अब तुम ध्यान में न लाओ,
होकर कपीन्द्र मेरा सब दोष भूल जाओ।
धार्मिक बनो सुमति से तज वैरभाव सारा,
सौंपा तुम्हें, सँभालो कुलतन्तु यह हमारा।

सुग्रीव : जो आज्ञा महाराज की।

बाली : हे राघव, इन दोनों से जो भूलें हों उन्हें वानरों की चपलता समझ कर क्षमा करना।

राम : अच्छी बात है।

बाली : सुग्रीव, हमारी कुल-सम्पत्ति यह माला लो।

सुग्रीव : अनुगृहीत हुआ। **(लेता है)**

बाली : हनूमान, जल लाओ।

हनूमान : **(जाकर और जल लाकर)** यह है जल।

बाली : **(आचमन करके)** मुझे प्राण छोड़ने हैं। ये गंगा प्रभृति महानदियाँ और उर्वशी आदि अप्सराएँ मुझे प्राप्त हो रही हैं। एक सहस्र हंस जिसे वहन कर रहे हैं, ऐसा वीरों को ले जाने वाला यमराज का भेजा हुआ विमान मुझे लेने को आ गया है। अच्छा, मैं चलता हूँ। **(स्वर्ग गमन)**

सब : हा हा महाराज!

राम : बाली स्वर्ग को गया। सुग्रीव, भाई का अन्तिम संस्कार करो।

सुग्रीव : देव, जो आज्ञा।

राम : लक्ष्मण, सुग्रीव के अभिषेक का प्रबन्ध करो।

लक्ष्मण : आर्य, जो आज्ञा। **(सब जाते हैं)**

द्वितीय अंक

[ककुभ का प्रवेश]

ककुभ : कार्य प्रायः पूरा हो गया है। निरन्तर व्यस्त रहने वाले सब वानरयूथप भोजन में लगे हैं। मैं भी कुछ खा लूँ। **(वैसा ही करता है)**

[बिलमुख का प्रवेश]

बिलमुख : मुझे महाराज सुग्रीव ने भेजा है। आर्य राम के किये हुए उपकार के प्रत्युपकार में जो वानर सीता को खोजने के लिए सब ओर भेजे गये थे, वे लौट आये हैं। केवल दक्षिण दिशा की ओर गये हुए कुमार अंगद अभी तक नहीं लौटे हैं। उन्हीं की प्रवृत्ति का शीघ्र पता लेने का उन्होंने मुझे आदेश दिया है। तो देखूँ कुमार कहाँ हैं। **(घूमकर आगे देखता हुआ)** ये आर्य ककुभ हैं इन्हीं से पूछूँ। **(पास जाकर)** आर्य। अच्छे तो हैं?

ककुभ : अरे बिलमुख! कहाँ थे?

बिलमुख : आर्य, महाराज के आदेश से कुमार अंगद को देखने के लिए आया हूँ।

ककुभ : आर्य, राम और महाराज कुशलपूर्वक तो हैं?

बिलमुख : हाँ।

ककुभ : महाराज का क्या अभिप्राय है? **(बिलमुख ऊपर कही हुई बात दुहराता है)**

ककुभ : क्या तुम्हें पता नहीं कि आधा काम हो गया?

बिलमुख : क्या, क्या?

ककुभ : सुनो,

गृध्रराज से सुन सब हाल,
लंका जाने को तत्काल,
गिरि पर चढ़कर पवनकुमार,
लाँघ गये हैं पारावार।

इसलिए आओ, कुमार की सेवा में चलें।

इति विषकम्भक

[राक्षसों से घिरी हुई सीता का प्रवेश]

सीता : हा कष्ट! मैं मन्दभागिनी बड़ी कठोर हूँ, जो आर्यपुत्र से वियुक्त होकर राक्षसों के कुत्सित वचन सुनती हुई भी यहाँ जी रही हूँ अथवा आर्यपुत्र के बाणों का विश्वास करके किसी प्रकार अपने को बचा रही हूँ। आज मेरा हृदय कुछ हल्का-सा हो रहा है, मानो जलती

आग में जल के छींटे पड़ गये हैं। मेरे बिना आर्यपुत्र क्या प्रसन्न होंगे?

[अँगूठी लिये हनूमान का प्रवेश]

हनूमान : **(लंका में प्रवेश करके)** अहो! रावण के भवन की कैसी विचित्र रचना है?

हाटक-घटित विचित्र उच्चतर तोरणवाली,
मणियों से हैं जटित भवन जिसके द्युतिशाली,
वर विमान परिपूर्ण गगन में इन्द्रपुरी-सम,
लंका नगरी दीख रही है कैसी उत्तम।

क्या ही खेद की बात है—

राज्यश्री पाकर अतुल होकर मार्ग-भ्रष्ट
किया चाहता है स्वयं उसे दशानन नष्ट।

चारों ओर घूमकर मैंने प्रायः सारी लंका देख ली।

देव सदन-से विविध विलक्षण भवन निहारे,
पान-स्नान-स्थान विमान विलोके सारे।
बाहर भीतर घूम-घूम कर खोज फिरा मैं,
मिलीं न सीता अकृत कार्य ही रहा निरा मैं।

मेरा परिश्रम व्यर्थ ही हुआ। अच्छा, इस भवन पर चढ़कर तो देखूँ।
(वैसा ही करके)
यह प्रमद वन है, इसमें भी जाकर देख लूँ। **(जाकर और देखकर)**
अहा, प्रमद वन की कैसी समृद्धि है!

कनक खचित बहुरुचिर रत्न जिनमें जड़े,
जिसमें ऐसे वृक्ष पंक्ति से हैं खड़े,
नभ में इन्द्र विहार भूमि जैसी भली,
है यह गिरिवर युक्त विपुल विपिनस्थली।

और भी—

चित्र विचित्र धातुओं वाले
देखे हैं पर्वत प्यारे,
नित्य पुष्प-फल-पूर्ण विटपि-वन
घूम लिये न्यारे न्यारे।

विविध वारिचर जीवों वाली
देखी हैं वापियाँ बड़ीं,
देखा यहाँ सभी कुछ मैंने,
सीता मुझे न दीख पड़ीं।

इस स्थान में इधर यह कान्तिमान-सा क्या दिखाई देता है। तो चलकर देखूँ।

(वैसा ही करके) अहो ये कौन हैं!

भीम राक्षस नारियों से जो घिरी,
मंजु मूर्ति सुमध्यमा कृश तनु निरी,
घिर रही सब ओर मानो घनघटा,
चमकती है बीच में विद्युच्छटा!

ये–

आँसुओं से आर्द्रवदनी, कान्त-चिन्ताकारिणी,
नागनी-सी कृष्ण वर्णा एक वेणी धारिणी,
दुःखिनी अनशनकृशा, मुष्टिप्रमाण सुमध्यमा!
धूप में डाली हुई उज्वल कमल मालोपमा!
अरे, यह दीपिका का दर्शन कहाँ से हुआ।

(देखकर) अरे यह तो रावण है–

रत्न मुकुट सिर पर है जिसके अरुण नयन सुविशाल,
करती है मदान्ध गज-लीला जिसकी सुन्दर चाल,
युवति-वृन्द में क्रीड़ा करता राक्षसेश वर वेष,
मृगियों के गण में मृगेन्द्र-सा शोभित है सविशेष।

मैं अब क्या करूँ? अच्छा, इस अशोक वृक्ष पर चढ़कर और इसके कोटर में बैठकर देखूँ, क्या होता है? **(वैसा ही करता है)**

[परिकर सहित रावण का प्रवेश]

रावण :
देव और दानवों की सेना दिव्य आयुधों से
जिस मुझ रावण ने सर्वदा विदारी है,
युद्ध में जो क्रुद्ध हुए इन्द्र के मतंगज के
दन्त-वज्र-चिह्नित विशाल भुजधारी है।
चाहती नहीं है मुझे सीता अविवेकता से
मुग्ध दृष्टि वाली जो अपूर्व एक नारी है,
तुच्छ उसी तापस को चाहती है हाय! यह,
दैव का विधान सर्वथैव विघ्नकारी है।

[ऊपर की ओर देखकर]

यह चन्द्रोदय हुआ–

रजत मुकुर-सा कान्तिमय कुमुद-बन्धु राकेश,
बढ़कर स्वकरों से मुझे देता है यह क्लेश।

(बढ़कर) वृक्ष के मूल में बैठी, चित्त को ध्यान में लगाये, उपवास

से दुर्बल देह वाली मानो अपने शरीर में ही पैठ जाने की इच्छा करने वाली, उदर में अपने वक्षस्थल को छिपाये हुए, दुर्दिन की चन्द्रलेखा के समान राक्षसियों से घिरी हुई यह सीता बैठी है, जो–

सब भोगों को छोड़ यह वर वैभव त्यागकर,
नर से नाता जोड़ हुई न मम वशवर्तिनी।

हनूमान : ओह! जान लिया–

यही राम रामा वही जनकनन्दिनी हाय!
डरी सिंह को देखकर हरिणी-सी असहाय।

रावण : **(बढ़कर)**

भज मुझे सब भाँति सीते, भामिनी,
छोड़ दे यह उग्र तप हे कामिनी!
हे शुभे, है किस लिए प्रतिकूल तू?
उस गतायु मनुष्य को अब भूल तू!

सीता : यह रावण उपहास के योग्य है, जो वचनगत शिष्टाचार भी नहीं जानता।

हनूमान : **(सक्रोध)** रावण का कैसा अहंकार है–

श्रीराम का भुजबल न जान,
उस धनुर्बाण को भी न मान,
मद-मत्त मूढ़ लंकाधिराज
कहता है उन्हें गतायु आज।

मैं अब रोष नहीं रोक सकता। क्यों न ही आर्य राम का कार्य सिद्ध करूँ? अथवा–

यदि मैं रावण को मारूँगा,
तो सीता को उद्धारूँगा।
यदि रावण ने मुझको मारा,
काम बिगड़ जावेगा सारा।

रावण : *हे सुन्दरि, तू मूँह से बोल,*
नील कमल-सी वेणी खोल।
करके विविध रत्न-शृंगार,
कर मुझको अब अंगीकार।

सीता : हा! धर्म निस्सन्देह विपरीत है, जो यह पापी राक्षस जी रहा है।

रावण : निश्चय देवी।

सीता : मैंने तुझे शाप दिया।

रावण : अहो पतिव्रता का कैसा तेज है!

इन्द्र सहित सुर दानव सारे

जिनसे बार बार हैं हारे,
हुआ वही व्याकुल मैं सत्वर,
एक बात सीता की सुनकर।

[नेपथ्य में]

महाराज की जय हो, लंकेश्वर की जय हो, स्वामी की जय हो, दस घड़ियाँ हो गयीं। स्नान की वेला बीती जाती है, महाराज पधारें।

(सपरिकर रावण जाता है)

हनूमान : गया रावण, राक्षसियाँ भी सो गयी हैं। देवी के समीप जाने के लिए यह उपयुक्त अवसर है। **(कोटर से निकलकर)**
सौभाग्यवती की जय हो।

बिना तुम्हारे विकल जो सहते हैं सन्ताप,
भेजा है मुझको यहाँ राघवेन्द्र ने आप।

सीता : **(स्वगत)** कौन है यह पापी राक्षस जो आर्यपुत्र का सम्बन्धी बनकर वानर रूप से मुझे छलना चाहता है? अच्छा मैं चुप रहूँगी।

हनूमान : आप विश्वास क्यों नहीं करतीं? अन्य की आशंका न कीजिए। सुनिए—

कपि सुकण्ठ से सन्धि कर तुम्हें खोजने हेतु,
प्रेषक मुझ हनूमान के हैं श्री रघुकुल-केतु।

सीता : **(स्वगत)** यह जो कोई हो, आर्यपुत्र के नाम संकीर्तन करने से ही मैं इससे बातचीत करूँगी।
(प्रकट) भद्र, आर्यपुत्र का क्या समाचार है?

हनूमान : हे देवी, सुनिए—

उपवासों से दुर्बल होकर
मुँह पीला पड़ गया अहा!
रूप तुम्हारे गुण-चिन्तन में,
नाम मात्र ही शेष रहा।

धैर्य हीन हो गया क्षीण तनु,
दृग भीगे ही रहते हैं,
बिना तुम्हारे विरहाकुल हो
राम क्या नहीं सहते हैं?

सीता : **(स्वगत)** हा! मैं मन्दभागिनी लज्जित हूँ कि आर्यपुत्र मेरे लिए ऐसे चिन्तित हैं। यदि यह वानर सच कहता है, तो आर्यपुत्र का विरह-कष्ट भी मेरे लिए सफल है। इस जन पर आर्यपुत्र का शोक

और परिश्रम सुनकर सुख और दुख के बीच मेरा मन दोलायमान है। **(प्रकट)**
भद्र, तुमसे और आर्यपुत्र से कैसे भेंट हुई?

हनूमान : देवी, सुनिए।

किया तुम्हारे लिए बालि-वध
समरस्थल में प्रभुवर ने,
दिया राज्य अनुगत सुकण्ठ को,
दिनकर-कुल के दिनकर ने।

भेजे फिर कपीन्द्र ने कपिगण
तुम्हें खोजने जहाँ तहाँ,
उनमें से मैं गृध्रवचन सुन
आ पहुँचा हूँ आज यहाँ।

यही बात है।

सीता : हाय! देव गण बड़े निर्दय हैं, जो आर्यपुत्र को इस प्रकार शोकार्त्त करते हैं।

हनूमान : देवी, आप विषाद न कीजिए।

दीर्घ धनुष धारण किये, कपि-सेना के साथ,
रावण के सिर काटने आवेंगे रघुनाथ।

सीता : क्या मैं स्वप्न देख रही हूँ? भद्र, क्या यह सच है?

हनूमान : **(स्वगत)** हा कष्ट!

पति को हैं ये जानती, फिर भी है सन्देह,
परिवर्तित-सी हो गयी इन साध्वी की देह!

(प्रकट) देवी!

लाऊँगा मैं यहाँ राम को, निश्चय जानो,
तुम उनके ही निकट देवि, अपने को मानो।
शोक छोड़ दो और करो मत कोई शंका,
प्रभु-बाणों से पूर्ण हुई समझो अब लंका।

सीता : भद्र, मेरी यह अवस्था सुनकर जिसमें आर्यपुत्र शोकार्त्त न हों, उस प्रकार उन्हें यहाँ के समाचार सुनाना।

हनूमान : भगवती की जो आज्ञा।

सीता : जाओ, कार्य सिद्ध हो।

हनूमान : अनुगृहीत हुआ। **(घूमकर)**
मैं किस प्रकार अपना यहाँ आना रावण को जताऊँ? अच्छा समझ

लिया।

कूक रहे पिक जहाँ और पंकज फूले हैं,
खिले मनोहर वृक्ष मधुप जिन पर भूले हैं,
उस घन सदृश त्रिकूट विपिन को नष्ट करूँ मैं,
रावण का यह विभव जनित सब गर्व हरूँ मैं।

[सब जाते हैं]

तृतीय अंक

[शंकुकर्ण का प्रवेश]

शंकुकर्ण : कांचन के तोरण द्वार पर कौन है?

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी : आर्य, मैं हूँ विजया। क्या करना है?

शंकुकर्ण : विजये, सूचित करो, सूचित करो महाराज लंकेश्वर को कि अशोक वनिका उजाड़ डाली गयी।

देवी मन्दोदरी जहाँ ममता के मारे,
भूषणार्थ भी नहीं तोड़ती पल्लव प्यारे।
मलयानिल भी जहाँ न पौधे छूने पाता,
धीरे धीरे भक्ति-भाव से व्यजन डुलाता।

विख्यात सुरपरिपु देव की वर अशोक वनिका वही,
सहसा उजाड़ डाली गयी, विज्ञापित कर दो यही।

प्रतिहारी : आर्य, सदा स्वामी के चरणों में रहने वाले जन के लिए यह अदृष्ट पूर्व दुर्घटना है। क्या हुआ?

शंकुकर्ण : जो हो, यह अति आवश्यक है, शीघ्र निवेदन करो।

प्रतिहारी : आर्य, मैं अभी निवेदन करती हूँ। **(जाती है)**

शंकुकर्ण : **(सम्मुख देखकर)** अरे, महाराज लंकेश्वर तो इधर ही आ रहे हैं।

कर लाल नेत्र कमलोपमान,
उत्तप्त कनक सम कान्तिमान।
कलपान्त सूर्य के सदृश घोर,
आ रहे देव ये इसी ओर।

[यथा निर्दिष्ट रावण का प्रवेश]

रावण : *क्या है, क्या है, सुना मुझे हे नूतन भाषी,*

निर्भय होकर कौन मरण का है अभिलाषी?
किसने ऐसा ढीठपने का काम किया है?
वन उजाड़ कर मुझे भयंकर रोष दिया है?

शंकुकर्ण : **(पास पहुँचकर)** किसी न जाने कैसे आये हुए वानर ने अशोक वनिका हठात् नष्ट-भ्रष्ट कर दी है।

रावण : **(तिरस्कारपूर्वक)** क्या वानर ने? जा, उसे शीघ्र पकड़ ला।

शंकुकर्ण : जो आज्ञा महाराज की। **(जाता है)**

रावण : *जिसने लोकत्रय को रण में सभय किया बहु बार,*
उस मेरा अमरों से यदि यह किया गया अपकार,
तो अपनी शठता के कारण करके ऐसा काम,
भोगेंगे वे भी सत्वर ही इसका दुष्परिणाम।

[शंकुकर्ण का प्रवेश]

शंकुकर्ण : जय हो महाराज की। महाराज, वह वानर बड़ा बलवान है। उसने कमल नाल के समान शाल वृक्षों को उखाड़ डाला, मुट्ठियों के प्रहार से दारुपर्वत तोड़ डाला, हाथों से लतागृह नष्ट-भ्रष्ट कर दिये। उसकी गर्जना से ही वनपाल मूर्च्छित हो गये। उसे पकड़ने योग्य सेना को आज्ञा दीजिए।

रावण : एक सहस्र सेवकों की सेना को उसे पकड़ लाने का आदेश दो।

शंकुकर्ण : जो आज्ञा। **(जाकर और आकर)**
महाराज की जय हो।
उस मर्कट ने शीघ्र ही करके विकट शरीर,
तोड़ हमारे ही विटपि मारे सारे वीर।

रावण : क्या मार डाले? तो कुमार अक्ष को उसे पकड़ने के लिए भेजो।

शंकुकर्ण : जो महाराज की आज्ञा। **(जाता है)**

रावण : **(सोचकर)**
आयुधज्ञ बलशील भी है वर वीर कुमार,
पकड़ेगा उस कीश को वा डालेगा मार।

[शंकुकर्ण का पुनः प्रवेश]

शंकुकर्ण : महाराज पीछे से जाने वाले सैनिकों को भी आज्ञा दीजिए।

रावण : किसलिए?

शंकुकर्ण : महाराज सुनिए, वानर के विरुद्ध कुमार को जाते हुए देखकर महाराज की आज्ञा के बिना ही उनके साथ पाँच सेनापति गये।

रावण : फिर, फिर?

शंकुकर्ण : उन्हें देखकर कुछ भीत की-सी चेष्टा करता हुआ वह वानर तोरण

द्वार पर चढ़ गया। वहाँ से सुवर्ण दण्ड लेकर उसने उन पाँचों को मार डाला।

रावण : फिर, फिर?

शंकुकर्ण : तब—

वर्षा के घन सम कुमार ने
थे जिनके दोनों दृग लाल,
शीघ्र बढ़ाकर अपना स्यन्दन
छोड़ा कौशल से शर-जाल।
पर प्रसन्नमुख उस वानर ने
तोड़ उसे, रथ लाँघ विशाल,
कण्ठ पकड़ कर मारा उनको
कठिन मुट्ठियों से तत्काल।

रावण : **(सरोष)** आह! कैसे मारा?

ठहरो, मैं क्रोधाग्नि के लेकर कण दो चार,
करता हूँ उस कीश को क्षण भर में ही छार।

शंकुकर्ण : महाराज शान्त हों, शान्त हों। कुमार अक्ष को निहत सुनकर क्रोध विह्वल कुमार मेघनाद उस वानर को पकड़ने वा मारने के लिए गए हैं।

रावण : तब ठीक है। जा, और आगे के समाचार ले आ।

शंकुकर्ण : जो आज्ञा महाराज की। **(जाता है)**

रावण : मेघनाद अस्त्रकुशल है—

वीरों का जय और पराजय,
रण में ही है निश्चय।
तदपि तुच्छता इन कर्मों की,
पीड़क है मेरे मर्मों की।

[शंकुकर्ण का प्रवेश]

शंकुकर्ण : महाराज की जय हो, लंकेश्वर की जय हो, भद्र मुख की जय हो।

मची भयानक रार वानर और कुमार में,
जीते किन्तु कुमार उसे बाँध कर पाश में।

रावण : इसमें क्या आश्चर्य है कि इन्द्रजित ने उस वानर को बाँध लिया? यहाँ कौन है?

[एक राक्षस का प्रवेश]

राक्षस : महाराज की जय हो।

रावण : जा, विभीषण को बुला ला।

राक्षस : जो आज्ञा महाराज की। **(जाता है)**
रावण : **(शंकुकर्ण से)** तुम भी जाकर उस वानर को ले आओ।
शंकुकर्ण : जो आज्ञा महाराज की। **(जाता है)**
रावण : **(सोचकर)** कैसे अपमान की बात है—

जिस लंका में देव और दानव सभी,
घुस सकते हैं नहीं चित्त से भी कभी;
करके मेरी आज वहीं अवमानना,
घुस आया है एक कीश गर्वितमना।

और भी—

मुझ त्रिलोक विजयी मानी ने
शम्भु सहित कैलाश उठाया,
और हँसा कर उनको उनसे
प्राप्त किया था वर मन-भाया।
पर कम्पन से कुपित शिवा से
एक शाप भी मैंने पाया—
वही शाप क्या अब फलने के
लिए यहाँ मर्कट बन आया।

[विभीषण का प्रवेश]

विभीषण : हाय! महाराज की बुद्धि कैसी विपरीत है।

मैंने कहा कि राम को सीता दीजे तात,
स्वजन-शोक-कारण नहीं सुनते मेरी बात।

(पास पहुँचकर) महाराज की जय हो।

रावण : आओ विभीषण, बैठो।
विभीषण : बैठता हूँ। **(बैठता है)**
रावण : विभीषण, तुम कुछ खिन्न से दिखाई देते हो?
विभीषण : महाराज, कहना न मानने वाले स्वामी के आश्रित भृत्य को खिन्नता होती ही है।
रावण : यह बात रहने दो। तुम भी जाओ और उस वानर को ले आओ।
विभीषण : जो आज्ञा महाराज की। **(जाता है)**

[राक्षस पकड़े हुए हनूमान को लाते हैं]

सब : अरे इधर, इधर।
हनूमान : *खल राक्षस से तनिक भी हुआ नहीं मैं भीत,*
पर रावण को देखने आया आप गृहीत।

(समीप जाकर) महाराज, आप कुशलपूर्वक तो हैं?

रावण : (अवज्ञा से) विभीषण, इसी ने वे कर्म किये हैं?

विभीषण : महाराज, उनसे भी अधिक।

रावण : तुम कैसे जानते हो?

विभीषण : महाराज स्वयं पूछें कि तुम कौन हो।

रावण : वानर, तू कौन है? और क्यों हमारे अन्तःपुर में आकर तूने गड़बड़ मचाई?

हनूमान : सुनो–

जननी जिसकी अंजनी, जनक प्रसिद्ध समीर,
रामदूत मैं हूँ वही हनूमान कपि वीर।

विभीषण : महाराज, सुना?

रावण : सुनने से क्या?

विभीषण : (हनूमान से) रामचन्द्र जी ने तुमसे क्या कहा है?

हनूमान : रामचन्द्र जी की आज्ञा सुनो।

रावण : क्या, क्या, राम की आज्ञा? मारो इस वानर को।

विभीषण : महाराज प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। दूत सब अपराधों में अवध्य होते हैं। अथवा राम के वचन सुनकर पीछे जो महाराज उचित समझें, कर सकते हैं।

रावण : रे वानर, उस मनुष्य ने क्या कहा है?

हनूमान : सुनो–

दुर्ग में, पाताल में तुम क्यों न हो,
शिव-शरण में भी न क्यों जाकर रहो,
पर शरों से बिद्ध कर संग्राम में,
भेज दूँगा मैं तुम्हें यम-धाम में।

रावण : हः हः हः–

दिव्यायुधों से देव जीते, किये दैत्य अधीन,
पुष्पक विमान कुबेर से भी लिया मैंने छीन।
विख्यात हूँ त्रैलोक्य विजयी मैं अतुल बल धाम,
संग्राम क्या मुझसे करेगा मनुज होकर राम?

हनूमान : यदि तुम ऐसे ही बलधाम थे तो छिपकर उनकी धर्मपत्नी को क्यों हर लाये?

विभीषण : हनूमान ने ठीक कहा–

छल से छिपकर राम से, रखकर भिक्षुक वेश,
हरण किया है आप ने सीता का लंकेश!

रावण : विभीषण, तुम क्यों शत्रु का पक्ष लेते हो?

विभीषण : *तात, कोप न कीजिए, हित वचन मेरे मानिए,*
धर्म पत्नी राम की दीजे, विरोध न ठानिए।
आप राक्षसराज से यह कुल विपन्न न हो कहीं,
देखना उस दुस्समय को चाहता हूँ मैं नहीं।

रावण : विभीषण भय रहने दो—
मारा जा सकता कहीं मृग से सिंह-समाज,
वा हो सकता है निहत गीदड़ से गजराज?

हनूमान : रावण, तुम हतभाग्य का राघव के प्रति ऐसा कहना ठीक ही है।
लोकैकनाथ सदैव जो श्रीराम हैं,
वीराग्रगण्य सुरेन्द्र-से बलधाम हैं।
गतपुण्य उनके प्रति कहें ऐसा कहीं,
तो हे निशाचर नीच, कुछ विस्मय नहीं।

रावण : अरे, यह मुझे नाम धरता है। मारो इसे। अथवा दूत-वध अनुचित है। शंकुकर्ण! इसकी पूँछ जलाकर छोड़ दो।

शंकुकर्ण : जो आज्ञा महाराज की।

रावण : वानर, सुन।

हनूमान : कहो।

रावण : उस मनुष्य से मेरी यह बात कह देना—
जीता सीता-हरण कर मैंने तुमको राम!
चाप-दर्प यदि है तुम्हें, दो मुझको संग्राम।

हनूमान : *भ्रष्ट हुए आराम धाम परकोटे वाली,*
नष्ट करेंगे जिसे वीर वानर बलशाली;
देखेगा तू शीघ्र स्वलंका को पछताकर,
राम-चाप-टंकार मात्र से जीता जाकर।

रावण : अरे! निकालो इस बन्दर को।

राक्षस : आ, इधर आ। **(राक्षसों के साथ हनूमान जाते हैं)**

विभीषण : महाराज प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। मैं आपके हित के लिए कुछ कहना चाहता हूँ।

रावण : वह भली बात कहो, मैं सुनता हूँ।

विभीषण : मुझे जान पड़ता है कि सब प्रकार से राक्षस कुल का विनाश उपस्थित है।

रावण : किस कारण?

विभीषण : महाराज की विपरीत बुद्धि के कारण।

रावण : मेरी विपरीत बुद्धि कैसी?

विभीषण : सीता-हरण ही उसका प्रमाण है।

रावण : सीता-हरण में क्या दोष है?

विभीषण : अधर्म और–

रावण : और क्या?

विभीषण : वही।

रावण : छिपाते क्यों हो? तुम्हें मेरे प्राणों की सौगन्ध है, सच कहो।

विभीषण : महाराज अभय दीजिए, तो कहूँ।

रावण : मैंने अभय दिया। कहो।

विभीषण : बलवान के साथ विग्रह।

रावण : (सरोष) क्या कहा, क्या कहा, बलवान के साथ विग्रह?

देकर मुझको क्रोध लेकर पक्ष विपक्ष का,
कुल कलंक निर्बोध बकता है यह धृष्ट क्या?

अरे, कोई है–

भाया है इसे विपक्ष-पक्ष,
मैं देख नहीं सकता समक्ष।
भाई न इसे मेरा विचार,
निष्कासित कर दो एक बार।

विभीषण : महाराज प्रसन्न हों, मैं स्वयं जाता हूँ।

राजन्! मैं निर्दोष, जाता हूँ आदेश से,
छोड़ काम मद रोष, जो समुचित हो, कीजिए।

(घूमकर) अब मैं–

रावण-वध के लिए प्रतिज्ञा पण कर करने वाले,
उग्रचाप शरणा-गतवत्सल सब भय हरने वाले।
कमलनयन नर देव राम का जाकर आश्रय लूँगा,
नष्ट निशाचर कुल का मैं यो पुनरुद्धार करूँगा।

[प्रस्थान]

रावण : अरे, विभीषण चला गया। मैं भी पुर रक्षा का प्रबन्ध करूँ। (जाता है)

चतुर्थ अंक

[वानर कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : हे बलाध्यक्ष! वानर सेना को सन्नद्ध होने का आदेश दो।

[बलाध्यक्ष का प्रवेश]

बलाध्यक्ष : आर्य, किसलिए यह उद्योग है?

कंचुकी : आर्य! राम की देवी सीता का समाचार हनूमान जी ले आये हैं।

बलाध्यक्ष : कैसा, कैसा?

कंचुकी : सुनो—

लंका में हैं जनक-नन्दिनी
दीना शोकाकुला विशेष,
धर्महीन दुःशील दशानन
देता है उनको अति क्लेश।
यह सुनकर शोकार्त्त राम के
कार्यार्थी हैं जो कीशेश,
महाराज ने कपिसेना को
सज जाने का दिया निदेश।

बलाध्यक्ष : यह बात है। बहुत अच्छा, जो महाराज की आज्ञा।

कंचुकी : तो मैं भी जाकर महाराज से निवेदन करूँ कि सेना सन्नद्ध है।

(दोनों का प्रस्थान)

इति विष्कम्भक

[राम-लक्ष्मण, सुग्रीव और हनूमान का प्रवेश]

राम : *दीर्घ शृंगवाले, गुहावाले, कुंजपुंजवाले*
देखे शैल मानों मेघ विस्तृत शरीर हैं,
पार की हैं नदियाँ अनेक ऐसी, पीते जहाँ
चीते, बाघ, सिंह और नागादिक नीर हैं।
फूले-फले वृक्षों से विचित्र वन पार किये,
जिनमें अनेक गर्त्त-गह्वर गम्भीर हैं,
देखो, धीर-वीर कपिराज की चमूँ के साथ
आ गये ये आज हम सागर के तीर हैं।

लक्ष्मण : यही है वरुणालय—

नील जलद-सा जिसका जल है,
फेन तरंग हार निर्मल है,
प्राप्त सहस्र नदी-भुजधारी,
सुप्त विष्णु-सा सागर भारी।

राम : अहो!

करके मैं दृढ़ धन्वा धारण,

करने चला विपक्ष-विदारण।
किन्तु शत्रु रक्षा के कारण,
सिन्धु मुझे करता है वारण।

सुग्रीव : अरे, यह आकाश में—
सजल जलद सम शोभा वाला,
पहने कनक विभूषण माला,
आता है यह राक्षस कैसे,
पड़े पतंग अनल में जैसे!

हनूमान : *हे वानर वीरो, तुम सब सावधान हो जाओ।*
शैलों, वृक्षों, नखों, मुष्टियों और पदों से
उग्र रवों से, विकट मुखों से, तीक्ष्ण रदों से—
राक्षस-वध के लिए सभी प्रस्तुत हो जाओ,
प्रभु-रक्षा में निरत सजग दृढ़ता दिखलाओ।

राम : राक्षस है? हनूमान, सम्भ्रम रहने दो।

हनूमान : जो देव की आज्ञा।

[विभीषण का प्रवेश]

विभीषण : मैं राघव के शिविर के समीप पहुँच गया। **(सोचकर)** जिसने कोई पहले दूत नहीं भेजा, जिसका आना सूचित नहीं है और जो शत्रु का सम्बन्धी है, ऐसे मुझको श्रीमान् राघव किस प्रकार स्वीकार करेंगे?
युद्ध में जिस क्रुद्ध के सम्मुख, लिये सुरगण सभी
ठहर सकता है स्वयं वह वज्रपाणि नहीं कभी,
उस दशानन का अनुज मैं शरण में हूँ आ रहा,
क्या कहोगे राम मुझसे, चित्त शंका खा रहा।

अथवा
धर्मार्थ-तत्त्वदर्शी, उदार,
शरणागत-वत्सल, निर्विकार,
वे विभु विशुद्ध मन से भदीय,
हो सकते हैं क्या शंकनीय?

(नीचे की ओर देखकर) यही भगवान् राम का सेना शिविर है। तो मैं उतरकर और यहाँ रुककर उनको अपने आने की सूचना दूँ। **(उतरता है)**

हनूमान : अरे, क्या आप विभीषण हैं?

विभीषण : आहा! हनूमान हैं। पवनकुमार, प्रभु को मेरे आने की सूचना दो।

हनूमान : बहुत अच्छा! **(जाकर)**

देव की जय हो!

देव आपके हेतु ही निज अग्रज से त्यक्त,
हुआ आपके शरण है सुकृति विभीषण भक्त।

राम : क्या विभीषण मेरे शरण में आये हैं? वत्स लक्ष्मण, जाओ। सत्कार-पूर्वक उन्हें ले आओ।

लक्ष्मण : जो आज्ञा।

राम : सुग्रीव, जान पड़ता है, तुम कुछ कहना चाहते हो?

सुग्रीव : देव, राक्षस मायावी और छल से युद्ध करने वाले होते हैं। अतएव परीक्षा करके ही विभीषण को बुलाना उचित होगा।

हनूमान : ऐसी बात नहीं है—

देव, आप में भक्तिभाव मेरा है जैसा,
मुझे ज्ञात है कि है विभीषण का भी वैसा।
लंका में ही उन्हें मित्र मैं लेख चुका हूँ,
करते हुए विवाद बन्धु से देख चुका हूँ।

राम : ऐसा है तो सत्कारपूर्वक उन्हें ले आओ।

लक्ष्मण : जो आर्य की आज्ञा। **(घूमकर)**
अहा विभीषण हैं! विभीषण, आप कुशलपूर्वक तो हैं?

विभीषण : अहा! कुमार लक्ष्मण हैं? कुमार, आज मैं कुशलपूर्वक हूँ।

लक्ष्मण : आइए, आर्य के समीप चलिए।

विभीषण : अच्छी बात है। **(दोनों आते हैं)**

लक्ष्मण : आर्य की जय हो।

विभीषण : देव, प्रसन्न हों, देव की जय हो।

राम : अहा! विभीषण हैं। विभीषण, तुम कुशलपूर्वक हो।

विभीषण : देव, आपके दर्शन से—

आश्रित-वत्सल आपके दर्शन से निष्पाप,
शरणागत हो आज मैं सकुशल हूँ गत ताप।

राम : आज से तुम मेरे कहने से लंकेश्वर हुए।

विभीषण : अनुगृहीत हुआ।

राम : विभीषण, तुम्हारे आने से मेरा कार्य सिद्ध हो गया। समुद्र को पार करने का कोई निश्चित उपाय प्रतीत नहीं होता?

विभीषण : देव, इसमें कठिनाई क्या है? यदि समुद्र मार्ग न दे तो आप उस पर सहज ही दिव्यास्त्र का प्रयोग कर सकते हैं।

राम : साधु विभीषण, साधु! मैं यही करता हूँ। **(सहसा सरोष उठकर)**

उदधि न यदि पथ देगा मुझको तो मैं होकर क्रुद्ध,
कर दूँगा अपने बाणों से उसका वेग निरुद्ध।

जल सह पंक जला डालूँगा, होंगे जलचर नष्ट,
अन्तःस्तल तक बिद्ध करूँगा देकर दारुण कष्ट।

[वरुण का प्रवेश]

वरुण : **(ससम्भ्रम)**
देव देव अति दया परायण
श्रीनारायण सर्व समर्थ,
प्रकट हुए हैं मनुज रूप में
पुण्य कार्य करने के अर्थ।
होकर मैं उनका अपराधी
सुररिपुवाधी शर से भीत,
क्षमा माँगता हुआ उन्हीं का
शरणागत हूँ विनय विनीत।
(देखकर) आहा! यही हैं भगवान्।
नर रूपाश्रित पूत शंख चक्रधारी स्वभू,
होकर कारण भूत कार्यार्थी हैं ये बने!
त्रैलोक्य के कारण भगवान् नारायण को नमस्कार है।

लक्ष्मण : अहा! ये कौन हैं?
शोभन अरुण विलोचन वाले
मणि मय मंजु मुकुट धारी,
मत्त मंतगज-लीला-कारी
नील कमल-शोभा-हारी।
अवनत करते हुए तेज से
जीव लोक को चौंका कर,
जल में से ये कौन उठे हैं।
विस्मय सहित सौम्य सुन्दर।

विभीषण : देव, निश्चय ये भगवान् वरुण हैं।

राम : क्या वरुण हैं? भगवन् वरुण, नमस्ते।

वरुण : देवेश मुझे नमस्कार करना उचित नहीं। अथवा—
पुरुषोत्तम, क्यों आपने किया क्रोध दुर्द्धर्ष?
मेरा जो कर्त्तव्य हो कहिए, करूँ सहर्ष।

राम : आप मुझे लंका जाने के लिए मार्ग दें।

वरुण : यह है मार्ग, आप पधारें। **(अन्तर्धान होते हैं)**

राम : क्या भगवान् वरुण अन्तर्धान हो गये? विभीषण, देखो, देखो, उनके प्रसाद से समुद्र निष्कम्प तरंगों से स्तब्ध-सा हो गया है।

विभीषण : देव, इस समय समुद्र द्विधा हुआ-सा दिखाई पड़ता है।

राम : हनूमान कहाँ हैं?

हनूमान : देव की जय हो।

राम : हनूमान, आगे तुम चलो।

हनूमान : जो आज्ञा। **(सब घूमते हैं)**

राम : **(देखकर विस्मय से)** वत्स लक्ष्मण, वयस्य विभीषण, महाराज सुग्रीव, सखे हनूमान, तुम सब सागर की विचित्रता देखो—

कहीं फेन फैलाने वाला,
कहीं मीन-संकुल कल है,
कहीं शंख परिपूर्ण, कहीं यह
नील कमल-सा श्यामल है।
कहीं ऊर्मिमाला वाला है,
कहीं नक्र भय कारी है,
भीमावर्त विघूर्ण कहीं है,
कहीं अचल जल धारी है।

भगवान् वरुण के प्रसाद से हम लोगों ने सागर पार कर लिया।

हनूमान : देव, यह लंका है।

राम : **(कुछ समय देखकर)** खेद है, राक्षसपुरी की शोभा शीघ्र नष्ट हो जाएगी।

मेरे विशिख वर-वायु से हो जाएगी जो भंग,
उच्छिन्न कर देंगे जिसे सुग्रीव-सैन्य-तरंग;
दशकण्ठ-नाविक दोष से लंकापुरी हो भग्न।
होने चली दुर्भाग्यवश अब सिन्धुजल में मग्न।

सुग्रीव, इस सुबेल पर्वत पर सेना का शिविर बनाओ। **(बैठते हैं)**

सुग्रीव : जो आज्ञा। **(नील का प्रवेश)**

नील : जो महाराज की आज्ञा। **(बाहर जाकर और आकर)** देव की जय हो, क्रम पूर्वक सैनिकों को ठहराते समय वीरों की जाँच पड़ताल करते हुए, जिनका पुस्तक में उल्लेख नहीं मिलता, ऐसे न जाने कौन दो वनौकस पकड़े गये हैं। उनके प्रति क्या कर्त्तव्य है, इसे हम लोग नहीं जानते। देव, जो उचित समझें, आज्ञा दें?

राम : शीघ्र उन दोनों को यहाँ उपस्थित करो।

[नील और वानरों से पकड़े हुए, हाथ बाँधे हुए वानर-वेशी शुकसारण आते हैं]

वानर : अरे, बताओ तुम कौन हो?

दोनों : स्वामिन्, हम दोनों आर्य कुमुद के सेवक हैं।

वानर : स्वामिन्, ये अपने को आर्य कुमुद के सेवक बताते हैं।

विभीषण : **(भली भाँति देखकर)**

न तो स्व सैनिक हैं, न कपि, ये राक्षस कुल जात,
रावण के भेजे हुए शुक-सारण विख्यात।

दोनों : **(स्वगत)** हाय! कुमार ने हमें जान लिया। **(प्रकट)** आर्य, राक्षसराज की विपरीत बुद्धि से राक्षस कुल को विपन्न देखकर हम दोनों और कहीं स्थान पाने के विचार से वानर के रूप में आपके आश्रय में आये हैं?

राम : सखे विभीषण, तुम्हारा क्या मत है?

विभीषण : देव—

रावण के प्रिय सचिव हैं ये दोनों रघुनाथ!
प्राण जायँ, पर तज नहीं सकते उसका साथ।

इसलिए यथोचित दण्ड की आज्ञा दीजिए।

राम : विभीषण, ऐसा न कहो—

देने से इनको दण्ड कड़ा।
होगा न हमें कुछ लाभ बड़ा।
रावण की भी कुछ हानि नहीं,
अतएव छोड़ दो इन्हें यहीं।

लक्ष्मण : छोड़ने से पहले इन्हें सेना में घुमाकर सबको पहचनवा दिया जाये।

राम : लक्ष्मण ने ठीक कहा। नील, ऐसा ही करो।

नील : जो देव की आज्ञा।

राम : अथवा, तुम दोनों सुनो—

दोनों : हम उपस्थित हैं।

राम : मेरी ओर से उस राक्षसेन्द्र से कह देना—

करके पत्नी-हरण हमारा अहो! अकारण,
मोल लिया है स्वयं तुम्हीं ने यह भीषण रण।
दर्शनार्थ तुम हमें यहाँ आया मत जानो,
महायुद्ध के अतिथि हमें अपने तुम मानो।

दोनों : जो आज्ञा **(जाते हैं)**

राम : विभीषण, तब तक हम भी अन्तरंग सेना की परीक्षा करें।

विभीषण : जो देव की आज्ञा।

राम : **(घूमकर देखते हुए)** अहा!

रवि अस्ताचल के भव्य भाल पर आया,
सन्ध्यारंजित है शान्तकिरण मन भाया।
ज्यों रक्त-पटावृत द्विरद-कुम्भ सुन्दर है,

रचना सुवर्ण की पुलकमयी उस पर है!

[सब जाते हैं]

पंचम अंक

[राक्षस कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : प्रबाल के तोरण-द्वार पर कौन है?

[दूसरे राक्षस का प्रवेश]

राक्षस : आर्य, मैं हूँ। क्या करना होगा?

कंचुकी : जाओ, महाराज की आज्ञा है, विद्युज्जिह्व को बुला लाओ।

राक्षस : बहुत अच्छा। (जाता है)

कंचुकी : अहो! अभ्युदय का नाश होने पर, राक्षस कुल के विपत्ति में पड़ने पर, वीरों के मरने पर और स्वयं अपने प्राणों का सन्देह उपस्थित होने पर भी महाराज की बुद्धि शुद्ध नहीं हो रही है।

तरलित तरंगों से हुआ
उच्छिन्न जिसका तीर है,
बहुत नक्र-मकरों से भयंकर
नील जिसका नीर है,
ऐसे जलधि का सहज ही में
पार करना जान कर;
करते नहीं हैं देव उनको
शान्त दार प्रदान कर।

और भी—

मरे प्रहस्तादिक सेनानी,
वीर कुम्भकर्णादिक मानी।
यही नहीं, राघव के द्वारा
इन्द्रजीत भी रण में हारा।

इतना होने पर भी—

काम-वश अन्याय में रत सर्वथा,
मन्त्रियों की हैं नहीं सुनते कथा।
वीर मानी विग्रही लंकापती,
राम को देते नहीं सीता सती।

[विद्युज्जिह्व का प्रवेश]

विद्युज्जिह्व : आर्य सकुशल हैं?

कंचुकी : विद्युज्जिह्व जाओ, महाराज के आदेश से राम-लक्ष्मण के सिरों की प्रतिमाएँ ले आओ।

विद्युज्जिह्व : जो आज्ञा महाराज की। **(जाता है)**

कंचुकी : मैं भी महाराज के समीप जाऊँ **(प्रस्थान)**

इति विषकम्भक

[राक्षसियों से घिरी सीता दिखाई देती हैं]

सीता : आर्यपुत्र के आगमन से मन आह्लादित है, परन्तु लक्षण अच्छे नहीं दिखाई देते। फिर भी हृदय आशान्वित है। देवता शान्ति करें।

[रावण का प्रवेश]

यह जो मेरा भवन छोड़कर जाने वाली,
लिये हाथ में नील कमल नव शोभा शाली।
मेरे वश में उसी समय यह नारी आयी,
जब कुबेर को जीत सुलंका मैंने पायी।

ठहर भद्रे, ठहर! जाना नहीं। क्या कहती है? तुमको छोड़कर राम के पास जाऊँगी। अच्छा, जा!

बल से तुझे मैंने किया था
स्ववश धनपति-धाम में,
फिर भी करूँगा राम का
संहार कर संग्राम में।

इससे क्या, तब तक मैं सीता को लुभाऊँगा! **(मदन-बाधा प्रकट करता हुआ)**

अहो! कामदेव की कैसी अतुल बलवत्ता है।

सीता दर्शन कर मेरी
चली गयी सुख निशि-निद्रा,
उस तन्वी के मिलन बिना यह
काया हुई हरिद्रा!
कुसुमायुध रमणीय वस्तु में
सन्तापित करता है।
यह त्रैलोक्य विजेता रावण
अब जीता-मरता है!

(सीता के समीप जाकर)

सीते, कमलदल-लोचनी,
मेरे हृदय की स्वामिनी,

अपने हृदय को तू हटा
उस मनुज से हे भामिनी!
लक्ष्मण सहित उस राम को
जो रम रहा हृद्धाम में,
भू पर पतित मेरे शरों से
देखना संग्राम में।

सीता : रावण कैसा मूर्ख है जो मन्दराचल को हाथ पर उठाना चाहता है।

[राक्षस का प्रवेश]

राक्षस : महाराज की जय हो।
उन मनुजों के शीश रण में काट कुमार ने,
भेजे हैं रजनीश, सुख देने को आपको।

रावण : सीते, देख-देख उन मनुष्यों के सिर!

सीता : हा आर्यपुत्र! **(मूर्च्छित होकर गिरती हैं)**

रावण : *विशालाक्षि सीते, भय छोड़,*
इस गतायु नर से मुँह मोड़।
अति अनुपम वैभव से व्याप्त,
कर तू महती श्री को प्राप्त।

सीता : **(सचेत होकर)** हा आर्यपुत्र, परिमल पूर्ण नवीन कमल के समान तुम्हारे मुख पर निमीलित नेत्र देखती हुई मैं मन्दभागिनी कैसी कठोर हूँ कि जी रही हूँ। कहीं यह अलीक न हो। भद्र, जिस खड्ग ने आर्यपुत्र की यह दशा की है उससे मुझे भी मार।

रावण : *इन्द्रजीत से युद्ध में भ्राता लक्ष्मण युक्त,*
उसके मरने पर तुझे कौन करेगा मुक्त?

[नेपथ्य में]

राम, राम।

सीता : चिरंजीव।

[राक्षस का प्रवेश]

राक्षस : (ससम्भ्रम) राम, राम।

रावण : राम ने क्या किया?

राक्षस : महाराज, प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। भयानक वृत्तान्त निवेदन करने की त्वरा में मैं घबरा गया।

रावण : बोल, बोल, उस तपस्वी मनुष्य ने क्या किया?

राक्षस : महाराज सुनिए—
अति बली लक्ष्मण सहित उस राम ने—

आपका अपमान करके सामने,
छोड़ रण में सहज करुणाचार को,
मार डाला हाय! राजकुमार को।

रावण : आह दुरात्मन, समर-सन्त्रस्त।
इन्द्रादिक सुर-असुर भी जीत चुका जो वीर,
मर सकता है मनुज से रण में वह रणधीर?

राक्षस : क्षमा करें महाराज। महाराज के चरणों में कुमार के विषय में झूठी बात मैं कैसे कहूँगा?

रावण : हा वत्स मेघनाद. **(मूर्च्छित होकर गिरता है)**

राक्षस : महाराज सावधान हों, सावधान हों।

रावण : **(सचेत होकर)**
हा वत्स, इन्द्रविजयी भव-कम्पकारी!
हा वत्स, आयुध-धनी अरि-दर्प-हारी।
हा वत्स, वीर गुरुभक्त गया कहाँ तू?
हा वत्स, लौट टुक देख मुझे यहाँ तू।

[फिर मूर्च्छित होता है]

राक्षस : हा कष्ट! त्रैलोक्य विजयी लंकेश्वर को निर्दय विधाता ने इस अवस्था में पहुँचा दिया है। महाराज, सावधान हों, सावधान हों।

रावण : **(सावधान होकर)** इस समय अनर्थभूता इस सीता से तथा त्रैलोक्य से लब्ध हुई चंचला लक्ष्मी से भी क्या प्रयोजन है? अरे हत्यारे काल, क्या तू अब भी मेरे भय से विह्वल है?
पुत्र इन्द्रजित के बिना पाकर पीड़ा घोर,
जीता है अब भी अहो! दशमुख महा कठोर

[शोक सन्ताप से गिर पड़ता है]

राक्षस : हा! हे रजनीचर वीरो, महाराज की इस दशा में भीतर की ड्योढ़ियों पर रहने वाले तुम सब सावधान रहो।

[नेपथ्य में]

हे रजनीचर वीरो, युद्ध में प्रहस्त, निकुम्भ, कुम्भकर्ण और इन्द्रजित आदि के निहत हो जाने से भयभीत होकर युद्ध से भागना तुम्हारे लिए अत्यन्त अनुचित है। तुम युद्ध में देवों को परास्त करने वाले हो। विशेष कर विश्वविजयी विशाल बाहुओं वाले लंकेश्वर के रहते हुए तुम्हें किसका डर है?

रावण : **(सुनकर क्रोध से)** क्या बात है? जा, सब वृत्तान्त जानकर आ।

राक्षस : जो महाराज की आज्ञा। **(जाकर और आकर)**

महाराज की जय हो। ये राम—

गर्व से तुमको न कुछ भी मान कर,
मार कर घननाद को शर तान कर;
कपि चमूमुत हर्ष विकसित दृग किये,
आ रहे लंका जलाने के लिये।

रावण : **(सहसा उठकर क्रोध से)** कहाँ है, कहाँ है? **(तलवार तानकर)**

ठहर ठहर रे क्षुद्र कुतापस, फल पावेगा,
आकर मेरे हाथ कहाँ अब तू जावेगा?
बचा सकेंगे नहीं तुझे सुर भी अब मुझसे,
सबका बदला आज चुका लूँगा मैं तुझसे।
ऐरावत गज के कुम्भ का
भेदक यह खर खड्ग वर,
क्रोधोपहार मेरा तुझे
अभी करेगा काटकर।

राक्षस : महाराज, अति साहस रहने दीजिए।

सीता : अत्यन्त अनुचित और अनिष्टाचरण करने वाले रावण का मरण अब निकट है।

रावण : इसी के कारण मेरे बहुत से भाई, पुत्र और मित्र मारे गये हैं। शत्रुओं में लगे हुए इसके हृदय को विदीर्ण करके और इसकी आँतों की माला से अलंकृत होकर मैं सम्पूर्ण वानरों के साथ वज्र के से खड्ग से दोनों मनुष्यों को मारूँ।

राक्षस : महाराज शान्त हों, शान्त हों। इस समय शत्रु के बल के प्रति अहंकार करने से विरत हूजिए। स्त्री-वध उचित नहीं।

रावण : तो रथ ला।

राक्षस : जो आज्ञा **(जाकर और आकर)** रथ यह उपस्थित है।

रावण : **(रथ पर चढ़कर)**

सीते, मेरे चाप से छूटेंगे अब बाण,
देखेगी तू सुर सहित राघव को निष्प्राण। **(सपरिकर जाता है)**

सीता : हे देवगण, यदि मैं अपने कुल के शील के अनुसार आर्यपुत्र की अनुगामिनी हूँ तो उनकी विजय हो। **(जाती हैं)**

षष्ठ अंक

[तीन विद्याधरों का प्रवेश]

सब : ये हैं हम लोग।

पहला : *इक्ष्वाकु-कुल की विपुल निर्मल कीर्त्ति के जो केतु हैं,*

दूसरा : *उद्योग शील, सुशील जो रावण-निधन के हेतु हैं।*

तीसरा : *उन राम का रण देखने को अति कुतूहल-वश अभी,*

सब : *आये हिमालय शैल से हैं वेग पूर्वक हम सभी।*

पहला : चित्ररथ, ये देव, देवर्षि, सिद्ध और विद्याधर आकाश में स्थित हैं। अतएव हम लोग उनसे हट कर स्वच्छन्द एकान्त में स्थित होकर राम-रावण का विशेष युद्ध देखें।

दोनों : यही ठीक है। (वैसा ही करते हैं)

पहला : यह भूमि देखने में कैसी भयंकर है–

कपिवरों की वीचियाँ हैं, खंग जिसमें नक्र हैं,
राक्षसों का रुधिर जल है, भँवर चंचल चक्र हैं,
रामचन्द्र-शरांशु से है वेग जिसका बढ़ गया,
दीख पड़ता है जलधि-सा विग्रहस्थल यह नया।

दूसरा : ऐसा ही है–

शैल-पादपों के प्रहार से
फूट गये हैं जिनके भाल,
कण्ठ दबाकर कपियूथों ने
जिनके लोचन दिये निकाल
मुष्टि और दन्तों से ताड़ित
वज्र विदारित शैल-समान,
पड़े हुए हैं समर-भूमि में
ये रजनीचर सैन्य प्रधान।

तीसरा : इधर भी देखो–

कपिसैन्य मारने को ये आ रहे निशाचर,
मुँह वेग-वश खुले हैं, दृग लाल हैं भयंकर।
खग खंग ये लिये हैं, सित दाँत हैं निकाले,
मानों घुमड़ रहे हैं सब ओर मेघ काले।

पहला : *ये राक्षस गण बाण छोड़ते हैं कीशों पर,*

दूसरा : *वे भी उन पर गिरा रहे हैं भीषण भूधर।*

तीसरा : *मार रहे हैं जानु और मुट्ठियाँ कठिनतर,*

सब : *क्या ही विस्मय पूर्ण युद्ध हो रहा भयंकर।*

पहला : तनिक रावण की ओर तो देखो—

स्वर्ण दण्ड की शक्ति घुमाता हुआ भयावह,
और बढ़ाता हुआ शीघ्र रथ उग्रदंष्ट्र यह,
उदय शिखर पर पूर्ण बिम्बधर सुधाकरोपम,
रामचन्द्र के लिए हो रहा क्रुद्ध राहु-सम।

दूसरा : अब राम को भी देखो—

बायें कर में लिये हुए कोदण्ड मनोहर,
और जोड़ते हुए अन्य कर से शर खर तर।
स्यन्दनस्थ अरि ओर देखते खड़े भूमि पर,
क्रौंचाचल के लिए षडानन-से अति सुन्दर।

तीसरा : *कालान्तक सम शत्रु ने छोड़ी शक्ति अचूक।*
किन्तु धनुर्धर राम ने कर डाली दो टूक।

पहला : *नष्ट देखकर शक्ति निज करके दुर्द्धर दृष्टि,*
रावण ने आरम्भ की राघव पर शर-वृष्टि।

दूसरा : अहा! राम की कैसी शोभा है—

रावण-घन शर वृष्टि यह करता है अविराम,
जल-धारा में शक्र-सम शोभित हैं श्रीराम।

तीसरा : यह देखो, यह—

युद्ध में हाटक खचित लेकर कठिन कोदण्ड,
चण्ड बाण विपक्ष के करते हुए बहु खण्ड,
जा रहे हैं राम ये रथ गत दशानन ओर,
उग्रदंष्ट्र मृगेन्द्र गज की ओर मानो घोर।

सब : अरे, यह देश प्रभा से प्रदीप्त हो उठा। क्या बात है?

प्रथम : अहा! असमान युद्ध की चिन्ता से इन्द्र ने मातलि के साथ अपना रथ भेजा है।

दूसरा : यह लो, मातलि के कहने से राम उस पर बैठ गये।

तीसरा : क्या कहना है—

दैत्यों का नाशक है जो रथ,
जिस पर है देवों को गर्व,
राजे उसमें राम, त्रिपुर-वध,
समय विराजे थे ज्यों शर्व।

पहला : अहो! अब महायुद्ध होने लगा।

कटे शरों से हैं जिसमें शर,

देख राम-रावण का संगर,
कीश और राक्षस सैनिक वर,
खड़े रह गये हैं रण तज कर।

दूसरा : ओहो!

छोड़ते हैं बाण दोनों ही बड़े,
सम रथों में पैंतरे जिनके पड़े।
व्योम में दो भानु मानों आ रहे,
तीक्ष्ण किरणों से सभी कुछ छा रहे।

तीसरा : देखो, देखो, रावण को—

भीम वेग वाले बाणों से,
अश्व गिराने वाले को,
केतु काटने वाले को, खर
दृष्टि फिराने वाले को,
घन गर्जन करने वाले को,
शर बरसाने वाले को,
हँसने वाले को, राघव को
भय दरसाने वाले को।

पहला : ये राम—

स्थिर पैंतरे के बदलने से
वामिनी कृत तनु किये,
आश्वस्त-से, लोहित नयन
मध्याह्न रवि की छवि लिये,
रथ मध्य मातलि के बताये
स्थान पर आसीन हो,
पैतामहास्त्र चला रहे हैं
लक्ष्य में लवलीन हो।

दूसरा : यह अस्त्र—

धर रघुवर-कर-बल-वेग मुक्त,
रवि-वह्नि-सदृश खर धार युक्त,
रावण-वध करके सप्रताप,
आता है राम-समीप आप।

सब : यह रावण गिर गया—

रावण को हत देख सुर बरसाते हैं फूल,
बजती हैं दिव-भेरियाँ करके ध्वनि अनुकूल।

द्वितीय : हुआ, देवकार्य सिद्ध हो गया।

प्रथम : तो आओ, हम लोग भी राम को बधाई दें।

सब : बहुत ठीक, बहुत अच्छा।

इति विष्कम्भक

[राम का प्रवेश]

राम : यह मैं—

बाण-वेग से व्याकुल करके
बल से रिपु रावण को मार,
सुमति विभीषण को लंका का
देकर राज्य और अधिकार,
असामान्य नरचरित-पूर्ण यह,
तरकर प्रण का पारावार
अब सानुज लंका जाता हूँ
करने सीता का उद्धार।

[लक्ष्मण का प्रवेश]

लक्ष्मण : आर्य की जय हो। ये आर्या आर्य के समीप आ रही हैं।

राम : वत्स लक्ष्मण,

हुआ शत्रु का नाश, हृत सीता को देखकर,
मेरा क्रोध-विकाश फिर अधीर न करे मुझे।

लक्ष्मण : जो आज्ञा। (जाते हैं)

[विभीषण का प्रवेश]

विभीषण : देव की जय हो।

हे देव, धर्मपत्नी ये प्राप्त हैं तुम्हारी,
भुजवीर्य से तुम्हारे छूटी विपत्ति सारी।
हो मुक्त दैत्य-कुल से लक्ष्मी समान आईं,
प्रभु के प्रसाद से हैं फिर पूर्व-सी सुहाईं।

राम : विभीषण, सीता वहीं रहें। राक्षस के स्पर्श से इक्ष्वाकु-कुल की बहू दूषित हो चुकी है। ऐसी स्थिति में महाराज दशरथ के पुत्र होकर हमें उन्हें देखना उचित नहीं और क्या कहूँ—

करता है जो पुरुष को अघ विषयों से दूर,
वही मित्र है अन्यथा है वह वैरी क्रूर।

विभीषण : देव, प्रसन्न हों, प्रसन्न हों।

राम : मुझे और दुःखित करना तुम्हें उचित नहीं है।

[लक्ष्मण का प्रवेश]

आर्य की जय हो। आर्य का अभिप्राय सुनकर आर्या अग्नि-प्रवेश

करने के लिए आज्ञा चाहती हैं।

राम : लक्ष्मण, वे पतिव्रता जो कहें उसी का प्रबन्ध करो।

लक्ष्मण : जो आज्ञा आर्य की। **(घूमकर)**

हाय! कैसा कष्ट है?

गुनकर सीता-शुद्धि, सुनकर आज्ञा आर्य की,
अस्थिर मेरी बुद्धि पड़कर धर्म-स्नेह में।

कौन है?

[हनूमान का प्रवेश]

हनूमान : कुमार की जय हो।

लक्ष्मण : हनूमान, आर्य की यही आज्ञा है, यदि तुम पूरी कर सको।

हनूमान : कुमार का इस सम्बन्ध में क्या विचार है?

लक्ष्मण : हमें विचार करने का क्या अधिकार है? आर्य की आज्ञा के पालन करने का ही अधिकार है। तो चलें।

हनूमान : कुमार की जो आज्ञा। **(दोनों जाते हैं)**

[लक्ष्मण का पुनः प्रवेश]

लक्ष्मण : आर्य, प्रसन्न हों। आश्चर्य है, आश्चर्य है! ये आर्या—

विकसित कमल माला सदृश
निज जीवनाशा छोड़कर,
करके वृथा सब आपका श्रम,
प्रेम-बन्धन तोड़कर
करती प्रवेश कृशानु में हैं
हृदय की लेकर व्यथा,
होती प्रविष्ट सरोज-वन में
राज-हंसी है यथा।

राम : आश्चर्य है, आश्चर्य है। लक्ष्मण! रोको, रोको।

लक्ष्मण : आर्य की जो आज्ञा।

[हनूमान का प्रवेश]

हूनमान : देव की जय हो।

पाकर ज्यों कृशानु की ज्वाला,
द्युति पाती है कांचनमाला;
त्यों ही पावक से ये सीता,
सिद्ध हुई निर्दोष पुनीता।

राम : **(सविस्मय) क्या? क्या?**

सुग्रीव : अहा! कैसा आश्चर्य है!

जीवित सीता को लिये ज्वलित वह्नि से रम्य,

प्रकट हुआ है कौन यह तेजः-पुंज प्रणम्य?

लक्ष्मण : ये आर्या को आगे करके भगवान् विभावसु आ रहे हैं।

राम : ओहो! ये भगवान् हुताशन हैं। तो इन्हें अभ्युत्थान दूँ। **(सब खड़े होते हैं)**

अग्नि : ये हैं भगवान् नारायण। देव की जय हो।

राम : भगवन्, नमस्ते।

अग्नि : देवेश, मैं आपके नमस्कार योग्य नहीं हूँ।

पाप-विहीना परम पवित्रा,
विश्व-वन्दिता विमल चरित्रा,
ये सीता हैं, इनको लीजे,
पुरुषोत्तम, अंगीकृत कीजे।

और भी—

इन सीता को भगवती लक्ष्मी जानें आप,
मनुज-देह में आपको प्राप्त हुईं निष्पाप।

राम : मैं अनुगृहीत हुआ—

साक्षी सीता-शुद्धि का है मेरा हृद्धाम,
पबके प्रत्यय के लिए किया गया यह काम।

[नेपथ्य में दिव्य गन्धर्वों का गान]

विश्वनाथ, विधि हृदय तुम्हारा, रुद्र रोष है भारी,
चन्द्र-सूर्य हैं नेत्र तुम्हारे, वाणी जीभ तुम्हारी।
ब्रह्मा-वासव सहित तुम्हीं ने रची सृष्टि यह सारी,
लीजे इन लक्ष्मी सीता को विभु, वैकुण्ठ-बिहारी।

[पुनः दूसरे गाते हैं]

जल से भूमि वराह रूप में तुमने खींच उवारी,
तीनों लोक तीन चरणों से नाप लिये भयहारी।
देवी और तुम्हीं ने रखकर स्ववश रूप सुखकारी;
रावण का वध किया, सुरों की विषम विपत्ति निवारी।

अग्नि : भद्रमुख, ये देव, देवर्षि, सिद्ध और विद्याधर अपने विमानों से आपकी अभिवृद्धि मनाते हैं।

राम : मैं अनुगृहीत हूँ।

अग्नि : भद्रमुख, अभिषेकार्थ इधर आइए।

राम : जैसी आपकी आज्ञा। **(दोनों का प्रस्थान)**

[नेपथ्य में]

देव की जय हो, स्वामी की जय हो। भद्रमुख की जय हो, महाराज की जय हो। रावणान्तक की जय हो, आयुष्मान् की जय हो।

विभीषण : ये महाराज–

पूर्ण प्रतिज्ञा-सिन्धु पारकर क्षेम से,
शुचि सीता को पुनः प्राप्त कर प्रेम से,
अमरों से अभिषिक्त हुए ये आ रहे,
नभ में निर्मल चन्द्र-तुल्य छवि पा रहे।

लक्ष्मण : अद्भुत है आर्य का वैष्णव तेज!

यम, वरुण, अलकेश, वासव आदि सुरगण युक्त,
तात दशरथ-कथन से अभिषिक्त हो प्रण-मुक्त,
आज देवपतित्व पाये देवराज समान,
देव शोभित हो रहे हैं दिव्यरूप-निधान।

[सीता समेत अभिषिक्त राम का प्रवेश]

राम : वत्स लक्ष्मण,

था दैवगति वाले पिता ने
प्रथम भद्रासन दिया,
अम्बा कथन से फिर मुझे
अभिषेक से वंचित किया।

अब फिर उन्होंने आप आकर
सुरसहित उत्कर्ष से,
प्राप्ताभिषेक किया मुझे
अन्तःकरण के हर्ष से।

अग्नि : भद्रमुख, इन्द्र के निर्देश से भरत-शत्रुघ्न और प्रजा-जन आपके समीप उपस्थित हैं।

राम : भगवन् मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

अग्नि : ये महेन्द्रादि देवता आपकी अभिवृद्धि करते हैं।

राम : मैं अनुगृहीत हूँ।

अग्नि : भद्रमुख, तुम्हारा और क्या प्रिय कार्य करूँ?

राम : भगवन् आप प्रसन्न हैं तो मैं और क्या चाहूँ?

[भरत वाक्य]

रज से रहित सुखी हो गो-गण,
रहे सदा पर-चक्र शान्त,
जगती का शासक हो अपना
राज-सिंह विक्रान्त-कान्त।

[सब जाते हैं]

अविमारक

अविमारक

पात्र

पुरुष

सूत्रधार : नाटक का संचालक।
राजा : कुन्तिभोज, कुरंगी का पिता।
कौंजायन : कुन्तिभोज का मन्त्री।
भूतिक : कुन्तिभोज का मन्त्री।
शौवीरराज : अविमारक का पिता।
अविमारक : शौवीर राजकुमार (नायक)
नारद : देवर्षि
विद्याधर (मेघनाद) : जिसने अविमारक को अँगूठी दी थी।
भट (जयसेन) : कुन्तिभोज का द्वारपाल।

स्त्रियाँ

नटी : सूत्रधार की स्त्री।
महारानी : कुन्तिभोज की महिषी।
कुरंगी : कुन्तिभोज की पुत्री (नायिका)।
सुदर्शना : काशिराज की महिषी, अविमारक की माँ।
धात्री (जयदा) : कुरंगी की धाय।
प्रतिहारी : कुन्तिभोज की द्वारपालिका।
नलिनिका : कुरंगी की सखी।
मागधिका : कुरंगी की सखी।
विलासिनी : कुरंगी की सखी।
चेटी (चन्द्रिका) : कुरंगी की दासी।
वसुमित्रा : महारानी की दासी।
हरिणिका : महारानी की दासी।
सौदामनी : विद्याधर की पत्नी।

श्रीगणेशाय नमः

अविमारक

प्रथम अंक

[नान्दी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश]

सूत्रधार : *जिसे जलधि से काढ़ जिन्होंने*
अपनी एक डाढ़ पर थापा,
रण में दुष्ट दैत्य-वध करके
जिसे एक ही पद से नापा।
सदय प्रेम से पाला, वश में
रक्खा निज भुजबल के द्वारा,
तुम्हें प्रदान करें वे श्रीहरि
भोग-हेतु भू-मण्डल सारा।

(नेपथ्य की ओर देखकर)

आर्ये, आओ न!

[नटी का प्रवेश]

नटी : आर्य, मैं आ गयी।

सूत्रधार : तुम्हारे मुख की कौतूहल भरी मुस्कान से जान पड़ता है, तुम कुछ कहना चाहती हो।

नटी : यह जानने में आश्चर्य क्या है? आर्य भावज्ञ जो हैं।

सूत्रधार : तो जो कहना हो, कह डालो।

नटी : मैं आपके साथ उद्यान जाना चाहती हूँ। वहाँ स्त्रियों के करने योग्य कुछ नियम-सम्बन्धी कार्य करना है।

[नेपथ्य में]

भूतिक, कुरंगी की रक्षा के लिए तुम भी उद्यान जाओ। अंजनगिरि

नामक हाथी मद की अवस्था में आ गया है।

सूत्रधार : आर्ये, सुना। राजकुमारी भी उद्यान गयी हैं। इस समय उद्यान चारों ओर रक्षकों से घिरा है। राजकुमारी के लौटने पर ही हम लोग स्वतन्त्रतापूर्वक वहाँ जाएँगे।

नटी : आर्य की जैसी आज्ञा। **(दोनों का प्रस्थान)**

इति स्थापना

[परिजन परिवृत राजा का प्रवेश]

राजा : *यज्ञ सुसम्पन्न तथा ब्राह्मण प्रसन्न हैं,*
और नरपाल मद भूल भयाच्छन्न हैं।
तो भी क्या सुख की अभी साँसें मुझे आती हैं,
कन्या के पिता को बहु चिन्ताएँ सताती हैं।
केतुमती, जा, देवी को बुला ला।

प्रतिहारी : जो आज्ञा महाराज! **(प्रस्थान)**

[परिजनों से परिवृत रानी का प्रवेश]

महारानी : महाराज की जय हो।

राजा : देवि, नित्य प्रसन्न रहने वाला तुम्हारा मुख आज और भी प्रसन्न दिखाई देता है। इस विशेष आनन्द का क्या कारण है?

महारानी : महाराज ने कहा था, कुरंगी के लिए दूत आया है। शीघ्र ही जामाता का मुँह देखूँगी।

राजा : ठीक है। किन्तु अभी कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। आओ बैठो।

महारानी : जो आज्ञा। **(बैठती हैं)**

राजा : देवि, विवाह भलीभाँति परीक्षा करके ही करना चाहिए।
वित्त और बल बिना विचारे जामाता का,
फलता कन्यादान नहीं उसके दाता का।
नारी मद से उभय कुलों का क्षय करती है,
क्षुब्ध नीर की नदी तीर दोनों हरती है।
अरे, यह कोलाहल कैसा?
अधिक होने से निकट-सा है, भले ही दूर है;
निज कुरंगी के लिए चिन्ता मुझे भरपूर है।

महारानी : हाँ, मेरी बेटी उद्यान गयी है।

राजा : अरे, यहाँ कौन है?

[भट का प्रवेश]

भट : महाराज की जय हो। ये आर्य कौंजायन कुछ निवेदन करने आये हैं।

राजा : शीघ्र ले जाओ।

भट : जो आज्ञा। (जाता है)

[कौंजायन आता है]

कौंजायन : (खेदपूर्वक) अहो, मन्त्री होना भी कैसा कष्टकर है!

कार्य सफल हो तो राजा का
बल बतलाया जाता है,
किन्तु विफल हो वह तो इसका
दोष सचिव पर आता है।
मधुर उदार अमात्य शब्द से
सम्बोधित कर लेते हैं,
मति-विदग्ध मनुजों को राजा
सूक्ष्म दण्ड ही देते हैं।

जयसेन, स्वामी कहाँ हैं? क्या कहा? उपस्थान गृह में। तभी यह स्थान शंका रहित है। **(घूमकर ससम्भ्रम)**

महाराज प्रसन्न हों। स्वामी प्रसन्न हों।

राजा : सम्भ्रम रहने दो। स्वच्छन्द बैठकर कहो, क्या बात है?

कौंजायन : महाराज ने आज्ञा दी थी कि राजकुमारी के साथ उद्यान जाओ।

राजा : हाँ, मैंने कहा था। फिर क्या हुआ?

कौंजायन : राजकुमारी उद्यान में गयीं और सहेलियों के साथ वहाँ विचरीं। जब हँसती-खेलती और बातें करती हुई वे वहाँ से लौटीं तभी गरजता हुआ दुर्दिन के समान, महावतों को झटकता-पटकता एक मतवाला हाथी वहाँ आ गया। वह मद के जल से भीगा और धूल से धूसरित था। भीमकाय मूर्तिमान पवन के समान जान पड़ता था। जो कभी दिखाई पड़ता और कभी न दिखाई पड़ता था। ऐसा लगा, जैसे हमारे रक्षकजनों को दोषी बनाने और एक अपरिचित नवयुवक को पराक्रम प्रकट करने का अवसर देने के लिए ही वह आया हो।

राजा : विस्तार रहने दो। पहले यह बताओ कि कुरंगी तो कुशलपूर्वक है?

कौंजायन : महाराज के सौभाग्य से राजकुमारी कभी अकुशलिनी हो सकती हैं?

राजा : सचमुच सौभाग्य की बात है। अब जो कहना हो, यथेष्ट कहो।

कौंजायन : साधारण जन प्राण लेकर भागे। वे यही कर सकते थे। स्त्रियाँ भी हाहाकार करने के अतिरिक्त और क्या करतीं? रक्षक लोगों

ने शक्ति भर उसे रोकने की चेष्टा की। परन्तु उनमें से कुछ मारे गये, कुछ घायल होकर गिर गये। हाथी ने मुझे भी एक ओर फेंक दिया। मैं नीति के अनुसार अपनी रक्षा कर उद्यानगत उपकरणों की देखभाल करने लगा। तब तक वह हाथी सहसा राजकुमारी के यान की ओर झपटा।

महारानी : ओह! फिर क्या हुआ?

राजा : कुरंगी की रक्षा किसने की?

कौंजायन : एक जन दर्श...(**रुक जाता है**)

राजा : स्वच्छन्दतापूर्वक कहो। विपत्ति में सब बातें अपरिहार्य होती हैं।

कौंजायन : उस समय दर्शनीय होने पर भी अविस्मित, तरुण होने पर भी निरहंकार, वीर होने पर भी विनयी और सुकुमार होने पर भी बलवान एक युवक, यह देखकर कि हाथी राजकुमारी की ओर झपट रहा है, दुर्लभ अभयदान देता हुआ, निःशंक होकर उसके पास आ पहुँचा।

राजा : धन्य है उस करुणा का ऋण चुका देने वाले को। फिर क्या हुआ?

कौंजायन : उसने ललित भाव से वेगपूर्वक अपने सुन्दर करतल से हाथी पर प्रहार किया। हाथी क्रुद्ध होकर और राजकुमारी को छोड़कर उसे मारने के लिए उसकी ओर घूमा।

महारानी : कुशल हो।

राजा : फिर, फिर?

कौंजायन : उसी समय भूतिक भी वहाँ पहुँच गये। हम दोनों ने राजकुमारी को पालकी में बिठाकर अन्तःपुर भेज दिया।

राजा : ओह! बड़ा संकट था। भूतिक क्यों नहीं आया?

कौंजायन : भूतिक ने मुझसे कहा कि तुम जाकर स्वामी से सब वृत्तान्त कहो। मैं उस पुरुष का परिचय प्राप्त करके अभी आता हूँ।

राजा : तब भूतिक सब पता ले ही आयगा। कौंजायन, वह परदुःख सहायक युवक किस कुल में उत्पन्न हुआ है?

कौंजायन : महाराज, यही समझ में नहीं आता। वह अपने को अन्त्यज बतलाता है।

महारानी : महाराज, हीन कुल का जन कैसे ऐसा दयावान् हो सकता है?

राजा : तो यह क्या बात है?

[भूतिक का प्रवेश]

भूतिक : (**आश्चर्य से**) अहा! पृथिवी में बहुत से रत्न छिपे रहते हैं। इस पुरुष के पराक्रम से शूरवीरों की विक्रम बुद्धि मन्द पड़ गयी है,

पर मुझे एक सन्देह होता है। वह अपने आपको और अपने वंश को क्यों छिपा रहा है? अथवा किसकी शक्ति है जो हाथ से सूर्य को ढक सके।

सुजन छिपाते हैं अपने को
अपने हेतु विशेष से,
अथवा अपने मान्य जनों के
अर्थ पूर्ण आदेश से।
किन्तु बचाते हुए किसी को
भय-विपत्ति से, क्लेश से,
हो पड़ते हैं प्रकट अचानक,
बँधे न रहकर वेश से।

जयसेन, स्वामी कहाँ है? क्या कहा—उपस्थान गृह में? तभी यह स्थान शंका रहित है। तो मैं वहीं चलूँ। **(प्रवेश करके)** अरे, यहाँ तो महाराज और महारानी दोनों ही बैठे हैं। **(पास पहुँचकर)** महाराज की जय हो। महारानी की जय हो।

राजा : देवि, तुम भीतर जाकर कुरंगी को आश्वासन दो। मैं भी तुम्हारे पीछे पहुँचता हूँ।

महारानी : जो आज्ञा। **(जाती है)**

राजा : परार्थ अपने शरीर की अपेक्षा न करने वाले उस पुरुष का क्या वृत्तान्त है।

भूतिक : महाराज, सुनिए। उस पुरुष ने क्षण भर में उपेक्षापूर्वक धीर और ललित भाव से, वयस्य की भाँति, उस हाथी को वश में कर लिया। उसके साथ क्रीड़ा की और अपने पैंतरों से उसे मोहित कर लिया। परन्तु इस कार्य से अपनी प्रशंसा वह नहीं सह सका। लज्जित भाव से सिर नीचा करके अपने वासस्थान को चला गया।

राजा : बड़े हर्ष की बात है। कुरंगी की रक्षा के अनन्तर मुझे यह दूसरा लाभ हुआ।

भूतिक : इसके पश्चात् हथिनियों के द्वारा पकड़वाकर उस हाथी को गजशाला में बँधवा दिया। मैं उस पुरुष का वृत्तान्त जानने के लिए दूसरे बहाने उसके स्थान पर गया।

राजा : तुमने क्या निश्चय किया? हम लोगों ने तो सुना है कि वह अन्त्यज है।

भूतिक : पाप शान्त हो। वह ऐसा नहीं है। किसी कारण से अपने को छिपाए हुए है।

राजा : यह तुमने कैसे जाना?

भूतिक : इसमें जानने की क्या बात है?

देव तुल्य है रूप, वचन हैं ब्राह्मण जैसे,
क्षत्रिय-सा बल-तेज हीन है फिर वह कैसे?
दुर्लभ वैसा सुदृढ़ और सुकुमार गठन है,
वह अन्त्यज तो व्यर्थ हमारा शास्त्र-पठन है।

राजा : क्या उसके कलत्र है?

भूतिक : स्त्रियों के विषय में पूछताछ करना मेरा स्वभाव नहीं है।

राजा : ठीक है, परन्तु उसके पिता से मिलने में तो कोई बाधा न थी।

भूतिक : उन सत्कुल सम्पन्न भद्र पुरुष से मैं मिला हूँ।

व्यायाम-विस्तृत वक्ष उनका,
पुष्ट ऊँचे स्कन्ध हैं,
ज्याघात-चिह्नों से सहज
भूषित सुदृढ़ मणिबन्ध हैं।
प्रच्छन्न भी राजत्व अपना
वे छिपा पाते नहीं,
घनगत दिवाकर दीप्ति से
क्या दृष्टि में आते नहीं।

राजा : इस समय इस प्रसंग को रहने दो। फिर उसकी खोज करो।

भूतिक : स्वामी की जो आज्ञा।

राजा : इस समय काशिराज के दूत के विषय में क्या करना चाहिए।

भूतिक : महाराज, दूत तो सैकड़ों आते ही जाते हैं।

नहीं जान पड़ता है इसमें कुछ विशेष करणीय,
होता है कन्या-पितृत्व वर वन्दनीय वरणीय।
उत्सुक रहते हैं सब राजा राजसुता के अर्थ,
विजय-पताका पाने को ज्यों रण में सुभट समर्थ।

राजा : तुम्हारा क्या अभिप्राय है?

भूतिक : सब कहीं अनुकूलता से काम नहीं चलता। गुण देखकर, वर्तमान और भविष्यत् की आलोचना करके तथा त्वरा और दीर्घ सूत्रता छोड़कर, देश काल के अनुरूप कार्य-साधन करना चाहिए।

राजा : ठीक है। कौंजायन तुम क्यों मौन हो?

कौंजायन : श्रीमन्, पहले का सम्बन्ध होने के कारण काशिराज और सौवीरराज बहनोई के नाते समान हैं। अतएव आपने पहले इन्हें ही अपने सम्बन्ध के योग्य निश्चित किया था। सौवीर राज ने अपने पुत्र

के सम्बन्ध के लिए दूत भी भेजा था, परन्तु उस समय राजकुमारी अवस्था में बहुत छोटी थीं। इस समय काशिराज ने दूत भेजा है। यहाँ बलाबल विचार कर स्वामी ही निश्चय करें।

राजा : तुम्हारा कहना भी ठीक ही है। भूतिक, सम्पूर्ण राज्य मण्डल को छोड़कर हमने दो सम्बन्ध सोचे हैं। इन दोनों में विशेष कौन है?

भूतिक : राजाओं के सम्मुख क्या भृत्य कह सकते हैं? राजा ही अमात्यों के स्वामी हैं।

राजा : उपचार रहने दो। अपनी सम्मति प्रकट करो।

भूतिक : अब आपका आदेश कैसे टालूँ। महाराज काशिराज और सौवीरराज बहनोई होने से समान हैं, परन्तु सौवीरराज देवी के भाई भी हैं इसलिए उन्हीं का अधिकार अधिक है।

राजा : तुम्हारा परामर्श हमारे ही मनोनुकूल है।

भूतिक : मैं सब प्रकार अनुगृहीत हुआ।

राजा : परन्तु सौवीरराज ने फिर दूत क्यों नहीं भेजा?

भूतिक : इस विषय में मुझे कुछ सन्देह है। भलीभाँति जाँच पड़ताल करके निवेदन करूँगा।

राजा : वे कुशलपूर्वक तो हैं!

भूतिक : दूतों का कहना है—

नृप हैं न वहाँ उनके कुमार,
सचिवों पर ही है राज्य-भार।
होगा नृप का क्या सदुद्देश्य,
अब राजभवन है अप्रवेश्य।

राजा : अरे! यह क्या?

कामाशक्त, रुग्ण वे, अथवा
जाँच रहे अपनों का प्यार,
किंवा वन्दी कर सचिवों ने
छीन लिया उनका अधिकार।
वा द्विज-शापग्रस्त कर रहे
हैं वे छिपकर प्रायश्चित्त,
हो सकता है भला कौन-सा
इसमें कोई अन्य निमित्त।

शीघ्र ही इस विषय का पता लगाओ।

भूतिक : जो आज्ञा।

राजा : कौंजायन, काशिराज के दूत के विषय में इस समय क्या करना

चाहिए।

कौंजायन : उसका भली भाँति सत्कार करके इस समय उसे विदा करना ही ठीक है। विवाह बहुत प्रकार से हो सकते हैं। परन्तु अनुकूल साधन ही किये जाते हैं।

राजा : अहो! अमात्यों की बुद्धि कार्य ही देखती है, स्नेह नहीं।

[नेपथ्य में]

स्वामी की जय हो। दस घड़ियाँ पूरी हो गयीं।

भूतिक : महाराज शेष बातों का विचार हम सब करेंगे। स्नान का समय जाता है। राजकुमारी को भी आश्वासन देना उचित है। महादेवी भी प्रतीक्षा कर रही हैं। इस उपद्रव के कारण सब लोग आपके दर्शन भी करना चाहते हैं।

राजा : अहो! राज्य भी कैसा बड़ा भार होता है।

प्रथम धर्म सोचो फिर समझो
सचिवों की मति गति निहार,
राग-द्वेष छिपाकर बरतो
मृदु कठोर समयानुसार।
देखो जन-मन चर-नयनों से,
करो प्रजा पर लाड़-प्यार,
रहो स्वरक्षा में रत, छोड़ो,
रण में उसका भी विचार।

[सब जाते हैं]

द्वितीय अंक

[विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : ये राजकुमार अवस्था विशेष नहीं समझते। तत्रभवान् अविमारक ऋषि शाप से कुलभ्रंश होकर अन्त्यज कुल में रह रहे हैं। न अपने आप का ज्ञान रखते हैं और न गुरुजनों की चिन्ता करते हैं। जब से वह हाथी का उत्पात हुआ तभी से कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी को देखकर और के और हो गये हैं। अधिक क्या कहूँ? मेरे साथ भी गोष्ठी करने की इच्छा नहीं करते। सदा चिन्तित रहते हैं। कहावत है और सत्य है कि आपत्ति अकेली नहीं आती। इसमें क्या तुक है। वह राज कन्या भी अन्त्यज की खोज कर रही है!

और मैं भी तो ब्राह्मणत्व का अपमान अग्राह्य कर उसी अन्त्यज की खोज में छिपकर उसी के घर जा रहा हूँ।

[चेटी का प्रवेश]

चेटी : स्थितिवश भ्रष्ट हुए राजकुल में विशेष काम नहीं रह गया है। अतएव मैं नगर देखने के लिए निकली हूँ।
(घूमकर और देखकर) अरे, ये आर्य सन्तुष्ट जा रहे हैं। तो चलूँ इन्हीं के साथ क्षण भर हँसकर जी बहलाऊँ। **(समीप जाकर ऊपर देखती हुई)**।
सखी कौमुदिके, क्या ब्राह्मण मिला? क्या कहा, नहीं मिला?

विदूषक : चन्द्रिके क्या है?

चेटी : आर्य, किसी ब्राह्मण को खोज रही हूँ।

विदूषक : ब्राह्मण से क्या काम है?

चेटी : काम और क्या है, भोजन के लिए निमन्त्रण देना है।

विदूषक : अरी, मैं क्या श्रमणक हूँ?

चेटी : तुम अवैदिक हो।

विदूषक : मैं कैसे अवैदिक हूँ। सुन, मैंने रामायण नामक नाट्य शास्त्र के वर्ष बीतते न बीतते, पाँच श्लोक पढ़ डाले हैं।

चेटी : जानती हूँ, जानती हूँ। आर्य का यह मेधा-विकास कुलोचित है।

विदूषक : केवल श्लोक ही नहीं, उनका अर्थ भी जान लिया। देख, अक्षरज्ञ और अर्थज्ञ ब्राह्मण दुर्लभ हैं।

चेटी : तो बताओ, यह क्या लिखा है? **(नाम मुद्रिका दिखाती है)**

विदूषक : **(स्वगत)** बिना जाने क्या बताऊँ। **(सोचकर)**
यह कहता हूँ। **(प्रकट)**
यह अक्षर मेरी पुस्तक में नहीं है।

चेटी : यदि नहीं जानते हो तो बिना दक्षिणा के भोजन करो।

विदूषक : यही सही, यही सही।

चेटी : अच्छा, तनिक अपनी मुद्रिका तो दिखाओ।

विदूषक : देखो, देखो, मेरी अँगूठी देखने योग्य है।

चेटी : **(लेकर)** ये राजकुमार इधर आ रहे हैं।

विदूषक : **(चारों ओर देखता हुआ)** कहाँ हैं, कहाँ हैं?

चेटी : लुब्ध हो गया मुग्ध ब्राह्मण। इस जन समूह में प्रवेश करके चतुष्पथ में इसे भुलाकर निकल जाऊँगी। **(जाती है)**

विदूषक : **(सब ओर देखकर)** चन्द्रिके, चन्द्रिके कहाँ गयी चन्द्रिका? हाय! मैं ठगा गया। ठगनी दासी ने निमन्त्रण का लोभ देकर मुझे ठग

लिया। भोजन की बात भी झूठी थी।
(आगे देखकर) अरे, यह जा रही है। अरी अधर्मिन दासी, ठहर, ठहर, कहाँ भागी जाती है? मैं भी दौड़ूँ। **(दौड़ता है)** किन्तु स्वप्न में हाथी के भय से भागते हुए के समान मेरे पैर जहाँ के तहाँ लटपटाते हैं। अच्छा, इस दुष्टा दासी की बात जाकर राजकुमार से कहूँ। **(बैठा हुआ अविमारक दिखाई देता है)**

अविमारक : *करि-कर-शीकर-शीतल गात्री*
गजलक्ष्मी-सी वह बाला,
भय विषाद से लोल लोचनी
मेरे मन की मणि-माला।
मिल जाती है मुझे स्वप्न में,
किन्तु आँख खुल जाती है,
जातिस्मर ज्यों अब भी उसकी
प्रिय पूर्वस्मृति आती है।

अहो काम की प्रबलता!

करती नहीं दृष्टि अब मेरी अन्य रूप की चाह,
उस की स्मृति में निकल रही है अहा संग ही आह,
मुख पीला पड़ता जाता है, तनु अशक्त-सा ओह,
दिन में शोक और रहता है मुझे रात में मोह।

अथवा पुरुषों को अधीरता उचित नहीं है। संकल्प से ही काम की वृद्धि होती है। इसलिए मैं अभी संकल्प-विकल्प नहीं करूँगा। **(स्मरण करके)** धन्य है उसकी रूप सम्पत्ति! रूप के ही अनुरूप उसका यौवन और यौवन के समान ही सुकुमारता!

रची युवति आदर्श-मूर्ति विधि ने नयी,
अथवा हिमकर-कान्ति कामिनी बन गयी।
हरि को सोते देख सिन्धु में श्री डरी,
अन्य रूप रख रही राजगृह में खरी।

मैंने फिर क्यों चिन्ता आरम्भ कर दी? अब क्या करूँ। मन मेरे वश में नहीं रहा।

मन रोके रुकता नहीं, धरे उसी का ध्यान।
साथ नहीं देता यथा, भूला-बिसरा ज्ञान।

अथवा मैं मन को नहीं जीत पाता। इसी से उसकी चिन्ता करता हूँ। आहा! स्त्रियों के सारे गुण एक ही स्थान में इकट्ठे हो गये हैं। **(चिन्ता करता है)**

[धात्री और नलिनिका का प्रवेश]

धात्री : (सोचती हुई) कैसा संकट है! यदि ऐसा करूँ तो राजकुल दूषित होगा। यदि नहीं करती हूँ तो उसके प्राणों पर आ बनती है। मैंने अनेक प्रकार से विचार किया। वह तो अब तक मुझसे छिपाती है अथवा उसके छिपाने से क्या होता है। वह उस दिन से फूलों की इच्छा नहीं करती। आहार में भी उसकी रुचि नहीं रह गयी है। सखियों के साथ क्रीड़ा करना भी छोड़ बैठी है। लम्बी साँसें लेती है। असम्बद्ध वचन कहती है। कुछ कहो तो सुनती नहीं। मन ही मन मुस्कराती है। अकेले में रोती है। रोग का बहाना करती है। दुबली हो रही है, पीली पड़ रही है। फिर भी एक आश्चर्य है। ऐसी अवस्था में भी लज्जा के भय से कुलमान रखते हुए बाल्यभाव से भी किसी सखी से कुछ नहीं कहती।

नलिनिका : क्यों नहीं कहती, मुझसे सब कहती है।

धात्री : मैं तेरा अभिप्राय जानती हूँ। स्थिति समझकर तू दोनों को परस्पर मिला दे।

नलिनिका : अच्छा, ऐसा विशिष्ट गुण वाला पुरुष क्या अकुलीन हो सकता है?

धात्री : यही तो सन्देह है। मैंने महारानी के समीप सुना है, ऐसा पुरुष अकुलीन नहीं होता। किसी कारण अपने को छिपाता है।

नलिनिका : तो वह कौन होगा?

धात्री : यदि यह सन्देह न हो तो उससे अच्छा जामाता और कौन हो सकता है?

[नेपथ्य में]

अकुलीनों का चरित नहीं यो शुचि होता है,
रूप, बोध, बल, वित्त भले ही वह ढोता है।
इसके कुल का ज्ञान समय पर हो जावेगा,
शंका छोड़ो, कार्य करो, शुभ फल आवेगा।

धात्री : हला, यह कौन बोला?

नलिनिका : यहाँ तो कोई दिखाई नहीं देता।

धात्री : मुझे तो रोमांच हो आया है। निश्चय ही यह देववाणी हुई है। मैंने समझ लिया है, वह पुरुष साधारण मनुष्य नहीं है।

नलिनिका : उसके कुल का सन्देह तो मिटा। वह हमारी बात माने वा न माने, यही चिन्ता है। **(सोचकर)**

वह धन्य है जिसने राजकुमारी को इस प्रकार उन्मत्त कर दिया

है। अधिक क्या, स्वयं कामदेव भी राजकुमारी का रूप देखकर अधीर हो सकता है। इसलिए मैं जानती हूँ कि वह भी उसके लिए व्याकुल हो रहा होगा।

धात्री : यही उसका आवास है। जिस दिन हाथी पागल हुआ था उसी दिन कौतूहल-वश हम यहाँ आयी थीं।

नलिनिका : आहा! इसका द्वार कैसा सुन्दर और सजा हुआ है।

धात्री : अजी, राजकुमार कहाँ हैं? क्या कहा, चतुःशाल में हैं? **(घूमकर देखती हुई)** ये रहे हमारे राजकुमार। अकेले बैठे हुए कुछ सोच रहे हैं।

नलिनिका : आओ, प्रवेश करें।

धात्री : यही करो। **(प्रवेश करके)** आर्य प्रसन्न तो हैं?

अविमारक : धन्य है उसकी रूप-सम्पत्ति!

धात्री : **(व्याकुलता से)** क्या बात है? आर्य अच्छे तो हैं!

अविमारक : *देह-लता मृदु, नता सुयौवन-भार से,*

धात्री : अरे ये तो विप्रलाप कर रहे हैं।

अविमारक : *मुख मोती-सा, अधर सुविद्रुम-सार-से।*

धात्री : वह धन्य है, जिसने इन्हें पागल बना दिया है।

अविमारक : *भय में भी वह रूप रुचिर था सर्वथा,*

धात्री : काम बन गया!

अविमारक : *प्रणय-केलि में कौन कहे उसकी कथा?*

धात्री : राजकुमारी ने ही इन्हें उन्मत्त कर दिया है।

नलिनिका : तुमने ठीक कहा। ये भी उसके बिना व्याकुल हैं।

धात्री : यही बात है। आर्य अच्छे हैं?

अविमारक : **(देखकर सलज्ज भाव से)** तुम दोनों का स्वागत है।

दोनों : आप सुखी हैं?

अविमारक : तुम्हारे दर्शन से हो जाऊँगा।

धात्री : आप क्या सोच रहे हैं?

अविमारक : शास्त्र का चिन्तन कर रहा हूँ।

धात्री : कौन ऐसा रमणीय शास्त्र है, जो एकान्त में बैठकर चिन्तनीय है?

अविमारक : योग शास्त्र।

धात्री : **(मुसकराकर)** आपका मंगल वचन स्वीकार है। योग शास्त्र ही हो।

अविमारक : **(स्वगत)** इसके कहने का क्या अर्थ है? अभिलाष वश मैं और का और समझने लगता हूँ। **(प्रकट)** तुम्हारा क्या अभिप्राय है?

धात्री : हम भी योग के ही अभिप्राय से आयी हैं। आप भी योग के इच्छुक

हैं। अतएव हमारा कार्य सिद्ध है। वह एकान्त राजकुल में सम्पन्न होगा। वहाँ भी कोई जन योग के ही चिन्तन में लीन है। वहाँ उसके साथ आप भी योग का साधन करें।

अविमारक : तब हमारे भाग्य में अब भी सुख शेष है। **(आसन से उठकर)** तुमने मुझे नया जीवन-दान दिया है। क्योंकि–

भीति दृष्टि के विष से उसका
सुन्दर मुख तमतमा गया,
उसे देख मेरे भीतर था
एक मोह-सा समा गया।
सम्प्रति आकर जो वचनामृत
तुमने मुझे पिलाया है।
करके पुनः सचेत उसी ने
फिर से मुझे जिलाया है।

धात्री : बड़े भाग्य की बात है कि आपने हम लोगों को बचा लिया। विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं। आज ही कन्यान्तःपुर में प्रवेश करना होगा। कन्यान्तःपुर का रक्षक अमात्य भूतिक है। महाराज के निर्देश से वह काशिराज के दूत के साथ गया है।

अविमारक : बहुत अच्छा। औषध पाकर कौन रोगी विलम्ब करता है।

धात्री : वहाँ प्रवेश करना ही कठिन है। भीतर पहुँचकर चिरकाल तक रहा जा सकता है।

अविमारक : मुझे प्रविष्ट हुआ ही-सा समझो। द्वार खुले रहने चाहिए।

धात्री : यही किया जाएगा। भीतर जो करने योग्य है, उसकी चिन्ता न कीजिए। आप सावधानतापूर्वक प्रवेश कीजिएगा।

अविमारक : राजकुल का विवरण कैसा है?

धात्री : वह ऐसा है।

अविमारक : अहो–

राज भवन का विवरण पाकर
मैं मानो हो गया प्रविष्ट,
दूषणीय क्या मेरा पौरुष,
यदि न रुष्ट हो जाय अदृष्ट।

(सोचकर) भद्रे, हमको इस कार्य में विश्वास कैसे हो?

दोनों : ऐसे, राजकुमार की जय हो।

अविमारक : तो तुम निश्चिन्त होकर जाओ। आधी रात होने पर प्रतीक्षा करना।

दोनों : जो आपकी आज्ञा। **(प्रस्थान)**

[विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : आहा! इस समय नगर की कैसी शोभा है। सूर्य भगवान अस्त हो रहे हैं। स्वच्छ राजप्रासाद के आगे आपण के अलिन्दों के ऊपर ऐसा जान पड़ता है मानो दही के पिण्ड पर गुड़ की मधुर धारा छोड़ दी गयी है। वेश्याएँ और नागरिक जन सुन्दर वेश धारण करके लोगों को अपना रूप वैभव दिखाने के लिए अपनी-अपनी छतों पर लीलापूर्वक घूम रहे हैं। मैं यह सब देखकर राजकुमार के साथ रात बिताने के लिए नगर से चला आया हूँ। मेरे दुर्भाग्य से वह न जाने किस अनर्थ की चिन्ता करते-करते और का और हो गया है। यह उसका आवास है। आज गोष्ठियों की गप्पों में सुना है कि राजकुमारी की धात्री और सखी इस घर से निकली थीं। यहाँ उनका क्या काम होगा? अथवा पुरुषों का भाग्य हाथी के शुंडा-दण्ड के समान चंचल होता है। तो क्या हम लोगों की विपत्ति टल गयी? योग्य अवस्था प्राप्त कर क्या हम राजपुरी में निवास करेंगे।

[प्रवेश करके]

ही ही, मित्र तो यह कामुक जनों-सा, पाण्डुता धारण किये आ रहा है अथवा रूप वालों के लिए सभी कुछ अलंकार बन जाता है। जय हो आपकी।

अविमारक : मित्र तूने नगर में बहुत विलम्ब कर दिया।

विदूषक : भाई, तुम तो निमन्त्रण-वंचित ब्राह्मण की भाँति दिन-रात चिन्ता में डूबे रहते हो। मैं सारा दिन नगर में घूमकर अलब्ध-भोगा साधारण गणिका के समान रात में तुम्हारे पास सोने के लिए आ जाता हूँ।

अविमारक : सखे, मैं तुझे एक अच्छा समाचार सुनाऊँ।

विदूषक : क्या हमारा शाप पूरा हो गया?

अविमारक : मूर्ख, वह तो अवश्यम्भावी है। उसमें विशेषता क्या?

विदूषक : तो फिर और क्या है?

अविमारक : क्या तुमने कुरंगी की धात्री तथा नलिनिका को नहीं देखा।

विदूषक : देखा है। क्या लायी थीं वे।

अविमारक : हमारे शोक की औषधि।

विदूषक : देखूँ।

अविमारक : समय पर देखना, अभी सुन।

विदूषक : कहो, कहो।

अविमारक : बहुत कहने से क्या। वे कह गयी हैं, आज ही कन्यान्तःपुर में प्रवेश करना होगा।

विदूषक : जीते जी प्रवेश करना कैसे सम्भव है? कुन्तिभोज के मन्त्री बड़े विकट हैं।

अविमारक : क्या तू डरता है? तुझे पता नहीं–

किया सदा के लिए अकेले
मैंने सब रिपुओं को भंग,
नर क्या मरा मेष वेशी वह
असुरराज लड़ मेरे संग।

विदूषक : जानता हूँ, जानता हूँ तुम्हारे लोकोत्तर कार्य। फिर भी रात में छिपकर पराये घर जाना सर्वथा शंकनीय है।

अविमारक : संक्षेप में ही बताता हूँ, जैसे भी हो, कुन्तिभोज की कन्या के अन्तःपुर में जाना ही होगा। महा ब्राह्मण को अनुमति देनी ही होगी।

विदूषक : क्या मुझे छोड़कर जाओगे? मैं किसी दशा में तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। चिल्लाने वाला भी तो एक जन साथ रहना चाहिए!

अविमारक : तू शास्त्र की बात नहीं जानता।

पर गृह आप अकेला जावे,
दो होकर मन्त्रणा करे।
बहुतों से मिल लड़े शत्रु से,
शास्त्र-वचन यह हृदय धरे।

इसलिए मैं अकेला ही जाऊँगा। तू तनिक भी शंका न कर। देख,–

क्या हैं कुन्तिभोज के सैनिक,
सहज राजगृह मध्य प्रवेश,
मेरे कर में आयुध रहते,
सखे, न कर चिन्ता लव-लेश।

विदूषक : यदि यही निश्चय है तो चलो, हम दोनों नगर में चलें। वहाँ मेरा एक मित्र है। उसी के यहाँ बैठकर प्रतीक्षा की जायगी।

अविमारक : तूने ठीक कहा। इस समय भीतर जाकर और सन्ध्या वन्दन करके महाराज की आज्ञा से वासगृह में शयन के लिए जाने के बहाने वहीं से छिपे-छिपे तुम्हारे मित्र के यहाँ चलूँगा।

[चेटी का प्रवेश]

चेटी : कुमार की जय हो। स्नान का जल प्रस्तुत है।

अविमारक : अच्छा, तू चल, मैं आता हूँ।

चेटी : जो आज्ञा। (जाती है)

अविमारक : मित्र, सूर्य भगवान् अस्त हुए । इस समय—

पूर्व में बढ़ने लगी है श्यामता,
प्रकट पश्चिम में अरुण अविरामता।
युगल रूप विभक्त नभ मन मोहता,
अर्द्धनारीश्वर सदृश है सोहता!

विदूषक : तुमने ठीक कहा, दिन गया, प्रदोष आया।

अविमारक : अहा, जगत का कैसा विचित्र स्वभाव है!

सूर्य-तिलक मिट गया, प्रकट विस्तृत तारागण,
धूप गयी, बह रहा सुशीतल मन्द समीरण।
कामी भीतर घुसे, विचरते हैं भट बाहर,
बना रहा है मनुज लोक मानों वेषान्तर।

[सब जाते हैं]

तृतीय अंक

[कुरंगी और दो चेटियों का प्रवेश]

कुरंगी : अरी, उसने क्या कहा था?

चेटी : राजकुमारी, किसने?

कुरंगी : **(स्वगत)** मैं अभागिनी मरी जा रही हूँ। **(प्रकट)** कन्यान्तःपुर के सेवक ने।

मागधिका : मैंने उसे देखा था। उससे कहा भी था, परन्तु उसने कुछ नहीं कहा।

कुरंगी : अच्छा, मैं महारानी से कहूँगी कि कन्यान्तःपुर का किंकर मेरे सुग्गे का पिंजड़ा नहीं बना देता।

मागधिका : आपके सुग्गे का पिंजड़ा बनकर आ गया है।

कुरंगी : अरी वाचाल, क्या दूसरा भी है?

मागधिका : हो सकता है।

कुरंगी : समय क्या है?

मागधिका : सन्ध्या घनी हो गयी है।

कुरंगी : तो चल, प्रासाद के ऊपर चलें।

मागधिका : विलासिनी, तू आगे जा, बिछौना बिछा।

विलासिनी : तू सोती थी। बिछौना कभी का बिछ चुका है।

मागधिका : अरी, मैं तेरा आलस्य जानती हूँ। दिन के बिछौने को तू बिछा

दिया बता रही है।

विलासिनी : ऐसी बात न कह। राजकुमारी मन में कहीं सच न समझ लें।

मागधिका : अच्छा, चलकर देख लूँगी। **(सब घूमती हैं)**

मागधिका : यही प्रासाद है।

कुरंगी : आगे चल। **(आरोहण नाट्य करती है)**

मागधिका : धन्य विलासिनी, धन्य! नाम के अनुसार ही तूने काम किया है। इस शिलातल पर आसन बिछा है।

विलासिनी : मण्डप के भीतर सेज रच दी है। मागधिके, मेरा आलस्य देख।

मागधिका : तू बड़ी चतुर है। ऐसा ही चतुर पति तुझे प्राप्त हो।

कुरंगी : इस शिलातल पर कुछ क्षण बैठूँगी।

मागधिका : राजकुमारी को जो रुचे, वही कीजिए। **(सब बैठती हैं)**

मागधिका : राजकुमारी, मैं कुछ कहूँ?

कुरंगी : सखि, मैं जानती हूँ, तेरा असम्बद्ध प्रलाप।

मागधिका : राजकुमारी, वह सर्वथा नयी कथा है।

कुरंगी : मैं तुझसे याचना करती हूँ, चुप रह। मुझे तनिक सोने दे।

विलासिनी : राजकुमारी सुख से सोवें, मुझे सुना।

कुरंगी : **(स्वगत)** क्या बात होगी?

मागधिका : राजकुमारी के पास से सरक कर मेरे पास आ और सुन।

कुरंगी : **(स्वगत)** हूँ, मैंने सब जान लिया। मैं परिभ्रष्ट हुई।

विलासिनी : सखी, तूने कहाँ सुना?

मागधिका : महारानी की परिचारिका वसुमित्रा ने कहा है।

विलासिनी : क्या स्वयं महारानी ने उससे कहा था?

मागधिका : काशिराज के जयवर्मा नामक पुत्र को राजकुमारी दी गयी हैं। वहाँ का दूत भी आया था और महाराज ने उसका सत्कार भी किया था। उन्होंने वरण-सामग्री भी स्वीकार कर ली है।

कुरंगी : **(स्वगत)** यह अलीक है। मैं आप अपनी स्वामिनी हूँ।

मागधिका : इस पर महारानी ने कहा—मेरी बेटी अभी छोटी है। मैं एक दिन भी उसके बिना नहीं रह सकती हूँ। यदि महाराज मुझ पर प्रसन्न हैं तो जामाता को यहीं बुला लें।

विलासिनी : तब क्या हुआ?

मागधिका : महाराज ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। आज मुहूर्त अच्छा था अतएव दूत के साथ अमात्य आर्य भूतिक भी भेजे गये हैं।

कुरंगी : **(स्वगत)** चलो, कुछ दिन का अन्तर तो हुआ।

विलासिनी : हर्ष की बात है, राजकुमारी का रूप यौवन सफल हुआ।

[नलिनिका का प्रवेश]

नलिनिका : मेरी माँ ने कहा है कि जा, यह समाचार राजकुमारी को सुना दे, प्रिय जन की कही हुई प्यारी बात और भी प्यारी लगती है। राजकुमारी विश्वासपूर्वक सब बातें मुझसे नहीं कहतीं। इस बार मैं उनके प्रिय की प्रिय बात सुनाकर उनकी पार्श्ववर्तिनी हो जाऊँगी। **(घूमती है)**

कुरंगी : यह कौन एक अभूतपूर्व रोग है, जो मुझे पागल बना रहा है। फूल-चन्दन अच्छे नहीं लगते, गोष्ठी नहीं सुहाती। यह कैसी दारुण अथच मनोहर अवस्था है! **(दीर्घ निश्वास लेकर)** नलिनिके, यह क्या है?

मागधिका : राजकुमारी, मैं मागधिका हूँ।

विलासिनी : राजकुमारी, मैं विलासिनी हूँ।

नलिनिका : **(समीप जाकर)** राजकुमारी, नलिनिका मैं हूँ। सीढ़ियों के शब्द से राजकुमारी ने मुझे जाने लिया। राजकुमारी, महारानी ने कहा है।

कुरंगी : क्या कहा है?

नलिनिका : **(कान में)** यह कहा है।

कुरंगी : हा हीनचरित्रता!

नलिनिका : यह सम्भावनीय है। निश्चय वह वही है।

कुरंगी : नलिनिके, तनिक मेरे पैर तो दाब दे।

नलिनिका : जो आज्ञा।

विलासिनी : नलिनिके, विवाह कब होगा?

(नेपथ्य में) आज!

नलिनिका : बहुत जियो।

(नेपथ्य में)

राजपुरुषो, मन्त्री बाहर गये हैं। आज उनका कोई भृत्य कन्यान्तःपुर की रक्षा के लिए नहीं आया है। जो होना हो सो हो। ठहरो, मैं सबेरे महाराज से निवेदन करूँगा।

विलासिनी : नलिनिके, तूने क्या कहा?

नलिनिका : जब वे राजकुमार आएँगे, तब विवाह होगा।

विलासिनी : वे निर्विघ्न आवें।

नलिनिका : ऐसा ही हो।

मागधिका : सखी, जाओ, हम चतुःशाल में बैठें।

विलासिनी : चलो, सन्ध्या बीत गयी, चाँदनी निकल आयी है।

नलिनिका : सखी, मेरा बिछौना भी बिछा दे।

मागधिका : उसके लिए बहुत अवकाश है। जब तक राजकुमारी न सो जायँ, तू उनकी सेवा कर।

नलिनिका : यही हो। (**दोनों जाती हैं**)

[हाथ में रस्सी और खड्ग लिए चोर के वेश में अविमारक का प्रवेश]

अविमारक : (**सोचकर**) अहो! यौवन का नाम ही कष्ट है—

राग वृद्धि करता है, बहुधा
दुस्साहस भी रखता है,
प्रश्रय देता है प्रमाद को,
दोषों को न निरखता है।
रहता है निर्बन्ध, नीति का
मार्ग नहीं अपनाता है,
विज्ञ जनों की भी शुभ मति को
यौवन विवश बनाता है।

अपने अधीन कार्यों के अनुष्ठान में मैं क्यों मन्दीभूत होऊँ?

पुर परिचित हूँ, रक्षिवृन्द-बल का ज्ञाता हूँ,
अर्द्ध रात्रि है, घने अँधेरे में जाता हूँ।
असि सहाय है और अटल मेरा निश्चय है,
फिर दुष्कर क्या मुझे, कहाँ किसका क्या भय है?

अहो अर्द्धरात्रि का समय कैसा भयानक है! इस समय—

गर्भस्थ-से सब सुप्त हैं,
ध्यानस्थ-सा नृप-धाम है;
छूकर भले ही जान लो कुछ,
निविड़ तम का याम है।
सब ओर निद्रा छा रही है,
रह गया अनुमान है,
निज सर्व रूप समेट मानों
विश्व अन्तर्धान है!

आज ही काल रात्रि जान पड़ती है!

तम बहाती वीथि-नदियाँ गहन तम गम्भीर,
और दोनों ओर जो हैं हर्म्य, वे हैं तीर।
एक साथ दसों दिशाएँ हो गयी हैं मग्न,
तरणि से तरणीय-सा है अन्धकार अभग्न!

(**कान लगाकर**) अहा! कहीं गान हो रहा है। यह कौन सर्वकाल-सुखी

जन अपनी प्रिया के साथ गान का रस ले रहा है। जान पड़ता है वीणा वह स्वयं बजा रहा है—

रुद्र जाल, ऊँचा प्रासाद,
सुन पड़ता है वीणा-नाद।
अबलांगुलि से भी क्या तार
दे सकता है यह झंकार?

परन्तु गीत अवश्य स्त्री का है—

तान मन्द, मृदु कण्ठ मनोहर,
मुख-नासा से व्यक्त मधुर स्वर।
करतल-ताल सहज सजता है,
उसके साथ वलय बजता है।

(घूमकर देखता हुआ) अहा! इधर यह अन्य कोई अपनी कुपित कान्ता को मना रहा है। निश्चय इसका अपराध बड़ा है, जिसके कारण कान्ता अब तक प्रसन्न नहीं हुई है अथवा प्रसन्न होकर भी बहाना कर रही है—

अश्रु गद्गद—"मैं तुम्हारी कौन हूँ"? यह कह रही,
प्रकृति-वश प्रिय-निकट भी प्रतिकूल-सी है रह रही!

अरे, यह भयंकर स्वर कहाँ से आया? आह! उल्लू बोल रहा है। और, यह हास्य कैसा? समझ लिया। उल्लू के शब्द से डरी हुई स्त्री का आलिंगन पाकर यह भाग्यवान् प्रसन्न हुआ है। किसी समान वय वाले जोड़े का प्रणय व्यापार देखने से क्या? मैं अपना कार्य साधूँ। **(घूमकर)**

यह कौन बाजार की दुकान के ऊपरी अलिन्द में शंकित भाव से धीरे-धीरे स्नेहपूर्वक बोल रहा है। जान पड़ता है, यह भी मेरे समान कोई मिलनेच्छुक विरही है।

परिजन झिड़क रहा है इसको
"धीरे बोलो" यह कह कर,
गहनों के शब्दों से ही यह
चौंक रहा है रह रह कर।
संग चाहता है कामातुर
और चाहता है संकेत,
फिर भी जाना नहीं चाहता
करके भय-लज्जा समवेत।

(घूमकर) अरे यह चाँदनी! नहीं, चाँदनी नहीं यह तो दोनों ओर

की प्रासाद-पंक्तियों के गवाक्षों से निकली हुई प्रदीपों की प्रभा है। यहाँ बड़े यत्न से अपनी रक्षा करनी चाहिए। अरे, यह चोर है–

परिकर बाँधे हुए दीखता यह हर्षित है,
पर-गति-विधि की ओर हो रहा आकर्षित है।
नहीं ठिठकता दीप देखकर भी द्रुत चारी,
पैर बढ़ाता निडर जा रहा है धनहारी।

अच्छा, मैं इसे बचा जाऊँगा। **(एकान्त में खड़ा होता है)** चला गया नृशंस! मैं भी बढ़ूँ।

(घूमकर) अरे, ये तो रक्षक हैं। अब क्या करूँ। अच्छा, इस चतुष्पथ की विटसभा में प्रविष्ट हो जाऊँ। **(लाँघकर स्थित होता है)**

रक्षिजनों से मुझे विमुख लख
हँसती है मेरी असि आप,
पर वे क्या हैं, मैं तो अपना।
कार्य साधता हूँ चुपचाप।

रक्षक चले गये। आप अपनी रक्षा करने वालों की रक्षा कौन करता है?

अल्पजनों को प्राप्त अनोखा पौरुष लेकर,
निशि में फिरते लोभ मोह वश हैं रागी नर।
साक्षी है यह रात्रिचार उनके साहस का,
दुःख सहित सुख लाभ नहीं बहुतों के बस का।

यह राजकुल है। इसका परकोटा कैसा पुष्ट और ऊँचा है। यहीं पुरुषों को कटि कसनी होती है अथवा प्रवेश करके देखूँ, कहीं ये स्थिर कंगूरे ही न हों। यहीं बैठकर रज्जु फेंकूँ। प्रजापति को नमस्कार, सब सिद्धों को नमस्कार। बलि, शंबर और महाकाल प्रसन्न हों। रात बढ़े, नींद गहरी हो, लक्ष्मी कृपा करें, सब विघ्न दूर हों, मेरे वैरी विनष्ट हों। जय भगवती कात्यायनी! **(रस्सी फेंककर)**

रस्सी से बँधे केकड़ों जैसे आँकड़े कँगूरों में अटक गये। धन्य है भवितव्यता का प्रभाव! पहली ही बार में रस्सी जकड़ गयी, मानो कार्य सिद्धि हो गयी। भगवान प्रजापति बलवान हैं–

कार्य यत्न करने पर भी यदि
सिद्ध न हो तो किसका दोष?
कौन चाहता नहीं सफलता
निहित उसी में सुख-सन्तोष।

सत्प्रयत्न में ही पौरुष है,
कार्य-सिद्धि तो दैवाधीन,
पर जो अकर्मण्य रहते हैं
भाग्यहीन हैं वे ही दीन।

तो रस्सी की सहायता से चढ़ूँ।

[चढ़कर और देखकर]

अहा राजकुल की शोभा!

बहु भागों में बँट जाने से
मित-सा राजनिवास बना,
क्रम से ऊँचा होने पर भी
दीख रहा है घना-घना।
प्रासादों की अवली से यह
यथा दृष्टि में आता है,
अवनी से उठकर अम्बर से
मानों मिलने जाता है।

यहाँ ठहरना ठीक नहीं, अट्टालिकाओं के मार्ग में कुत्तों का भय रहता है। अच्छा, इसी रस्सी के सहारे नीचे उतरूँ। **(उतरकर)** अब इसे कहाँ छिपाऊँ। **(सोचकर)** इसे हस्तिशाला में फेंक दूँ।

[फेंककर और घूमकर]

अहा! युवति-कल गीतध्वनि युत
वीणा बजती है इस ओर।

दूसरी ओर चलूँ।

मत्त मतंगज मद सुगन्धि यह
उठती है नासा झकझोर।

यहाँ क्षण भर ठहरकर जाऊँगा। **(चलकर)**

दीपालोक इधर फैला है,
प्रहरी दल भी सजग नितान्त।

क्या गति है?

बहुत रात होने पर नृप-गृह
मुँदे कमल-वन-सा है शान्त,

तो चलूँ, धात्री का बताया हुआ मार्ग यही है। यह मन्दाकिनी है, यह दारु पर्वत है, यह सभागृह और यह कन्यान्तःपुर प्रासाद। इसमें काठ का काम बहुत है। बहुत-सी जालियाँ बनी हैं। अतः इस पर चढ़ना सहज है, अथवा कठिन भी हो तो क्या?

पहुँच प्रिया के गेह मुझे क्या
शंका ऊपर चढ़ने में?
देती है उसकी समीपता
प्रबल प्रेरणा बढ़ने में।
कौन नाल के काँटों से डर
पुष्करिणी को छोड़ेगा?
पाकर दुर्लभ योग अन्त में
प्यासा ही मुँह मोड़ेगा?

जो हो चढ़ता हूँ। यही उसका बताया जालयन्त्र है। **(चढ़कर) (खोलकर प्रवेश करता है फिर चारों ओर देखकर)** धन्य कुन्तिभोज, तुम्हारा यह भवन मानों स्वर्ग की हँसी कर रहा है—

बहुमणि-रत्नशिला-खण्डों पर
हंस सो रहे हैं यहाँ,
वर वैदूर्य मौक्तिकों की है
बालू बिछी जहाँ तहाँ।
खड़े प्रवालस्तम्भ, अधिक क्या
कहा जाय वैभव भला,
मणि दीपों से हार उड़ रही
तैल दीपकों की कला!

अब इस चोरवेश को अलग करूँ। **(वैसा ही करके परिकर खोलता है)**

नलिनिका : राजकुमार का क्या समाचार है? राजकुमारी भी इस अवस्था में दुर्लभ निद्रा ले रही हैं। उन्होंने सुन लिया है न कि मेरे प्रियतम आयँगे।

अविमारक : **(सुनकर और पास जाकर)** मेरा समाचार यह है।

नलिनिका : **(देखकर सहर्ष)** आपका स्वागत है!

अविमारक : **(कुरंगी की ओर देखकर)** अहा! यही है, यही है वह मेरी प्रियतमा।

अंगों का आलिंगन-सा कर
तृप्ति नहीं पाती है दृष्टि,
बुद्धि हो रही है आतुर-सी
कब जागे यह सुख की सृष्टि।

उत्सुक है अनुराग साथ ही
शिथिलित से हैं मेरे अंग,
आत्मा हर्षोत्फुल्ल हो रहा,
मोहाच्छन्न संग ही संग।

नलिनिका : **(स्वगत)** भगवान् कामदेव जल के प्रवाह की भाँति दोनों तट पीड़ित कर रहे हैं। **(प्रकट)** राजकुमार इस शयनतल को अलंकृत करें।

अविमारक : अच्छी बात है। **(बैठता है)**

नलिनिका : राजकुमार, क्या राजकुमारी को जगाऊँ?

अविमारक : भद्रे, बच्चों की-सी चपलता न करो।

मैं युगाक्ष हूँ, सहस्राक्ष-सी
नहीं दृष्टि-गति मेरी;
बहुत दिनों से बाट हेरती
मूढ़ हुई मति मेरी।
काम-सिन्धु का पार प्राप्त कर
नेत्र सफल हो जावें,
जी भरकर चिरकांक्षित सुख की
वे क्रीड़ा कर पावें।

नलिनिका : जानती हूँ, जानती हूँ राजकुमारी के लिए आपका परिश्रम।

अविमारक : आज मेरा परिश्रम सफल हुआ।

कुरंगी : **(जागकर)** सखी, उस निर्दय ने क्या कहा?

नलिनिका : राजकुमारी, यह तो मैंने पहले ही कह दिया है।

अविमारक : मुझे जीवन का फल मिल गया, जिसके लिए यह ऐसे मोह को प्राप्त हुई है।

कुरंगी : **(स्वगत)** हूँ, मैं भूल गयी। **(प्रकट)** सखी, मैंने क्या कहा था?

नलिनिका : राजकुमारी, आपने कुछ नहीं कहा।

अविमारक : इसके मोह के विस्तार से मुझे दूसरा मोह हो रहा है।

कुरंगी : बैठे-बैठे बड़ी बेर हो गयी है। समय क्या है?

नलिनिका : आधी रात हो गयी है।

कुरंगी : तभी श्रान्ति आ गयी है। आ, तनिक मुझे अंक में भर ले।

नलिनिका : **(अलग से)** मैं पैर दबाती हूँ कुमार, आप राजकुमारी का आलिंगन कीजिए।

अविमारक : **(सहर्ष)** ऐसे ही सैकड़ों प्रिय वचन तुझे सुनने को मिलें!

कुरंगी : अति स्नेह रहने दे। आ।

नलिनिका : राजकुमारी मैं यह रही।

कुरंगी : **(बल से अविमारक को खींचकर आलिंगन करती है)** अरे, तू तो मेरे अंक में है फिर मेरे पैर कौन दबा रहा है?

नलिनिका : **(कान में)** ऐसी बात है।

कुरंगी : **(घबराकर)** हाय! मेरा चरित्र गिर गया। मुझे बड़ा डर लगता है।

अविमारक : *भद्रे, मैं क्या नव परिचित हूँ, नहीं आज की प्रीत,*
कँपती हो क्यों वायु वेग से लता समान सभीत?
भय छोड़ो, मुझपर प्रसन्न हो, करो अनुग्रह-दान,
अधिक क्या कहूँ, शरणागत हूँ, अपनाओ निज जान।

[कुरंगी लज्जापूर्वक नलिनिका को देखती है]

नलिनिका : राजकुमार, उठिए-उठिए, राजकुमारी कह रही हैं।

अविमारक : बहुत अच्छा। (उठता है)

[धात्री का प्रवेश]

धात्री : राजकुमार की जय हो।

अविमारक : अहा! तुम हो?

धात्री : नलिनिके, भीतर के मण्डप में सेज रच दी गयी है। राजकुमारी और राजकुमार को वहीं ले जाओ।

नलिनिका : अच्छा (धात्री जाती है)

नलिनिका : राजकुमार, राजकुमारी के साथ भीतर पधारिए!

अविमारक : तुम भी ऐसे ही सैकड़ों प्रिय वचन सुनो।

[हाथ से कुरंगी का हाथ पकड़कर उठता है]

नलिनिका : कुमार, आइए, आइए।

अविमारक : हम लोग आते हैं। (दोनों चलते हैं)

अविमारक : (सहर्ष) आज मैं यौवन से उऋण हुआ—

दृष्टि सजल, विस्फुरित वक्ष है,
मैं निज करतल जहाँ धरे,
श्रोणि-भाग पर भार अधिक है
चरण जड़ित-से स्वेद भरे।
यही हमारी सप्तपदी है,
सफल योजना आज अहो?
मुझ सा धन्य कौन, इस निशि का
यदि युग युग तक अन्त न हो।

[सब जाते हैं]

चतुर्थ अंक

[हाथ में चँगेर लिए मागधिका का प्रवेश]

मागधिका : परिजन बड़े प्रमादी हैं। सूर्योदय हो गया है, तो भी प्रासाद की

झाड़-पोंछ नहीं की गयी। गोष्ठी-जनों का कोलाहल भी नहीं सुनाई पड़ता। बात क्या है? रात भर जागने से सबेरे तक सोना ही पड़ता है। तब तक राजकुमारी को जगाऊँ।

[पंखा लिए विलासिनी का प्रवेश]

विलासिनी : मागधिके, ठहर ठहर।

मागधिका : सखी, मुझे न रोक। मैं राजकुमारी के लिए फूल-चन्दन लायी हूँ।

विलासिनी : राजकुमारी के लिए फूल-चन्दन अथवा अलंकारों की क्या आवश्यकता है?

मागधिका : अरी अविनीते, अमंगल वचन क्यों कहती है? राजकुमारी सदा अलंकृत हों।

विलासिनी : मेरे कहने का यह आशय नहीं था। मैं तो यह कहती थी कि राजकुमारी का रूप ही उनका अलंकार है।

मागधिका : अरी पगली, फूलों को भी तो सुवासित किया जाता है।

विलासिनी : यह ठीक है। जो सहज ही रमणीय होते हैं, मण्डित होकर वे और भी रमणीय हो जाते हैं।

मागधिका : राजकुमारी को अपने अनुरूप प्रिय मिल गये हैं।

विलासिनी : पक्षपात रहने दे। राजकुमार के समीप राजकुमारी पद्मिनी-सी दिखाई देती है।

मागधिका : तूने ठीक कहा। मैं भी यही सोचती हूँ कि कामदेव सशरीर हो तो ऐसा ही होगा।

विलासिनी : तभी तो राजकुमारी उनके बिना क्षण भर नहीं रह सकती।

[रोती हुई नलिनिका का प्रवेश]

नलिनिका : **(सशोक)** यह कहावत ठीक ही है कि सुख में बहुत से विघ्न आते हैं। एक वर्ष हुआ, राजकुमारी ने अविच्छिन्न सुख-भोग किया। अब हम लोगों के लिए 'उत्तर कुरुवास' का समय आ गया है। सुना है, आज महाराज को इन सब बातों का पता लग गया है। यह सुनकर तो मेरे शरीर में रक्त ही नहीं रहा। राजकुमारी तो भय, लज्जा, दुःख और सन्ताप से मूर्च्छित-सी हो रही हैं। यह प्रासाद ऐसा जान पड़ता है मानो इसके दीप निर्वापित हो गये हैं। राजकुमार के बिना मुझे भी कुछ नहीं सुहाता। वे यहाँ से निर्विघ्न निकल गये हैं, यह सुनकर फिर भी कुछ सन्तोष होता है। इस समय कन्यान्तःपुर के चारों ओर कड़ा पहरा है। **(घूमकर)** ये दो सखियाँ आ रही हैं। मागधिके, क्या बात है?

मागधिका : सखी, क्या पूछती हो। राजकुमारी के शृंगार का समय हो गया है।

नलिनिका : उत्सव तो पूरा हो गया है। (रोती है)

मागधिका और विलासनी : यह स्वप्न की-सी बात कैसी ? बता, बता, सुनकर हम सब समान हो जाएँ।

नलिनिका : राजकुमार तो यहाँ से चले गये।

दोनों : ऐं!

नलिनिका : राजकुमारी का दुःख न देख सकने के कारण मैं यहाँ चली आयी हूँ।

मागधिका : निस्सन्देह राजकुमारी का दुःख नहीं देखा जा सकता। फिर भी चलो, भरसक हम उन्हें सान्त्वना दें।

नलिनिका और विलासनी : हाँ चलो।

(सब जाती हैं)

इति प्रवेशक

[अविमारक का प्रवेश]

अविमारक : (सशोक)

अन्तःपुर से तन बच निकला
शेष भाग्यवश किसी प्रकार,
प्रिया-रुद्ध मन वहीं रह गया,
मुझे न देख एक भी बार।

न जाने कुरंगी की क्या दशा होगी–

स्वजनों की बातों से लज्जित,
कठिन राजरोधन से त्रस्त,
मेरे बिना विवश रोती वह
होती होगी मूर्च्छा-ग्रस्त।

अहा, उपाय ध्यान में आ गया। राजकुमारी मेरे विरह में तो जी न सकेगी। मैं भी उसके लिए मरूँगा। (घूमकर)
कब से हमारा वियोग हो गया है। आज मन और शरीर के दुःख एक बार ही असह्य हो रहे हैं।

निश्चल प्रेम रूप गुण वाली
सुकुमारी वह धन्य, धन्य,
उसके बिना जियूँ क्षण भर तो
मुझ-सा कौन कृतघ्न अन्य?

इस समय ताप से दग्ध मुझे सहस्त्ररश्मि सूर्य भगवान् क्षार करने का उपक्रम कर रहे हैं। अहो निदाघ की भयंकरता!

जिसका रस पी गये भानु-कर

ज्वराक्रान्त-सी हुई मही!
क्षयक्षीण-से दाव-दग्ध द्रुम,
छाया भी अब कहाँ रही?
गुहा रूप मुख फैलाये गिरि
चिल्लाते-से हैं निरुपाय,
अन्तस्तल तक तप्त तपन से
मूर्च्छित-सी है जगती हाय!

इस समय क्या करूँ, चलने की भी शक्ति नहीं है। क्योंकि—

रुक्ष पवन सिकताग्नि चूर्ण मलता आता है,
शुष्क पत्र उड़ रहे स्वेद ढलता जाता है,
स्रवित हो रहा सूर्य दावानल से गल गल कर,
तपन-पाक से पक्व हो रहा है भूतल भर!

हा प्रिये! हा सुन्दरि! मुझे उत्तर दो।

(मूर्च्छित होता है फिर उठकर और दीर्घ निःश्वास लेकर ऊपर को देखता हुआ)

सूर्यभगवान् रुद्ध हो गये हैं। अथवा—

क्या विस्मय यदि छिपा रहे हैं
रवि को मेघ पवन के लाये,
मेरे मन का ताप बुझा दें,
तो मैं समझूँ—हाँ, ये छाये।

इस जीते जी मरने से क्या? मैं यह शरीर त्याग दूँ। **(उठकर घूमता है)**

कैसे त्यागूँ? अच्छा, यह उपाय है। इस वन के जलाशय में डूब मरूँ। धिक्कार है मेरे मरण के इस मार्ग को। अभिमान और मोह के कारण मैंने प्रशस्त मार्ग नहीं अपनाया। अब दूसरा यत्न करूँ। **(सामने देखकर)**

अच्छा, सम्मुख यह जो दावाग्नि जल रही है, इसी में अपनी आहुति दूँ। **(समीप जाकर)**

अग्निदेव यदि आप वस्तुतः
एकचित्त जन के हितकारी,
तो फिर जन्मान्तर में भी हो
मेरी ही वह मेरी प्यारी।

[अग्नि में प्रवेश करके कौतूहलपूर्वक]

यह क्या?

अग्नि दग्ध कर रहे द्रुमों को फैलाकर आतंक,
पर वे ही लगते हैं मुझको शीतल मलयज-पंक।
मुझ कामी को भी कृपालु हो अपनाते हैं भेंट,
पिता अंक में भर लेता है सुत को यथा समेट।

अहो! इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है कि अग्निदेव भी मुझे नहीं जलाते हैं अथवा इसमें भी कोई कारण होगा। अब अन्य उपाय करूँ। **(घूमकर)**

यह विशाल पर्वत है–

धरे शृंग ज्यों मिले हुए ये जलधर उन्नत,
विश्रामस्थल व्योमचारियों का यह अविरत।
कवि मति सदृश विचित्र, मित्र-संगम से प्रमुदित,
निष्फल जिसका वित्त, कृपण नृप-सा है गर्हित।

जो हो, इसी पहाड़ पर मैं प्राण-त्याग करूँ। मरुत्पात ही सर्वार्थसाधक है। तो इस पर चढ़ूँ। **(चढ़कर देखता हुआ)**

इस पर्वत पर भरे हुए पानी में स्नानाचमन करके मन्त्र जपूँ। **(वैसा ही करता है)**

[प्रिया के साथ विद्याधर का प्रवेश]

प्राक् सन्ध्या की उत्तर कुरु में
फिर मानस में स्नान किये।
मन्दराद्रि-कन्दरा-गृहों में
यौवन के आनन्द लिये।
लोचन ललचाये हिमगिरि पर
क्रीड़ा में रत होने को,
चले मलय-चन्दन-वन में हम
अब दुपहर भर सोने को।

[आकाशयान रोककर]

सौदामनि, देखो, देखो, पृथ्वी की आकृति दूर से देखने योग्य है।

दीख रहे गिरि करि-कलभों-से,
सागर क्रीड़ा के सर-से,
तरु शैवल-से हुए, छिपे हैं
निम्नस्थल भूतल पर से।
नदियाँ महि की सूक्ष्म माँग-सी,
जलकण-से प्रासाद बने,
जगती के सब दृश्य वाम-से

हुए सिमिट संक्षिप्त घने।

भद्रे, सावधान हो। हम लोग शीतल मलयाचल को चलते हैं।

सौदामनी : आर्य अब मैं विश्राम किये बिना न चल सकूँगी।

विद्याधर : तो किसी पर्वत पर मुहूर्त भर विश्राम करके चलेंगे।

सौदामनी : आर्य, मैं यही चाहती हूँ। **(दोनों उतरते हुए)**

विद्याधर : सौदामनि, देखो, देखो—

निकल रही है द्रुत घन-वन से
यह समुद्र-मुद्रा धरा।
नग बढ़ रहे उमड़ते घन-से,
अग-जग सभी हरा-भरा।

भद्रे, यह पर्वत मुहूर्त भर हमारा आतिथ्य करने को समर्थ जान पड़ता है। चलो, यहीं विश्राम करें।

सौदामनी : आर्य, यही करो।

विद्याधर : सौदामनि, पुष्पित वृक्षों का छठा भाग लेना हमारा धर्म है। चलो, इससे उन्हें उऋण कर दें।

सौदामनी : आर्ये, यह अच्छी बात है। **(फूल चुनते हैं)**

विद्याधर : **(अविमारक को देखकर)** अरे यह कौन है? आह! जान लिया, यह मन्त्रभ्रष्ट विद्याधर है। नहीं तो ऐसा रूप-सौन्दर्य और किसका हो सकता है? भाग्य से ही हमने इसे देख लिया है। आओ, हम इस विस्मृत स्वरूप से पूछें।

अविमारक : देव-कार्य से निवृत्त हो चुका हूँ। अब गिरूँ। **(पार्श्व में विद्याधर को देखकर)**

अरे, यह कौन है? अथवा क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ। मैं सोता तो नहीं? नहीं, समझ गया। अन्तकाल में मनुष्य क्या-क्या नहीं देखता? यह वही कुछ होगा, परन्तु यह तो अचेतों को होता है, मैं तो अब भी सचेत हूँ। अच्छा, इसी से पूछूँ। हे महानुभाव, आपने किस कुल को विभूषित किया है।

विद्याधर : मैं मेघनाद नाम का विद्याधर हूँ। यह सौदामनी नाम की मेरी गृहिणी है। आज भगवान् अगस्त्य की आराधना के लिए मलय पर्वत पर विद्याधरों ने उत्सव का आयोजन किया है। उसमें हमको भी बुलाया है। यहाँ क्षण भर विश्राम करने के लिए हम लोग उतरे हैं। यही हमारा वृत्तान्त है। आपने इस पृथ्वी को देवलोक के समान बनाने का कैसा कष्ट किया है?

अविमारक : (स्वगत) क्या कहूँ अन्त समय में झूठ कैसे बोलूँ?

(प्रकट) अजी, मैं सौवीर राजकुमार अविमारक हूँ।

विद्याधर : (स्वगत) यह झूठ है। इसकी आकृति मनुष्य जैसी नहीं है। (प्रकट) यहाँ आप अकेले किसलिए आये हैं?

अविमारक : (स्वगत) अब क्या कहूँ?

[मुँह नीचा करके मौन रह जाता है]

विद्याधर : (स्वगत) हो, मैं भी जान लूँगा। **(विद्या का प्रयोग करके)** हा! बड़े कष्ट की बात है। यह तो अग्निदेव का पुत्र है। अपने आपको नहीं जानता। कुन्तिभोज की कन्या कुरंगी पर अनुरक्त होकर यह उससे मिला था। लोगों के जान लेने पर वहाँ से चला आया है। फिर वहाँ जाने का उपाय न पाकर मरुत्प्रपात के द्वारा प्राणत्याग करने को उद्यत है। कुरंगी भी वहाँ जीते जी मर रही है। मैं इसकी सहायता करूँगा। (प्रकट)

सखे अविमारक, मैत्री निष्कपट होनी चाहिए। मेरे निकट कोई बात छिपाना उचित नहीं।

अविमारक : कौन-सी बात?

विद्याधर : आज से हमारा तुम्हारा सख्य भाव हुआ। तुम्हारी सब बातें हमने जान ली हैं। तुम प्राण छोड़ने के लिए यहाँ आये हो।

अविमारक : मित्र, यही बात है।

विद्याधर : तुम्हारी इस बात से मैं प्रसन्न हूँ। यदि बिना किसी के जाने वहाँ प्रवेश करने का उपाय हो जाय तो तुम क्या करोगे?

अविमारक : (सहर्ष) करूँगा क्या, सीधा वहाँ चला जाऊँगा। इसलिए तो मर रहा हूँ।

विद्याधर : तो मित्र, यह अँगूठी देखो।

अविमारक : मित्र, इससे क्या होगा?

विद्याधर : इस अँगूठी को दायीं अँगुली में पहनने से कोई भी अदृश्य हो जाता है। फिर बायीं अँगुली में पहनने से स्वाभाविक अवस्था प्राप्त हो जाती है।

अविमारक : मित्र, क्या ऐसा भी हो सकता है?

विद्याधर : देखो, मैं अभी तुम्हें दिखाता हूँ। क्या तुम मुझे देखते हो?

अविमारक : हाँ।

विद्याधर : अब देखो?

अविमारक : अच्छा।

विद्याधर : **(दायें हाथ की अँगुली में अँगूठी पहनता है)**

अविमारक : मित्र, अब तो तुम्हारी छाया भी नहीं दीखती, शरीर की तो बात

ही क्या है। अहा! लोक में वे ही जन सुखी हैं—

विचरते हैं व्योम में जो वल्लभा के संग,
लूटते हैं पर्वतों में सर्वतः रस-रंग।
मुक्त रहते हैं यथा रुचि प्रकट वा प्रच्छन्न,
जान लेते हैं सभी कुछ मन्त्रबल-सम्पन्न।

जो हो, इस उपाय से तो मैं अपने को प्रविष्ट हुआ ही-सा समझता हूँ।

विद्याधर : **(वायीं अँगुली में अँगूठी पहनकर)** तो इसे तुम स्वीकार करो। **(देता है)**

अविमारक : **(अँगूठी लेकर)** मैं अनुगृहीत हुआ।

विद्याधर : नहीं, नहीं, मैं ही अनुगृहीत हुआ। क्योंकि--

रत्न प्राप्त करके भी सज्जन
सुखी नहीं होते वैसे,
देकर वह निर्लोभ पात्र को
हर्षित होते हैं जैसे।

अविमारक : मुझे एक ही संशय है। मैं यह कैसे कहूँ कि इसकी परीक्षा मुझे भी करा दो?

विद्याधर : तो इसे अपनी दायीं अँगुली में पहनो।

अविमारक : बहुत अच्छा। **(वैसा ही करता है)**

विद्याधर : मित्र, यह तलवार लो।

अविमारक : अच्छा **(खड्ग लेकर सविस्मय)**

अन्य रूप में छिपा वज्र, वा
बिजली ही असि बन गयी,
वा रवि दीप्त दबाती वन में
उठी दवज्वाला नयी।

विद्याधर : अहो अग्निपुत्र का प्रभाव। इस खड्ग का तेज तो विद्याधरों में भी कोई ही सहन कर सकता है। साक्षात् भगवान् अग्निदेव इसकी रक्षा करते हैं।

अविमारक : **(खड्ग देखकर)** अहो भगवती विद्याओं का प्रभाव!

दिव्य शक्ति गुण पाये मैंने,
यद्यपि मैं हूँ स्वयं वही,
मुझे देखने की लोगों में,
अब क्या शक्ति विशेष रही?

मित्र, मेरा काम हो गया। तुम खड्ग ग्रहण करो।

विद्याधर : जैसी तुम्हारी इच्छा। इस अँगूठी के प्रभाव से अन्तर्हित मनुष्य जिसको छू ले वह भी अदृश्य हो जाता है।

अविमारक : मित्र, मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अभ्युदय पर अभ्युदय हो रहा है। मेरे लिए तुम्हें बड़ा विलम्ब हुआ। अतएव और विलम्ब करने के लिए कैसे कहूँ?

विद्याधर : तुम्हारा कार्य तो हो गया। मेरा क्या हुआ?

अविमारक : उसके लिए अधिक क्या कहूँ–

तुम-से कृतविद्यों का मुझ-सा
लघु जन क्या प्रतिहित साधे?
जीवन पाकर क्रीतदास यह
कैसे तुमको आराधे?

विद्याधर : मैं तुम्हारी निश्छल बुद्धि जानता हूँ, तुम मेरा कार्य करना चाहो तो–

स्वजनी से मेरी–इसकी भी–चर्चा कर कुछ कहना,
बीच बीच में हमें स्मरण कर बाट हेरते रहना।
राजकुमारी को क्रीड़ा-सुख देना न्यारे न्यारे,
योग्य कार्य के समय निकट ही मुझे समझना प्यारे।

हा! ऐसे पुरुष को छोड़ने को जी नहीं करता। मित्र, तो अब चलूँ।

अविमारक : पधारिए, फिर दर्शन देने के लिए।

विद्याधर : बहुत अच्छा, **(प्रिया के साथ ऊपर उठता है)**

अविमारक : यह मित्र मेघनाद गगन-समुद्र में तैरता है–

कच हिलते हैं, घुला जा रहा
सजल घनों से अंगराग,
कटि में है असि कसी, घिरा है
प्रिया-पाणि से मध्यभाग।
उत्तरीय उड़ रहा, लड़ रहे–
उडुगण से हैं मुकुटरत्न,
होता जाता है अदृश्य अब
यह विद्याधर सफल-यत्न।

विद्या के बल से इसकी वधू भी इसके साथ उड़ती जा रही है–

बिखर गये हैं केश वेग से
अलक वायु-वश भिन्न,
हिलने से उरोज-तट इसका
मध्यभाग हैं खिन्न।

छोड़ दिया है प्रिय के ऊपर
इसने अगला गात,
मेघ अंक में बिजली-सी यह
नभ में है प्रतिभात।

बन्धु मेघनाद गया, मैं भी अब नगर की ओर चलूँ। तो पहाड़ से उतरूँ। **(उतरकर)**

शरीर श्रान्त-सा हो रहा है। इस शिला तल पर क्षण भर विश्राम करके जाऊँगा। **(बैठता है)**

[विदूषक का प्रवेश]

विदूषक : परम प्रसिद्ध तत्रभवान् सौवीरराज का क्या ही दुर्भाग्य है। अपुत्रक राजा व्रतनियमों का पालन करके देवताओं के प्रसाद से मनुष्य लोक में दुर्लभ सत्पुत्र पाकर भी फिर उसी प्रकार अपुत्रक हो बैठे हैं। निश्चय मेरे ही मरने के लिए और बान्धवों के अभाग्य से कुमार न जाने कहाँ गये हैं। **(घूमकर)**

आज तत्रभवती महारानी ने कहा है कि कुमार सकुशल गये हैं। कौन कह सकता है कि कामातुर होकर भी वे अतिसुकुमार राजकुमार कुशलपूर्वक होंगे। मैं उनको अथवा उनके शरीर को सर्वत्र खोजता फिरता हूँ। यदि न पाऊँगा तो स्वयं भी उनके परलोक का साथी हूँगा। थककर मेरा शरीर चूर-चूर हो गया है। इस वृक्ष की छाया में क्षणभर विश्राम कर लूँ। **(लेटता है)**

अविमारक : न जाने इस समय सन्तुष्ट की क्या दशा होगी? मैं राजभवन से कुशलपूर्वक निकल आया हूँ, यह संवाद यदि उसने नहीं सुना तो दीन ब्राह्मण बड़ी विपत्ति में पड़ेगा। उसके बिना तो मेरा कोई काम ही नहीं हो सकता।

गोष्ठियों में हास्य है वह, समर में है शूर,
शोक में गुरु, शत्रुओं में साहसी भरपूर।
हृदय का मेरे महोत्सव, व्यर्थ और प्रलाप,
एक से दो हो गया है देह मेरा आप!

(सब ओर देखकर) अरे, यह छाया में कौन पथिक पड़ा है? **(पास जाकर)** धन्य मेरा भाग्य कि मेरा मित्र स्वयं मुझे मिल गया। इसे छाती से लगाने के लिए मेरा मन उमड़ रहा है।

विदूषक : **(उठकर)** मैं बहुत समय तक सोता रहा । अब चलूँ। भ्रष्ट-मनोरथ जनों को विश्राम क्या?

(घूमकर और अविमारक को देखकर) अरे, कुमार अविमारक तो

ये रहे!

अविमारक : यह वयस्य सन्तुष्ट ही है।

विदूषक : (बहुत हँसकर) हे मित्र, इतने समय तक तुम कहाँ क्या करते रहे?

अविमारक : मित्र, देखो यह करता रहा।

[अँगूठी दायें हाथ में पहनकर अन्तर्धान होता है]

विदूषक : हाय-हाय! यह क्या हुआ? कुमार कहाँ हैं जो दिखाई नहीं देते? उन्हीं की चिन्ता करते-करते मैं मानों उन्हीं को देखने लगा अथवा उन्हें प्रकट करके रहूँगा। मित्र, यदि तुम अपने को छिपाओ तो तुम्हें इस ब्राह्मण का शाप लगेगा।

अविमारक : मित्र, मैं तो यह हूँ।

विदूषक : कहाँ, कहाँ, किधर?

अविमारक : (**अँगूठी फिर बायीं अँगुली में पहनकर**) बन्धु, मैं यहीं तो हूँ।

विदूषक : पहले तुम केवल अविमारक थे। अब मायाविमारक हो गये। हे मायावी, इस युक्ति से प्रच्छन्न रहकर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्यान्तःपुर में क्यों नहीं आते जाते?

अविमारक : मित्र, यह शक्ति तो अभी मिली है।

विदूषक : आश्चर्य है, आश्चर्य है। ऐसी शक्ति तुमने कहाँ पायी?

अविमारक : अन्तःपुर में चलकर बताऊँगा।

विदूषक : इस समय तो तुम भूखे लग रहे हो?

अविमारक : मूर्ख, शीघ्र चल। परन्तु वहाँ कहीं मेरा हाथ न छोड़ देना।

विदूषक : आश्चर्य, आश्चर्य। मैं भी अदृश्य हो गया। मेरे शरीर है वा नहीं? अपने को जूठा कर लूँ, थू, थू।

अविमारक : मूर्ख, विलम्ब न कर। मेरा मन प्रिया के दर्शन के लिए आतुर हो रहा है। (**खींचता है**)

विदूषक : किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता।

अविमारक : चल, चल, भोजन के समय तुझे विश्वास करा दूँगा।

विदूषक : तनिक विश्राम करके चलेंगे।

अविमारक : कुरंगी क्या मुझे स्मरण करती है?

विदूषक : क्या वह नग्नान्धा श्रमणिका जीवित है?

अविमारक : मित्र, याचना करता हूँ, शीघ्र चल।

विदूषक : तुम क्यों समावर्तन समाप्त करने वाले बटुक की भाँति शीघ्रता कर रहे हो?

अविमारक : मूर्ख, इधर आ। (**खींचता है**)

विदूषक : खींचते क्यों हो? साथ ही तो दौड़ता चलता हूँ।

अविमारक : (**घूमकर**) यह नगर आ गया।

विदूषक : हाँ, नगर की शोभा दिखाई देती है।

अविमारक : यह राजभवन है—

वही राजगृह है यह, जिसमें
घुसा रात में मैं सातंक,
स्वजनों में पटुजन-सा उसमें
अब दिन में जा रहा अशंक।

(**घूमकर**) जान पड़ता है, इस समय कुरंगी स्नान करके भीतर बैठी होगी।

विदूषक : जहाँ चलना हो चलो, परन्तु भोजन का समय बीता जाता है।

अविमारक : आ, भीतर चलें। (**प्रवेश करके**)

जिस गृह में हम प्रथम रहे आनन्द से,
आये फिर कृतकृत्य वहाँ स्वच्छन्द-से।

[सब जाते हैं]

पंचम अंक

[कुरंगी और नलिनिका का प्रवेश]

नलिनिका : राजकुमारी सन्ताप रहने दें। प्रासाद के ऊपर चलकर जी बहलाएँ।

कुरंगी : क्या तूने मेरे मन की बात जान ली? न जानने वाले परिजनों ने वर्षा ऋतु में भले लगने वाले बकुल, सरल, सर्ज, अर्जुन, कदम्ब, अशोक आदि के परम सुगन्धित फूल यहाँ लाकर मुझे पागल-सा बना दिया है। तिस पर ये मयूर प्रासाद पर पीठ-मर्द का भाव धारण किये हैं। ये मुझसे परिपालित होकर भी देश-काल का विचार किये बिना ही अपनी योग्यता दिखाने चले हैं। शुक-सारिकाओं ने भी अपने व्याख्यान आरम्भ कर दिये हैं। मेरा दुःख न जानकर भूतिक मन्त्री की सारिका भी कहती है कि सारा लोक-वृत्तान्त सुनाऊँगी। मेरे परिजन मेरा समाचार लेने के लिए आ आकर मानों मेरे वध का उपक्रम कर रहे हैं। इसी से इच्छा होती है, कि कुछ समय प्रासाद के ऊपर जाकर बैठूँ।

नलिनिका : राजकुमारी की जो इच्छा। (**दोनों आरोहण करती हैं**)

कुरंगी : अरी, यहाँ भी अनर्थ उपस्थित हुआ। विद्युद्दीप लेकर कालमेघ उठ रहे हैं।

नलिनिका : राजकुमारी उत्कंठित न हूजिए। देखिए, देखिए, नये मेघों में सूर्य छिप गया। अविरल जल-वृष्टि से आकाश दर्शनीय हो रहा है।

कुरंगी : देख रही हूँ।

[अविमारक तथा विदूषक का प्रवेश]

अविमारक : मित्र, तूने कुरंगी को देखा–

रोगवश कृश अंग इसके अग़र-चन्दन हीन,
त्यक्त हैं वर-वसन-भूषण, हाव-भाव विलीन।
पर मनोहर रूप इसका सहज ही निर्व्याज,
हेतुवर्जित वेद-श्रुति-सी लग रही यह आज।

विदूषक : मित्र, मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हें अपने रूप का बहुत गर्व था, इसने अपनी सहज सुन्दरता से तुम्हें हरा दिया। जान पड़ता है, यह तुम्हारे वियोग में दुबली हो गयी है। फिर भी यह तन्वी बालचन्द्र लेखा की भाँति आँखों को सुख देती है।

अविमारक : आज तो तू अति पण्डित की तरह बोल रहा है। बात क्या है?

विदूषक : मैं सदा तुम्हारे साथ रहता हूँ। तभी तुम अति परिचय के कारण मेरी हँसी करते हो। जो मेरी बुद्धि को नहीं जानते, वे नये जन मेरी बड़ी प्रशंसा करते हैं। इसलिए मैं भी इस नगर में लोगों से बहुत नहीं मिलता-जुलता।

अविमारक : उदासीनता रहने दे। बहुत जनों से घिरी रहने के कारण कान्ता को प्रबोध देने का अवसर मुझे नहीं मिला। आज प्रासाद पर ही उसे प्रबोध दूँगा। वह वहीं है।

विदूषक : तुमने ठीक कहा, चलो प्रासाद पर चलें।

अविमारक : मित्र, प्रासाद पर प्रयत्नपूर्वक चढ़ना पड़ता है, परन्तु आज हम लोग बिना कष्ट के ही वहाँ पहुँच जावेंगे।

विदूषक : यह तुमने अच्छा कहा, ऊपर चढ़ेंगे और कष्ट न होगा? क्या जूठा किये बिना खाना सम्भव है? मैं यहीं बैठता हूँ, तुम जाओ।

अविमारक : यदि मैं तुझे छोड़ दूँगा तो तू अदृश्य न रह सकेगा।

विदूषक : अरे, यह तो मैं भूल ही गया। भाई, तुम बीच बीच में मुझे स्मरण दिला दिया करो।

अविमारक : तो इधर आ। (चढ़कर देखता हुआ) मित्र, यह मेरी कान्ता शिलातल पर नलिनिका के साथ बैठी है–

वाम कर पर मलिन मुख रक्खे निपट निरुपाय,
सह नहीं पाती सुवर्षा-काल कामसहाय।
दृष्टि निश्चल-सी किये यह सोच में है लीन,
रोकने को अश्रु ऊपर देखती है दीन।

कुरंगी : (स्वगत) इस जीते हुए मरने से क्या लाभ? (प्रकट) नलिनिके, जा, मागधिका को बुला ला। मैं स्नान करूँगी।

नलिनिका : राजकुमारी को अकेली छोड़कर कैसे जाऊँ। यहाँ कोई नहीं है।

[हरिणिका का प्रवेश]

हरिणिका : राजकुमारी की जय हो। महारानी पूछती हैं, इस समय शिरोवेदना कैसी है? उन्होंने लगाने के लिए यह लेप भेजा है।

कुरंगी : नलिनिके, तू जा। जान पड़ता है, देव बरसने लगे। अभिनव मेघ जल से स्नान करने की मेरी इच्छा है। शीघ्र मेरे उपस्नान का आयोजन कर दे?

नलिनिका : राजकुमारी की जो आज्ञा।

अविमारक : इसका उद्देश्य क्या है?

कुरंगी : अरे, इधर तो आ।

नलिनिका : राजकुमारी, कहिए क्या आज्ञा है।

कुरंगी : क्या तेरा शरीर शीतल है?

नलिनिका : राजकुमारी, यह मैं नहीं जानती।

कुरंगी : अच्छा, तनिक मुझे अपना आलिंगन तो दे।

नलिनिका : जो आज्ञा। (आलिंगन)

कुरंगी : सखी, तेरा शरीर बड़ा शीतल और मनोहर है।

नलिनिका : मैं अनुगृहीत हुई।

कुरंगी : अहा! मेरा शरीर-दाह मानो मिट गया। (स्वगत)
सखी के प्रति प्रणय-प्रदर्शन हो गया। इसका आलिंगन भी पा लिया।
(प्रकट)
अब तू जा।

नलिनिका : जो आज्ञा। (जाती है)

हरिणिका : राजकुमारी! महारानी से क्या निवेदन कर दूँ?

कुरंगी : आज मेरे सब रोग दूर हो जावेंगे।

हरिणिका : महारानी पूछेंगी कि यह तूने कैसे जाना, तो क्या कहूँगी?

कुरंगी : इसी औषध के प्रभाव से अच्छी हो जाऊँगी।

हरिणिका : जो आज्ञा। (जाती है)

अविमारक : इसका उद्देश्य क्या है?

उष्ण साँस भर साश्रु दृष्टि से
चारों ओर निरखती है,
तन्वंगी क्या जाने क्या
करने की इच्छा रखती है।

कुरंगी : हो, अब इसी उत्तरीय से फाँसी लगाकर अपने जीवन का अन्त करूँ।

[उठकर वैसा ही करती हुई मेघगर्जन सुनकर]

हा! मुझे बचाओ, बचाओ।

अविमारक : मित्र, अब और उपेक्षा करना ठीक नहीं। **(बायीं अँगुली में अँगूठी पहनकर)**

प्रिये, भय नहीं, भय नहीं। **(कुरंगी को पकड़कर उठाता है)**

कुरंगी : **(सहर्ष)** यह क्या सत्य है? मैं मूढ़-सी हो रही हूँ।

अविमारक : प्रिये, शंका न करो। **(आलिंगन)**

कुरंगी : आश्चर्य है, एक ही क्षण में मेरे शरीर का सन्ताप मिट गया।

अविमारक : अहा!

चिरपरिचित भी मनोयोग से
अधिक सुखद है यह आश्लेष
जैसे साहस से पाने पर
बनती है रण-विजय विशेष।

विदूषक : ये दोनों रोने क्यों लगे? अब अधिक सन्ताप से क्या? अथवा क्या मैं भी रोने लगूँ? किन्तु मेरी आँखों से तो आँसू ही नहीं निकलता। जब मेरे पिता का देहान्त हुआ था तब जैसे तैसे मैंने कुछ रोने की चेष्टा की थी। किन्तु मैं एक भी आँसू न निकाल सका। दूसरे के सन्ताप की बात ही क्या। तथापि जैसे बने रोना ही पड़ेगा।

अविमारक : स्नेह का नाम ही निश्छलता है।

दोष न दे तू मुझे, उचित है
क्या यों ही उपहास कहीं?
कार्य-सिद्धि में अज्ञ-विज्ञ के
वपु समान है, बुद्धि नहीं।

[नलिनिका का प्रवेश]

नलिनिका : हरिणिके, हरिणिके, द्वार क्यों बन्द है? हाय-हाय! द्वार बन्द करके जान पड़ता है, राजकुमारी सब सन्ताप दूर कर रही हैं। हरिणिके, हरिणिके, हाय हाय! जान पड़ता है, वही हुआ।

अविमारक : जान पड़ता है नलिनिका बोल रही है। मित्र, द्वार खोल दे।

विदूषक : जो आज्ञा। **(द्वार खोलकर)** पधारिए।

नलिनिका : दैया रे! यह कौन पुरुष है?

विदूषक : तूने ठीक समझा, धन्य है राजकुल की विशेषता। नहीं तो कौन मुझे देखकर पुरुष कह सकता है। मैं तो स्त्री हूँ।

अविमारक : नलिनिके, आ।
नलिनिका : क्या कुमार हैं? कुमार! मैं प्रणाम करती हूँ। कहिए यह कौन है?
विदूषक : मैं पुष्करिणी नाम की दासी हूँ।
अविमारक : हम जिस सन्तुष्ट की बातें किया करते थे, यह वही ब्राह्मण है।
नलिनिका : हाँ, हाँ, इसे मैंने नगर में पहले देखा था।
विदूषक : अरी, मैं यज्ञोपवीत से ब्राह्मण हूँ, गैरिक वस्त्र पहन लूँ तो संन्यासी, यदि वस्त्र दूर कर दूँ तो श्रमणक। यह तेरे हाथ में क्या है?
नलिनिका : राजकुमारी के लिए उबटन।
विदूषक : अरी इससे क्या होगा? देखती नहीं, ये तो भूख के मारे रो रहे हैं और तू उबटन लिए फिरती है। जा, शीघ्र भोजन ले आ। पहले मैं उसे चखकर देखूँगा।
नलिनिका : दुर्ब्राह्मण ऐसी अवस्था में भी भोजन की चिन्ता करता है। ठहर। राजकुमार, दिन के समय राजमार्ग में लोग आते जाते रहते हैं। आप यहाँ किस प्रकार आ सके?
अविमारक : सन्तुष्ट तुझे सब सुनायेगा।
नलिनिका : ये तो मुझे आदर के वचनों से यहाँ से हटाना चाहते हैं। जो हो, इसे लेकर और चतुःशाल में जाकर परिजनों के साथ सारी बात सुनूँगी।
आ ब्राह्मण, आ। **(खींचती है)**
विदूषक : दुहाई है, मुझे छोड़ दे, छोड़ दे।
कुरंगी : यह ब्राह्मण बड़ा हँसोड़ है।
अविमारक : मित्र, तू बड़ा हँसोड़ है।
विदूषक : कौन मुझसे ऐसी अश्रद्धा की बात कहता है? मैं हँसोड़ नहीं। श्रीमती कुरंगी ही हँसोड़ हैं, जो अपनी अवस्था जानकर कुछ करना चाहती थीं, परन्तु मेघ का शब्द सुनकर सब कुछ भूल गयीं और गिर पड़ीं।
कुरंगी : अरे, क्या इन्होंने यह सब देख लिया है?
नलिनिका : हे ब्राह्मण, मैं प्रार्थना करती हूँ कि इधर आ।
विदूषक : यदि भोजन करावे तो चलूँ। अतिथि जन को पहले भोजन कराना चाहिए।
नलिनिका : आ, आ। मैं तुझे अपने सब गहने दूँगी।
विदूषक : घी की बातें कहने से पित्त शान्त नहीं होता। पहले मेरे हाथ पर रख दे।
नलिनिका : यही सही। **(गहने उतारकर देती है)**
विदूषक : अब सुन।

नलिनिका : अरे मूर्ख ब्राह्मण, चतुःशाल में चल। वहीं सब के साथ सुनूँगी।

विदूषक : अच्छा, राजकुमारी से पूछकर चलूँगा।

नलिनिका : कैसा है तू? मेरे सब गहने लेकर मेरा वल्लभ बन गया है। इधर आ। **(खींचती है)**

विदूषक : अरी ऐसा न कर, मैं बहुत सुकुमार हूँ।

नलिनिका : तेरी सुकुमारता मैं जानती हूँ। यदि सुकुमार है तो शीघ्र आ।

विदूषक : चल। **(दोनों जाते हैं)**

अविमारक : प्रिये, देखो, देखो। वर्षा के ये वल्लभ श्यामल जलद कैसे दर्शनीय हैं।

वर्षा के उद्घोषक आये,
उमड़ घुमड़ घन छाये!
पय से पूर्ण इन्द्र की गायें, ऋतु की आर्द्र जटाएँ,
गिरी यवनिकाएँ अम्बर की हैं ये घिरी घटाएँ!
निज में नखत छिपाये।
उमड़-घुमड़ घन छाये!
ये वाल्मीक तडिद्व्याली के, हैं क्षुप-गुल्म गगन के,
काम-बाण-पाषाण-शाण ये, घट हैं गिरि-सिंचन के!
शुभ सब ओर सुहाये।
उमड़-घुमड़ घन छाये!
पति-पत्नी के प्रणय-कलह के कुशल सन्धि-साधक हैं,
भिड़े कपाट सूर्य-शशि के ये, जलनिधि के याचक हैं।
प्रपायन्त्र सुर लाये।
उमड़-घुमड़ घन छाये!

कुरंगी : आर्य पुत्र, सचमुच ये ऐसे ही दर्शनीय हैं।

अविमारक : आहा! जल धाराओं की कैसी विपुलता और विरलता है।

मेघ व्योम-वारिधि तरंग-से
गरज रहे गम्भीर,
मेघों के प्रोह जैसा ही
गिरता है शुचि नीर।
राक्षसियों के भृकुटि-भंग-सा
है चपला का रंग,
यौवन के आनन्द-लाभ का
लो, आ गया प्रसंग!

कुरंगी : आर्यपुत्र, वर्षा होने लगी।

अविमारक : प्रिये, चलो, भीतर चलें।
कुरंगी : (सहर्ष) जो आज्ञा।

[सब जाते हैं]

षष्ठ अंक

[धात्री का प्रवेश]

धात्री : दैव, कैसा अनिश्चित है! महाराज और सौवीरराज ने कुमार विष्णुसेन के साथ हमारी राजकुमारी का विवाह निश्चित किया था। इस बीच जिसकी सम्भावना न थी, ऐसे किसी देव-दुर्लभ रूप गुण सम्पन्न युवक से राजकुमारी का मिलन हुआ। अब काशिराज के पुत्र जयवर्मा को महारानी सुदर्शना के साथ अमात्य भूतिक ले आये हैं। काशिराज यज्ञ निरत होने से स्वयं न आ सके। न जाने अब क्या होगा?

[वसुमित्रा का प्रवेश]

वसुमित्रा : हमारे दैवज्ञ भी विलक्षण बुद्धि वाले हैं! वे केवल नक्षत्र विशेष ही देखते हैं। कार्य का गौरव नहीं जानते। आज ही कुमार जयवर्मा आये हैं और आज ही इन पण्डितों ने विवाह निश्चित कर दिया! (घूमकर)
यह जयदा धात्री कुछ चिन्ता करती हुई उदास-सी दिखाई देती है। जयदे, महारानी तुम्हें बुला रही हैं।

धात्री : सखी, तू जानती है, उन्होंने मुझे किसलिए बुलाया है?
वसुमित्रा : और क्या, वर्तमान विषय का ही विचार करके कर्तव्य निश्चित करने के लिए।
धात्री : स्वयं महारानी का क्या अभिप्राय है?
वसुमित्रा : अपने कुल में उत्पन्न हुए विष्णुसेन की अवस्था जाने बिना कुमार जयवर्मा के साथ राजकुमारी का विवाह वे नहीं करना चाहतीं। राजकुमार का समाचार न पाकर महाराज इस समय बहुत दुखी हैं।

[नलिनिका का प्रवेश]

नलिनिका : इस समय हम लोग सब संकटों के संकेत-स्थल-से हो रहे हैं। (घमूकर देखती हुई)
यह वसुमित्रा के साथ मेरी माँ क्या सोच-विचार कर रही है। उसके समीप जाकर सुनूँ, क्या समाचार है।

वसुमित्रा : अरी नलिनिका, इधर आ। तू कंचुकी के समीप रहने से राजकुल की सब बातें भली-भाँति जानती है।

नलिनिका : नया समाचार है। वही बताने के लिए आयी हूँ।

वसुमित्रा : बता बेटी!

नलिनिका : सौवीरराज के मन्त्रियों ने दूत भेजा है कि हमारे स्वामी महारानी और कुमार के सहित आपके नगर में प्रच्छन्न वास कर रहे हैं। हमारे गुप्तचर के द्वारा आप सब वृत्तान्त जान सकेंगे।

दोनों : यहाँ प्रच्छन्न वास कर रहे हैं? फिर, फिर?

नलिनिका : यह सुनकर स्वयं महाराज भूतिक के साथ उन्हें खोजने गये हैं।

धात्री : न जाने क्या होगा?

वसुमित्रा : नलिनिका, अब तू अन्तःपुर में जा।

नलिनिका : जो आज्ञा। **(जाती है)**

वसुमित्रा : आओ, हम महारानी के निकट चलें।

धात्री : चलो। **(जाती हैं)**

इति प्रवेशक

[कुन्तिभोज, भूतिक और सौवीरराज का प्रवेश]

कुन्तिभोज :
बहुत दिनों में मिले मित्र, यों मुख न निहारो,
आओ, भेटो मुझे, बाल्य बन्धुत्व विचारो।
तुम्हें देखता रहूँ सदा, कर रहा यही मन,
आज नया-सा हुआ हमारा प्रेम पुरातन।

सौवीरराज : जैसी तुम्हारी इच्छा। **(आलिंगन करता है)**

कुन्तिभोज :
मति चिन्ताकुल, वाणी गद्गद,
नयन अश्रुमय, वन विषण्ण,
हर्ष-समय ऐसा विषाद क्यों?
तुम क्यों होते नहीं प्रसन्न?

सौवीरराज : तुमसे मिलकर प्रसन्न होने का कहना ही क्या? परन्तु पुत्रस्नेह बड़ा बलवान् होता है।
घुटता रहता था सदा जो मेरा सुत-शोक,
फूट पड़ा है आज वह तात, तुम्हें अवलोक।

कुन्तिभोज : कैसा पुत्र-शोक?

भूतिक : महाराज! आज एक वर्ष से कुमार का पता नहीं है?

सौवीरराज : सखे, मैं क्या कहूँ।
सता रही है चिन्ता मुझको
अनुपम पुत्र-वियोग जन्य,

पाता वह पद-धूलि तुम्हारी
तो मुझ-सा था कौन धन्य?

भूतिक : (स्वगत) कुमार के बिना इन्हें बड़ा दुःख है। इसे कैसे दूर करूँ? (प्रकट)
यह विपत्ति आयी कैसे?

कुन्तिभोज : मैं भी यही पूछना चाहता था।

सौवीरराज : कहता हूँ, अथवा भूतिक को सब ज्ञात है। फिर भी हमारे मुँह से सुनना चाहते हैं।

कुन्तिभोज : हम सावधान हैं।

सौवीरराज : चण्डभार्गव नाम के अत्यन्त क्रोधी महर्षि प्रसिद्ध हैं।

कुन्तिभोज : उन तपोनिधि का नाम मैंने सुना है।

सौवीरराज : वे हमारे राज्य में आये थे। वन में अचानक व्याघ्र ने उनके शिष्य को मार डाला।

कुन्तिभोज : फिर, फिर?

सौवीरराज : मैं भी उसी समय आखेट करता हुआ वहाँ जा पहुँचा।

कुन्तिभोज : तब?

सौवीरराज : मुझे देखते ही उनका क्रोध भड़क उठा। भौंहें टेढ़ी हो गयीं, मुँह लाल हो गया, जटाएँ खुल गयीं, शिष्य के ऊपर हाथ रक्खे क्रोध से जलते हुए-से, मेरी कुछ न सुनकर, क्रोध के कारण स्खलित वचनों के द्वारा वे मेरी भर्त्सना करने लगे।

कुन्तिभोज : फिर, फिर?

सौवीरराज : तब मैं भी भवितव्यता की प्रबलता से अधीर होकर क्रोधपूर्वक कह बैठा—

दोष बताये बिना निरन्तर
व्यर्थ रोष कर रहे कराल,
निश्चय तप के योग्य नहीं हो
तुम ब्रह्मर्षि रूप चाण्डाल!

कुन्तिभोज : यह कहना अनुचित था।

सौवीरराज : यह सुनकर घी की आहुति पड़े हुए अग्निदेव के समान उनके अंगार के से नेत्र प्रज्वलित हो उठे। बार-बार सिर हिलाकर क्या, क्या कहते हुए वे मुझे शाप देने लगे—

कह रहा चाण्डाल मुझ ब्रह्मर्षि को तू नष्ट!
तो स्वयं सुत-दार युत चाण्डाल ही हो भ्रष्ट!

कुन्तिभोज : हाय! छोटी-सी बात को लेकर कितना बड़ा अनर्थ हुआ।

भूतिक : मैं तो यही कहूँगा कि सौवीरराज-कुल बड़ा भाग्यवान् है। क्योंकि—

दिया श्वपच होने का ऋषि ने
जिस प्रकोप वश शाप,
भस्म न किया उन्होंने उससे,
कटा सहज ही पाप।

कुन्तिभोज : तुमने ठीक कहा। फिर क्या हुआ?

सौवीरराज : फिर उनके शाप से व्याकुल होकर मैंने उनसे बहुत-बहुत प्रार्थना की, तब धीरे-धीरे शान्त होकर उन्होंने दयापूर्वक कहा—

एक वर्ष रहो कहीं छिपकर सुजन संयुक्त,
अन्त में होगे हमारे शाप से तुम मुक्त।

ऐसा कहकर प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने पुकारा—

काश्यप, आओ। उनके इतना कहते ही बाघ से मारा गया उनका शिष्य फिर जी उठा और उनके पीछे-पीछे चला गया। मैंने भी चाण्डाल का व्रत लेकर प्रच्छन्न भाव से एक वर्ष बिता दिया। इस समय मैं शाप मुक्त हूँ।

कुन्तिभोज : अद्‌भुत है आपत्ति की यह प्रवृत्ति और निवृत्ति! अत्यन्त हर्ष की बात है कि अब आपकी फिर वृद्धि हुई।

भूतिक : महाराज की जय हो।

कुन्तिभोज : क्या विष्णुसेन की माता परिकर समेत अन्तःपुर में पहुँच गयीं?

भूतिक : वे अन्तःपुर में जाकर बहुत दिनों के सोये हुए प्रेम को जगा रही हैं।

कुन्तिभोज : विष्णुसेन अविमारक कैसे हुआ?

भूतिक : सुनिए, धूमकेतु नाम का एक दैत्य था। वह सबको मारने के लिए घूमता हुआ सौवीरराज्य को नष्ट करने में प्रवृत्त हुआ।

कुन्तिभोज : अपूर्व कथा है, तब?

भूतिक : तब सब जानकर धरती की धूल से धूसर लम्बे काकपक्ष धारण किये, समान वय वाले बालकों के साथ क्रीड़ा करते हुए, दैवयोग से रक्षकों के प्रमाद के कारण, कुमार विष्णुसेन वहाँ जा पहुँचे, जहाँ वह राक्षस था।

कुन्तिभोज : अहो! आश्चर्य है। फिर, फिर?

भूतिक : तब वह राक्षस प्रीतिपूर्वक सुसम्पन्न आहार के समान कुमार को देखकर अपने कर्म में प्रवृत्त हुआ।

कुन्तिभोज : ओह राक्षस की क्रूरता! फिर?

भूतिक : तब कुमार ने कुछ हँसकर

जैसे गिरि को वज्र, विपिन को
दावानल करता है क्षार,
अस्त्र बिना वैसे कुमार ने
किया दुष्ट दानव-संहार।

कुन्तिभोज : मैंने हस्ति सम्भ्रम के दिन ही कह दिया था कि दैवयोग से उत्पन्न यह युवक सामान्य मनुष्य नहीं है।

सौवीरराज : तुमने सहस्रनेत्र चरों के द्वारा अविमारक का कुछ पता पाया है?

भूतिक : जहाँ जहाँ जाया जा सकता है, वहाँ-वहाँ मैंने चरों के द्वारा खोज करा ली है, परन्तु कुमार का पता नहीं चला।

जा सकते थे जहाँ-जहाँ चर
गये, कुमार मिले नहीं,
लगता है, मायाश्रित होकर
छिपे-छिपे रह गये कहीं।

[नारद का प्रवेश]

नारद :

वेद-पाठ से, गीत-वाद्य से
मुझ पर तीनों देव प्रसन्न,
कल स्वरों के संग कलह भी
कर देता हूँ मैं उत्पन्न।

कुन्तिभोज का पिता मुझ पर बड़ी भक्ति रखता था। कुन्तिभोज भी मनुष्य जन्म पाने के समय से भृत्य की भाँति मेरे साथ व्यवहार करता है। आज अविमारक के बिना कुन्तिभोज और सौवीरराज संकट में पड़े हैं। मैं अविमारक से मिलाकर इनका कष्ट मिटाने के लिए ही यहाँ आया हूँ।

[कुन्तिभोज और सौवीरराज के सामने उपस्थित होते हैं]

कुन्तिभोज : अहा! ये तो देवर्षि भगवान् नारद हैं। भगवन्, प्रणाम करता हूँ।

नारद : स्वस्तिरस्तु!

कुन्तिभोज : मैं अनुगृहीत हुआ।

सौवीरराज : भगवन् प्रणाम करता हूँ।

नारद : शान्तिरस्तु।

सौवीरराज : मैं अनुगृहीत हुआ।

कुन्तिभोज : **(भूतिक के कान में)** ऐसा करो।

भूतिक : जो आज्ञा। **(जाकर और आकर)** यह अर्घ्य और पाद्य उपस्थित है।

कुन्तिभोज : भगवन् अनुग्रह कीजिए।

नारद : तथास्तु।

कुन्तिभोज : (पूजन करके) भगवन्, आपके पधारने से मेरा घर पवित्र हो गया।

सौवीरराज : देवर्षि के दर्शन से मेरा शाप छूट गया।

नारद : इस समय मैं तुम्हें देखने के लिए ही नहीं आया हूँ। अविमारक के अदर्शन से उत्पन्न तुम्हारा कष्ट जानकर ही अवतीर्ण हुआ हूँ।

दोनों : ऐसा है तो हम दोनों का सन्ताप मिट गया।

नारद : भूतिक! सुदर्शना को बुला लाओ।

भूतिक : जो आज्ञा। **(जाकर सुदर्शना के साथ आता है)**

सुदर्शना : देवर्षि पधारे हैं?

भूतिक : जी हाँ।

सुदर्शना : मेरे पुत्र का विवाह सार्थक हुआ। भगवन् प्रणाम करती हूँ।

नारद :

भाग्य शालिनी, नित्य निरन्तर
बढ़ती रहे तुम्हारी प्रीति,
और तुम्हारे प्रिय पति की भी
हो ऐसी ही प्रीति-प्रतीति।

सुदर्शना : मैं अनुगृहीत हूँ।

नारद : अब जो पूछना चाहो, पूछो।

दोनों : हम अनुगृहीत हुए।

कुन्तिभोज : भगवन् क्या सौवीरराज-कुमार जीवित हैं?

नारद : हाँ।

सौवीरराज : फिर वह दिखाई क्यों नहीं देता?

नारद : विवाह में आसक्त होने के कारण।

सौवीरराज : क्या कुमार ने विवाह कर लिया?

कुन्तिभोज : कहाँ विवाह किया?

नारद : वैरन्त्य नगर में।

कुन्तिभोज : वैरन्त्य नगर भी है? हो, वह किसका जामाता हुआ है?

नारद : कुन्तिभोज का।

कुन्तिभोज : कुन्तिभोज का? वह कौन है?

नारद :

राजा दुर्योधन के जात,
पिता कुरंगी के प्रख्यात,
कुन्तिभोज वह तुम्हीं महीप,
निज वैरन्त्य नगर के दीप।

कुन्तिभोज : बहुत प्रश्न करने से क्या? मेरी पुत्री कुरंगी के साथी उसका विवाह

हुआ है, यही न?

नारद : यही।

कुन्तिभोज : यह सुनकर। मैं लज्जित-सा हूँ। किसने सम्प्रदान किया, कब किया और कैसे कुमार अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ?

नारद : *निश्चित ही विधि का विधान था,*
गज-सम्भ्रम में दृष्ट हुआ,
पहले बल से फिर माया से
कृती कुमार प्रविष्ट हुआ।

कुन्तिभोज : ऋषि-वाक्य प्रतिवाक्य के योग्य नहीं। ऐसा ही हो। भगवन्, अब कुमार और कुरंगी का उपयुक्त अवसर आ गया है, क्या उन दोनों का ब्याह किया जाये?

नारद : उनका गान्धर्व विवाह यथा समय हो चुका है।

कुन्तिभोज : मेरी इच्छा है कि अग्नि को साक्षी करके विवाह हो।

नारद : अग्निदेव सर्वदा साक्षी हैं। फिर भी स्वजनों के परितोषार्थ पुरोहित के द्वारा विधि पूरी कराकर शीघ्र ही कुमार को वधू के साथ ले आओ।

कुन्तिभोज : भगवन्, मैं अभी जाता हूँ।

नारद : तुम ठहरो। भूतिक, तुम जाओ।

भूतिक : जो आज्ञा। **(जाता है)**

कुन्तिभोज : भगवन्, कुछ निवेदन करना है।

नारद : यथेच्छ कहो।

कुन्तिभोज : भगवन्, सुदर्शना के पुत्र जयवर्मा को कुरंगी प्रदान करने के विचार से मैंने उसे यहाँ बुलाया है। कृपा कर कहिए, इस समय क्या कर्त्तव्य है?

नारद : सब ठीक किये देता हूँ। तुम मुहूर्त भर एकान्त में ठहरो।

कुन्तिभोज : जो आज्ञा। **(वैसा ही करता है)**

नारद : सुदर्शने, यहाँ आओ।

सुदर्शना : भगवन्, मैं उपस्थित हूँ।

नारद : मेरी बात सुनो।

सुदर्शना : मैंने सौवीरराज-पुत्र की गुण गाथा सुनी है।

नारद : ऐसा न कहो। तुम भूल गयी हो कि अग्नि से उत्पन्न अविमारक तुम्हारा ही ज्येष्ठ पुत्र है।

सुदर्शना : हूँ, भगवन्, यह भी जानते हैं!

नारद : मेरी आज्ञा का पालन करो।

सुदर्शना : जो आज्ञा। भगवन् आदेश दें।

नारद : अग्नि से उत्पन्न यह तुम्हारा ही पुत्र है। तुम्हारी बहिन सुचेतना का पुत्र प्रसवकाल में ही गत हो गया था। तब तुमने अपना यह पुत्र उसे दिया था। सौवीरराज ने भी अत्यन्त सन्तुष्ट होकर प्रेमानुरूप इसके शुभ संस्कार किये और इसका नाम विष्णुसेन रखा। देव स्वरूप विष्णुसेन बलवीर्य युक्त बढ़ने लगा। अवि रूपधारी असुर को मारने से अविमारक कहलाया। फिर ब्रह्म-शाप के कारण हीन दशा को प्राप्त हुआ। हस्ति-सम्भ्रम के दिन कुरंगी को देखकर उस पर अनुरक्त हुआ। उससे मिला। रक्षकों के जान लेने पर अग्निदेव से प्रच्छादित होकर वहाँ से निकल आया, परन्तु उसके वियोग में व्याकुल होकर मरने चला। पहले अग्नि में प्रविष्ट हुआ। अग्नि ने अपना पुत्र जानकर दग्ध नहीं किया। तब पहाड़ पर से गिरकर मरने की इच्छा से उस पर चढ़ा।

सुदर्शना : अहो अति हो गयी।

नारद : वहाँ किसी विद्याधर ने उसका रूप मात्र देखकर स्नेह-पूर्वक उसे एक अँगूठी दी जो दाहिनी अँगुली में पहनने से अदृश्य और बायीं में पहनने से प्रकृतिस्थ कर देती है।

सुदर्शना : आश्चर्य है, आश्चर्य है।

नारद : वही अँगूठी दाहिने हाथ में पहनकर वह अपने मित्र सन्तुष्ट के साथ अदृश्य भाव से अपने घर के समान पुनः राजप्रासाद में गया और वहाँ सुख भोग रहा है। यही बात है। अब क्या करना है।

सुदर्शना : बहिन से वंचित होकर मेरा मन अस्थिर है, किन्तु कौतूहल से आनन्दित भी है। भगवन् इधर कुरंगी जयवर्मा की भार्या के नाम से परिचित हो रही थी। आज से वह उसकी पूजनीया हुई।

नारद : तुमने श्रेष्ठजनों के समान ही बात कही है। तुम काशिराज से कहना कि कुरंगी जयवर्मा से बड़ी है। उसकी छोटी बहिन सुमित्रा से जयवर्मा का विवाह होगा।

सुदर्शना : ऋषि वचन शिरोधार्य है।

नारद : अब कुन्तिभोज के समीप जाओ।

सुदर्शना : जो आज्ञा।

[भूतिक और कुरंगी के साथ वर वेष में अविमारक का प्रवेश]

अविमारक : अहो! इस वृत्तान्त से मैं लज्जित-सा हूँ।

गज-सम्भ्रम के विक्रम से जो
करते थे मेरा जय घोष,

सहसा हीनचरित्र मानकर
देंगे वे ही मुझको दोष।

[घूमकर देखता हुआ]

अहा! ये भगवान् नारद हैं।
शाप और वर दोनों में ही
ये समर्थ हैं एक समान,
इनका कण्ठ इन्हीं का-सा है,
वेद-पाठ हो किंवा गान।
प्रेमि-जनों में कलह-सृष्टि कर
पहले ये रस लेते हैं,
किन्तु अन्त में उसे स्वयं ही
सहज शान्त कर देते हैं।

कुन्तिभोज : कुमार, आओ। अपने कुल-देव देवर्षि को प्रणाम करो।
अविमारक : भगवन्, प्रणाम करता हूँ।
नारद : सपत्नीक सुखी हो।
अविमारक : मैं अनुगृहीत हुआ। मातुल, प्रमाण करता हूँ।
कुन्तिभोज : आओ वत्स, आओ।
विप्रों को क्षमा से, आश्रितों को दया-दान से,
जीतो बल से परों को, अपने को ज्ञान से।
अविमारक : मैं अनुगृहीत हुआ।
कुन्तिभोज : वत्स, पिता को प्रणाम करो।
अविमारक : तात प्रणाम करता हूँ।
सौवीरराज : आओ बेटा, आओ।
देख तुम्हें वर-वेष में मैं ज्यों सुखी अनन्य,
नत निज सुत वर को निरख तुम भी हो त्यों धन्य।
पुत्र, मामा को प्रणाम करो।
अविमारक : मातुल, मैं प्रणाम करता हूँ।
कुन्तिभोज : आओ वत्स, आओ—
यज्ञों में रत इन्द्र सदृश हो,
सत्यव्रत दशरथ जैसे,
दया-दान में पिता तुल्य हो,
पौरुष में अपने ऐसे।
सौवीरराज : पुत्र सुदर्शना को प्रणाम करो।
कुन्तिभोज : पहले सुचेतना को प्रणाम किये बिना सुदर्शना को प्रणाम करना

ठीक नहीं।

नारद : कारण है, सुदर्शना को प्रणाम करो।

सौवीरराज और कुन्तिभोज : ऐसा ही करो।

अविमारक : माँ, मैं प्रणाम करता हूँ।

सुदर्शना : पुत्र, बहू के साथ चिरजीवी हो।

[आलिंगन करती है]

कितने दिनों में तुम्हें देखा है। आज मैंने पुत्र सुख का रस पाया है। **(रोती है)**

कुन्तिभोज :

देख रही जो सजल सकौतुक दृष्टि से,
अंचल जिनका आर्द्र दुग्ध की वृष्टि से,
ऐसा इनका मातृ रूप रख आड़ में,
रही धाय ही मम सुचेतना लाड़ में।

नारद : अतिस्नेह रहने दो। सुचेतना सुचेतना और सुदर्शना सुदर्शना पुत्र तथा बहू के साथ अन्तःपुर में जायँ।

कुन्तिभोज : जो भगवन् की आज्ञा।

सुदर्शना : जो भगवन् की आज्ञा।

नारद : सौवीरराज को शीघ्र अपने राज्य में जाने के लिए विदा करो। जय वर्मा को सुमित्रा का सम्प्रदान करो। तुम भी स्थिर हो।

कुन्तिभोज : मैं अनुगृहीत हुआ।

नारद : तुम्हारा और क्या प्रिय कार्य करूँ?

कुन्तिभोज : भगवन् यदि मुझ पर प्रसन्न हैं तो इससे अधिक क्या चाहूँ। गो ब्राह्मण सकुशल रहें प्रजा सदा फूले फले।

नारद : सौवीरराज तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ?

सौवीरराज : यदि भगवन् मुझसे प्रसन्न हैं तो इससे अधिक और क्या चाहूँ। नील जलधि वसना मही अपने नरपति से पले।

भरत वाक्य : *रज से रहित सुखी हो गो गण*
रहे सदा पर चक्र शान्त,
जगती का शासक हो अपना

□□

"उनकी आस्था उस गहराई तक पहुँच चुकी हैं जहाँ उसे दूसरों के विरोध की आँधी का भय नहीं रहा। परिणामतः उनमें उस सतर्कता का अभाव मिलेगा, जो दो भिन्न विचार वालों को नहीं मिलने देती। जीवन और साहित्य की दृष्टि से गुप्तजी और निराला एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। एक दिन अस्त-व्यस्त रहने वाले निराला जी से उन्होंने सहज भाव से कह दिया – 'हम इस बार आपके साथ ठहरेंगे।' तब अपने लिए असावधान निराला में नया घड़ा मंगवाकर गंगाजल लाने की सावधानी आ गयी। थोड़ी देर बात करने वाले भी जिनका रुख देखते रहते हैं, उन्हीं निराला से गुप्तजी आधीरात तक सुख-दुख की कथा कहते-सुनते रहे और उन्हें समझाते बुझाते रहे।"

- महादेवी वर्मा

दद्दा : संस्मरण
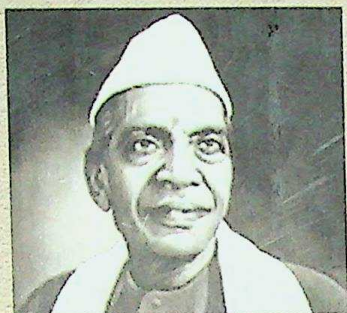
मैथिलीशरण गुप्त

[illegible] में अपूर्व योगदान। 'भारत भारती' के प्रकाशन से [illegible] को अपार बल मिला। तभी से 'राष्ट्रकवि' का विरुद नाम के साथ [illegible]। [illegible] गांधी ने उन्हें 'राष्ट्रकवि' नाम से सम्बोधित [illegible]। [illegible] कानून के अधीन जेल रहे। स्वाधीन भारत की संसद में [illegible] सदस्य। 'साहित्य वाचस्पति' और 'डी.लिट्.' (आगरा विश्वविद्यालय 1948) की [illegible] उपाधियों से सम्मानित। पद्मविभूषण 1954। प्रसिद्ध कवि सियारामशरण गुप्त के अग्रज। हिन्दी में रीतिवाद विरोधी अभियान में अग्रणी। भारतीय नवजागरण तथा आधुनिक स्वाधीनता-संग्राम को अभिव्यक्ति देनेवाले लोक कवि।

संपादक परिचय

कृष्णदत्त पालीवाल

जन्म : [illegible] मार्च, 1943, सिकंदपुर, जिला फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश।

सम्प्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफ़ेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष। जापान के तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़ में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर रहे। पत्रकारिता में निरन्तर सक्रिय।

पुरस्कार/सम्मान : हिन्दी अकादमी पुरस्कार 1986। दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन सम्मान 1964। तोक्यो विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय, जापान द्वारा प्रशस्ति 2002। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का राममनोहर लोहिया अतिविशिष्ट सम्मान 2005। सुब्रह्मण्यम भारती सम्मान 2005—केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा। साहित्यकार सम्मान 2006-2007, हिंदी अकादमी, दिल्ली। हिंदी भाषा एवं साहित्य में बहुमूल्य योगदान के लिए विश्व हिंदी सम्मान 2007—आठवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन, न्यूयॉर्क, अमेरिका।